स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-01 (N)
हिन्दी काव्य
(आदि काव्य, भक्ति काव्य एवं रीति काव्य)

प्रथम खण्ड : आदि काव्य
द्वितीय खण्ड : भक्ति काव्य-1 (निर्गुण काव्य)
तृतीय खण्ड : भक्ति काव्य-2 (सगुण काव्य)
चतुर्थ खण्ड : रीति काव्य

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

खंड

1

आदि काव्य

इकाई 1
पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप 1

इकाई 2
पृथ्वीराज रासो का काव्यत्व 17

इकाई 3
विद्यापति और उनका युग 28

इकाई 4
गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली 39

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

पाठ्यक्रम परिचय : हिंदी काव्य-1

एम.ए. हिंदी का पहला पाठ्यक्रम आपके सामने है। **इस पाठ्यक्रम में आदिकाव्य, भक्ति काव्य और** रीतिकाव्य को शामिल किया गया है। आदिकाव्य के अंतर्गत **पृथ्वीराज रासो** और **विद्यापति पदावली** का अध्ययन किया गया है। भक्ति काव्य के अंतर्गत **कबीर, जायसी, सूर, मीरां और तुलसी** की रचनाओं का अध्ययन किया गया है। रीतिकाव्य में **बिहारी, घनानंद और पद्माकर** की कविता को शामिल किया गया है।

इस पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए आपको निम्नलिखित मुद्रित सामग्रियाँ उपलब्ध कराई जाएँगी:

1. पाठ्यक्रम दर्शिका
2. इकाइयों के रूप में पाठ
3. पाठ्यपुस्तक
4. लेखों का संग्रह

इसके अलावा ऑडियो-वीडियो पाठ भी उपलब्ध कराया जाएगा।

इन सभी सामग्रियों के सहयोग से आपको अध्ययन करना होगा। **इस पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य** आदिकालीन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन प्रमुख रचनाओं का अध्ययन करना है। **यह कविता का** पर्चा है इसलिए इस पाठ्यक्रम में गद्य को शामिल नहीं किया गया है। **वैसे भी हमारे अध्ययन काल में** रची गई रचनाओं में कविता की ही प्रधानता रही है। **इस युग में गद्य की धारा अत्यंत क्षीण थी।**

इस पाठ्यक्रम में शामिल इकाइयों को चार खडों में विभाजित किया है। प्रत्येक खंड पुस्तकाकार में आपको उपलब्ध होगा। इनका ब्यौरा इस प्रकार है:

खंड-1 आदिकाव्य
इकाई-1 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप
इकाई-2 पृथ्वीराज रासो का काव्यत्व
इकाई-3 विद्यापति और उनका युग
इकाई-4 गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली

खंड-2 भक्ति काव्य-1 (निर्गुण काव्य)
इकाई-5 कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता
इकाई-6 कबीर का काव्य-शिल्प
इकाई-7 सूफ़ी मत और जायसी का पदमावत
इकाई-8 पदमावत में लोक परंपरा और लोक जीवन

खंड-3 भक्ति काव्य-2 (सगुण काव्य)
इकाई-9 भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर का महत्व
इकाई-10 सूरदास के काव्य में प्रेम
इकाई-11 मीरां का काव्य और समाज
इकाई-12 मीरां का काव्य सौंदर्य
इकाई-13 तुलसीदास के काव्य में युग संदर्भ
इकाई-14 एक कवि के रूप में तुलसीदास

खंड-4 रीति काव्य
इकाई-15 बिहारी के काव्य का महत्व
इकाई-16 घनानंद के काव्य में स्वच्छंद चेतना
इकाई-17 पद्माकर की कविता

जैसा कि हमने आपको बताया कि इस पाठ्यक्रम में आदिकालीन, **भक्तिकालीन और रीतिकालीन** प्रमुख काव्य ग्रंथों और कविताओं का अध्ययन किया गया है। आदिकाल के अंतर्गत **पृथ्वीराज रासो** और विद्यापति पदावली को अध्ययन के लिए चुना गया है। दूसरे खंड में निर्गुण काव्य के अंतर्गत कबीर की कविता और जायसी के 'पदमावत' का अध्ययन किया गया है। इसी प्रकार तीसरे खंड में सगुण काव्य के अंतर्गत **सूर, मीरां और तुलसी की कविता की विशेषताओं को परखा गया है।**

अंत में, खंड-4 में रीतिकाव्य के अंतर्गत **बिहारी, घनानंद** और **पद्माकर** की कविताओं का अध्ययन किया गया है।

आदिकाल और भक्तिकाल की प्रत्येक रचना या रचनाकार पर दो-दो इकाइयाँ तैयार की गई हैं। पहली इकाइयों में रचना या रचनाकार का सामान्य परिचय, युग और पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। दूसरी इकाइयों में काव्य विशेष का अध्ययन किया गया है। रीतिकाव्य के अंतर्गत तीन कवियों को शामिल किया गया है और इन तीनों रचनाकारों और उनकी रचना को केंद्र में रखकर एक-एक इकाई तैयार की गई है। इसमें रीतिकाल की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों - रीति सिद्ध (बिहारी), रीति मुक्त (घनानंद) और रीति बद्ध (पद्माकर) के एक-एक प्रतिनिधि कवि का अध्ययन किया गया है।

जैसा कि हम अनुरोध कर चुके हैं कि इन इकाइयों को पढ़ने से पहले आप एक बारे पाठ्यक्रम दर्शिका अवश्य पढ़ लें। इससे आपको इस पाठ्यक्रम को पढ़ने में मदद मिलेगी। इसके अलावा हम आपको एक पाठ्यपुस्तक भी उपलब्ध कराएँगे जिसमें पाठ्यक्रम में शामिल कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। इसके अलावा लेखों का एक संग्रह भी आपके लिए तैयार किया जा रहा है। इन सबके बारे में विस्तृत जानकारी आपको पाठ्यक्रम दर्शिका में मिलेगी।

पाठ्यक्रम परिचय : हिंदी काव्य-1

एम.ए. हिंदी का पहला पाठ्यक्रम आपके सामने है। **इस पाठ्यक्रम में आदिकाव्य, भक्ति काव्य और** रीतिकाव्य को शामिल किया गया है। आदिकाव्य के अंतर्गत **पृथ्वीराज रासो और विद्यापति पदावली** का अध्ययन किया गया है। भक्ति काव्य के अंतर्गत **कबीर, जायसी, सूर, मीरां और तुलसी** की रचनाओं का अध्ययन किया गया है। रीतिकाव्य में **बिहारी, घनानंद और पद्माकर की कविता को** शामिल किया गया है।

इस पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए आपको निम्नलिखित मुद्रित सामग्रियाँ उपलब्ध कराई जाएँगीः

1. पाठ्यक्रम दर्शिका
2. इकाइयों के रूप में पाठ
3. पाठ्यपुस्तक
4. लेखों का संग्रह

इसके अलावा ऑडियो-वीडियो पाठ भी उपलब्ध कराया जाएगा।

इन सभी सामग्रियों के सहयोग से आपको अध्ययन करना होगा। इस पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य आदिकालीन, भक्तिकालीन और रीतिकालीन प्रमुख रचनाओं का अध्ययन करना है। **यह कविता का** पर्चा है इसलिए इस पाठ्यक्रम में गद्य को शामिल नहीं किया गया है। **वैसे भी हमारे अध्ययन काल में** रची गई रचनाओं में कविता की ही प्रधानता रही है। **इस युग में गद्य की धारा अत्यंत क्षीण थी।**

इस पाठ्यक्रम में शामिल इकाइयों को चार खंडों में विभाजित किया है। प्रत्येक खंड पुस्तकाकार में आपको उपलब्ध होगा। इनका ब्यौरा इस प्रकार हैः

खंड-1 आदिकाव्य
इकाई-1 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप
इकाई-2 पृथ्वीराज रासो का काव्यत्व
इकाई-3 विद्यापति और उनका युग
इकाई-4 गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली

खंड-2 भक्ति काव्य-1 (निर्गुण काव्य)
इकाई-5 कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता
इकाई-6 कबीर का काव्य-शिल्प
इकाई-7 सूफ़ी मत और जायसी का पदमावत
इकाई-8 पदमावत में लोक परंपरा और लोक जीवन

खंड-3 भक्ति काव्य-2 (सगुण काव्य)
इकाई-9 भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर का महत्व
इकाई-10 सूरदास के काव्य में प्रेम
इकाई-11 मीरां का काव्य और समाज
इकाई-12 मीरां का काव्य सौंदर्य
इकाई-13 तुलसीदास के काव्य में युग संदर्भ
इकाई-14 एक कवि के रूप में तुलसीदास

खंड-4 रीति काव्य
इकाई-15 बिहारी के काव्य का महत्व
इकाई-16 घनानंद के काव्य में स्वच्छंद चेतना
इकाई-17 पद्माकर की कविता

जैसा कि हमने आपको बताया कि इस पाठ्यक्रम में आदिकालीन, **भक्तिकालीन और रीतिकालीन** प्रमुख काव्य ग्रंथों और कविताओं का अध्ययन किया गया है। आदिकाल के अंतर्गत **पृथ्वीराज रासो** और विद्यापति पदावली को अध्ययन के लिए चुना गया है। दूसरे खंड में निर्गुण काव्य के अंतर्गत कबीर की कविता और जायसी के 'पदमावत' का अध्ययन किया गया है। इसी प्रकार तीसरे खंड में सगुण काव्य के अंतर्गत **सूर, मीरां और तुलसी की कविता की विशेषताओं को परखा गया है।**

अंत में, खंड-4 में रीतिकाव्य के अंतर्गत **बिहारी, घनानंद** और **पद्माकर** की कविताओं का अध्ययन किया गया है।

आदिकाल और भक्तिकाल की प्रत्येक रचना या रचनाकार पर दो-दो इकाइयाँ तैयार की गई हैं। पहली इकाइयों में रचना या रचनाकार का सामान्य परिचय, युग और पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। दूसरी इकाइयों में काव्य विशेष का अध्ययन किया गया है। रीतिकाव्य के अंतर्गत तीन कवियों को शामिल किया गया है और इन तीनों रचनाकारों और उनकी रचना को केंद्र में रखकर एक-एक इकाई तैयार की गई है। इसमें रीतिकाल की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों - रीति सिद्ध (बिहारी), रीति मुक्त (घनानंद) और रीति बद्ध (पद्माकर) के एक-एक प्रतिनिधि कवि का अध्ययन किया गया है।

जैसा कि हम अनुरोध कर चुके हैं कि इन इकाइयों को पढ़ने से पहले आप एक बारे पाठ्यक्रम दर्शिका अवश्य पढ़ लें। इससे आपको इस पाठ्यक्रम को पढ़ने में मदद मिलेगी। इसके अलावा हम आपको एक पाठ्यपुस्तक भी उपलब्ध कराएँगे जिसमें पाठ्यक्रम में शामिल कवियों की रचनाएँ संकलित हैं। इसके अलावा लेखों का एक संग्रह भी आपके लिए तैयार किया जा रहा है। इन सबके बारे में विस्तृत जानकारी आपको पाठ्यक्रम दर्शिका में मिलेगी।

खंड-1 (आदिकाव्य) का परिचय

हिंदी साहित्य का आदिकाल विविधताओं से परिपूर्ण है। यह हिंदी साहित्य का निर्माण काल है। अतः इसमें किसी खास तरह का साहित्य नहीं लिखा गया बल्कि भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों वाले साहित्य की रचना की गई। इस युग में धार्मिक, शृंगारिक, लौकिक और चरित काव्यों की रचना हुई। **पृथ्वीराज रासो** आदिकाल में रचित प्रमुख चरित काव्य है। इसमें कवि चंदवरदाई ने अपने चरित नायक पृथ्वीराज चौहान की 'आँखों देखी कथा' सुनाई है।

चंदवरदाई कृत **पृथ्वीराज रासो** जितना लोकप्रिय है उतना ही विवादग्रस्त। इसलिए इस चरित काव्य की विशेषताओं को जानने से पहले इकाई-1 में इसकी प्रामाणिकता से जुड़े सवालों पर विचार किया गया है साथ ही साथ **पृथ्वीराज रासो** की भाषा और इसमें प्रयुक्त काव्यरूप पर भी विचार किया गया है।

इकाई-2 में **पृथ्वीराज रासो के काव्यत्व** का विवेचन किया गया है। इसमें इस काव्य ग्रंथ की विषयवस्तु और काव्य सौंदर्य की अलग से चर्चा की गई है। आदिकाल में विभिन्न प्रवृत्तियों और धाराओं का जन्म एक साथ हुआ। भाषा भी कई-स्तरों पर चली। इस युग के कवियों ने ठेठ अपभ्रंश में रचना की, देशी मिश्रित अपभ्रंश में कविता लिखी और लोक में प्रचलित बोलियों में भी कविताई की। विद्यापति हिंदी साहित्य के आदिकाल और भक्तिकाल के संधि स्थल पर खड़े ऐसे अकेले कवि हैं जिन्होंने अपभ्रंश में भी रचना की और जनभाषा मैथिली में भी। उन्होंने चरित काव्य भी लिखे और भक्ति और शृंगारिक रचनाएँ भी की। विद्यापति की प्रसिद्धि और लोकप्रियता उनकी मैथिली में रचित पदावली के कारण है।

इकाई-3 में **विद्यापति और उनका युग** के अंतर्गत विद्यापति की रचनाओं के माध्यम से उनके युग को समझने का प्रयत्न किया गया है। उनकी रचनाओं खासकर-**कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली** आदि के जरिए उस युग को जानने में खासी मदद मिलती है। इस दृष्टि से विद्यापति की इन रचनाओं का विशेष महत्व है। इस इकाई में विद्यापति की भाषा पर भी विचार गया है। भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने कई स्तरों पर अपनी प्रतिभा का प्रमाण दिया है। उनकी अपभ्रंश भाषा में मैथिली, फारसी, राजस्थानी, संस्कृत का अद्भुत संगम हुआ है। यह उनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है। दूसरी ओर **पदावली** में कवि ने जनभाषा मैथिली को साहित्यिक गरिमा प्रदान की।

इकाई-4 में **विद्यापति पदावली** का अध्ययन किया गया है। **विद्यापति पदावली** मैथिली में रचित सुमधुर काव्य है जिसमें शृंगार और भक्ति का अनुपम संयोग हुआ है। परंतु प्रधानता इसमें शृंगार की ही है। विद्यापति हिंदी के प्रथम गीति काव्यकार हैं। इस दृष्टि से विद्यापति और उनकी इस रचना का महत्व बढ़ जाता है। इस इकाई में उनके इसी महत्व को समझने की कोशिश की गई है।

विशेष : आपकी पाठ्य पुस्तक में '**पृथ्वीराज रासो**' के '**कनवज्ज समय**' और **विद्यापति पदावली** से चुने हुए पद शामिल किए गए हैं। इन इकाइयों को पढ़ने के साथ-साथ आप इन अंशों को भी पढ़ें तभी आप इन कविताओं को ठीक से समझ सकेंगे।

इकाई-1 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता
  1.2.1 ऐतिहासिकता
  1.2.2 रचनाकार और रचनाकाल
  1.2.3 मूल पाठ
  1.2.4 साहित्यिक परम्परा
1.3 पृथ्वीराज रासो की भाषा
1.4 पृथ्वीराज रासो का काव्य रूप
  1.4.1 रासो काव्य
  1.4.2 कथानक रूढ़ियाँ
  1.4.3 चरित काव्य
1.5 सारांश
1.6 प्रश्न/अभ्यास

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई हिंदी काव्य-1 की पहली इकाई है। इसमें **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता पर विचार किया गया है। इसे पढ़ने के बाद आपः

- पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता और उसके आधारों का विश्लेषण कर सकेंगे,
- पृथ्वीराज रासो में प्रयुक्त भाषा से परिचित हो सकेंगे,
- इस काव्य ग्रंथ में प्रयुक्त काव्य रूपों की पहचान कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

हिंदी काव्य-1 की इस पहली इकाई में हम **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता, भाषा और काव्यरूप पर विचार करने जा रहे हैं। चंदवरदायी कृत **पृथ्वीराज रासो** हिंदी साहित्य के आदिकाल का सर्वाधिक विख्यात, लोकप्रिय और विवादग्रस्त महाकाव्य है। 1883 में बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसायटी ने **पृथ्वीराज रासो** का प्रकाशन आरंभ किया। रचना के प्रकाशित होने के पहले ही इसकी प्रामाणिकता को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया और इसका प्रकाशन रोक दिया गया। बाद में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने इसे प्रकाशित किया। जो ग्रंथ अपने जन्म से ही विवादों से घिरा हो उसे पढ़ने से पहले इस संबंध मे दृष्टि साफ हो जानी चाहिए। इसी उद्देश्य से **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता पर विचार सबसे पहले करने का प्रयास किया जा रहा है। प्रामाणिकता के संबंध में जो मुख्य सवाल उठाए गए हैं वे इस प्रकार हैं:

1. **पृथ्वीराज रासो** का मूल रूप क्या है?
2. **पृथ्वीराज रासो** की रचना मूलतः कब की गई?
3. क्या चंदवरदायी ही मूल **पृथ्वीराज रासो** के रचयिता हैं?
4. क्या कवि चंदवरदायी इतिहास प्रसिद्ध राजा पृथ्वीराज चौहान के समकालीन थे?

प्रामाणिकता से जुड़े इन सवालों के अतिरिक्त इस इकाई में **पृथ्वीराज रासो** की भाषा और काव्यरूप पर भी विचार किया है। गौर करने की बात है कि **पृथ्वीराज रासो** की भाषा और काव्यरूप का विश्लेषण कर ही इसकी मूल कथा, संवेदना और शिल्प का पता लगाया जा सकता है। इसी डोर के सहारे हम **पृथ्वीराज रासो** के मूल अंश की खोज कर सकते हैं।

आचार्य शुक्ल ने वर्तमान रूप में प्राप्त, अर्थात काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पाठ को 'भट्ट भणंत' कहा था। उनके अनुसार "अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो। पीछे जो बहुत सा कल्पित भट्ट-भणंत तैयार होता गया उन सबको लेकर और चंद को पृथ्वीराज का समसामयिक मान, उसी के नाम पर **रासो** नाम की यह बड़ी इमारत खड़ी की गई हो।" (हिंदी साहित्य का इतिहास)

अर्थात चंद रहा भी हो तो पृथ्वीराज का परवर्ती है। उसकी पृथ्वीराजविषयक स्वल्प रचना में परवर्ती काल में बहुत कुछ जुड़ता गया है। मूलरूप स्वल्प था।

'रासो' में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि पूरा काव्य चंदवरदाई का लिखा हुआ नहीं है। जब गोरी पृथ्वीराज को बंदी बनाकर ले गया तब चंद भी वहीं पहुँचे। जाते समय उन्होंने **रासो** की प्रति अपने पुत्र जल्हण को सौंपी और कहा कि इसे पूरा करना:

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप-काज

कविराज मोहनसिंह का विचार है कि **रासोकार** ने ही एक ऐसा संकेत दे दिया है जिससे हम **रासो** के मूल रूप का निश्चय कर सकते हैं। **रासो** में एक दोहा इस प्रकार है !

छंद प्रबंध कबित्त यति साटक गाह दुहत्थ।
लघु गुरू मंडित खंडियह पिंगल अमर भरत्थ।।

अर्थात कवित्त, साटक, गाहा, दोहा नामक छंद प्रबंध में हैं। यह प्रबंध खंड लघु गुरू से मंडित है और पिंगलाचार्य, संस्कृत काव्य एवं भरत के अनुसार छंदो का प्रयोग है । (देखिए, हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास - **पृथ्वीराज रासो**) ।

निष्कर्ष यह कि मूल **रासो** में कवित्त, साटक, गाहा और दोहा - इन्हीं छंदों का उपयोग किया गया था। **रासो** के मूलरूप को निश्चित करने की पद्धति यह होनी चाहिए कि इन चारों छंदों में रचित पंक्तियों को रखकर बाकी छंदों को प्रक्षिप्त मान लिया जाए।

दिक्कत यह है कि इस बात को कैसे मान लिया जाए कि परवर्ती काव्य के प्रक्षेप इन चार छंदों में न किए गए होंगे। क्या प्रक्षेप करने वालों ने इन छंदों को छोड़कर प्रक्षेप किया होगा? संभवतः इसीलिए कविराज मोहनसिंह के इस विचार को मान्यता नहीं मिली।

1.2.4 साहित्यिक परम्परा

हजारीप्रसाद द्विवेदी ने **पृथ्वीराज रासो** के मूल रूप का संधान आदिकाल की साहित्यिक परंपरा और काव्य एवं कथानक रूढ़ियों के आधार पर करने का रास्ता सुझाया है। उनका अनुमान है कि "**रासो** के वर्तमान रूप को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मूल **रासो** में भी शुक और शुकी के संवाद की योजना रही होगी। मेरा अनुमान है कि इस मामूली से इंगित को पकड़कर हम मूल रूपों के कुछ रूप का अंदाज़ा लगा सकते हैं।"

वर्तमान रूप में प्राप्त **रासो** में अनेक स्थलों पर शुक-शुकी संवाद से कथा का उपक्रम है। मध्यकालीन प्रबंध काव्यों में कथा का प्रारंभ प्रायः दो पात्रों के संवाद के माध्यम से किया जाता है। **रासो** में अनेक स्थलों पर शुक-शुकी संवाद की योजना है:

सुकी कहै सुक संभरौ कहौ कथापति प्रान
पृथु भोरा भीमंग पहु किये हुअ वैर वितान
जंपि सुकी सुक पेम करि आइ अंत जो बत्त
इंछिनि पिथ्यह व्याह विधि सुख्ख सुनंते गत्त
पुच्छ कथा सुक कहो समहं गंध्रवी सुप्तेमहि
स्रवन मंमि संजोगि राज सम धरी सुनेमहि

(संक्षिप्त **पृथ्वीराज रासो**, सं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, नामवर सिंह)

मध्यकालीन प्रबंधकाव्यों में रचनाकार या वाचक बीच-बीच में स्वयं भी पात्र के रूप में सामने आते हैं। मानस में शंकर-पार्वती, काकभुशुंडि आदि पात्र के रूप में भी आते हैं। **रासो** में शुक-शुकी कथा कहने सुनने की भूमिका निभाने के साथ-साथ पात्र रूप में भी प्रस्तुत होते हैं। "संयोगिता और पृथ्वीराज की

प्रेम-कथा में पहले तो शुक 'नरभेष धरि साकार' पृथ्वीराज के पास चला जाता है। उधर दुजी (शुकी) भी उड़कर संयोगिता के पास जाती है।"

पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लक्षित किया है कि शुक-शुकी संवाद के रूप में **रासो** का जो रूप प्रस्तुत होता है वह काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से भी उत्तम है। पृथ्वीराज के तीन विवाहों इंछिनी, शशिव्रता और संयोगिता की कथा की योजना शुक-शुकी के संवाद के माध्यम से ही की गई है।

पृथ्वीराज रासो के अद्यतन संपादक डॉ. माताप्रसाद गुप्त **रासो** के मूल रूप पर विचार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मूल **रासो** में उक्तिशृंखला और छंद शृंखला की पद्धति थी। उनका कहना है कि **रासो** के लघुतम पाठ में उक्ति और छंदों की यह शृंखला बहुत कुछ सुरक्षित है।

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने **रासो** के सभी पाठों का तुलनात्मक विवेचन करके उसका पाठशोधन किया है। इस प्रक्रिया के दौरान उन्होंने पाया कि **रासो** के मूल रूप में उक्ति **शृंखला** एवं छन्द **शृंखला** का निर्वाह था। उक्ति **शृंखला** का तात्पर्य यह कि:-

> "यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो यह दिखाई पड़ेगा कि धा. (धारणोज प्रति) में अनेक स्थलों पर एक रूपक में - प्रायः उसके अंत में जो उक्ति आई है उसकी कुछ न कुछ शब्दावली बाद वाले रूपक में- प्रायः उसके प्रारंभ में - भी है और इस प्रकार एक उक्ति **शृंखला** बनी हुई है।"
> (**पृथ्वीराज रासो**, भूमिका, डॉ. माताप्रसाद गुप्त)

जैसे एक छंद इस प्रकार है:

जो थिर रहै सु कहहुँ किन हू पूँछ तुम्ह सोइ

अगले छंद में 'थिर' शब्द मौजूद है।

थिरु बाले बल्लभ मिलन पु जउ जोवन दिन होइ

पूर्वापर छंदों में उक्तियों के समान प्रयोग को डॉ. गुप्त ने उक्ति-**शृंखला** कहा है।

डॉ. माता प्रसाद गुप्त के अनुसार यदि हम धा. (पाठ) के छंदों को लेकर पुनः ध्यान से देखें और विभिन्न पाठों का मिलान करें तो ज्ञात होगा कि अनेक छंद या रूपक एक ओर अविभक्त थे। किंतु बाद में उनको विभक्त कर बीच-बीच में नए छंद रख दिए गए, जिससे पूर्ववर्ती छंद शृंखला रचना में अनेक स्थलों पर त्रुटि हो गई।

डॉ. गुप्त ने **पृथ्वीराजरासउ** का जो संपादन किया है उसमें उक्ति और छंद **शृंखला** का ध्यान रखा है। उनके द्वारा संपादित पाठ लघुतम रूप के निकट है। इसमें कुल मिलाकर 12 खंड या शीर्षक हैं- मंगलाचरण, जयचंद का राजसूय यज्ञ और संयोगिता का प्रेमानुष्ठान, कयमास वध, पृथ्वीराज का कन्नौज गमन, पृथ्वीराज का कन्नौज में प्रकट होना, संयोगिता परिणय, पृथ्वीराज-जयचंद युद्ध (1) पृथ्वीराज जयचंद युद्ध (2) पृथ्वीराज संयोगिता का केलि विलास और षडऋतु, पृथ्वीराज का उद्‌बोधन, शहाबुद्दीन-पृथ्वीराज युद्ध और शहाबुद्दीन का अंत।

अब **पृथ्वीराज रासो** को पूर्णतः जाली, या भट्ट-भणन्त नहीं समझा जाता। जहाँ तक उसके मूल रूप का प्रश्न है आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी उसका निर्णय साहित्यिक परंपरा एवं काव्योत्कर्ष की दृष्टि से करना चाहते हैं और डॉ. माता प्रसाद गुप्त पाठालोचन की दृष्टि से।

1.3 पृथ्वीराज रासो की भाषा

रासो की भाषा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। **पृथ्वीराज रासो** की भाषा पर टिप्पणी करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है: "भाषा की कसौटी पर कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बेठिकाने है- उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं। दोहों की और कुछ-कुछ कवित्तों (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है, पर त्रोटक आदि छोटे छंदो में तो कहीं कहीं अनुस्वरान्त शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत प्राकृत की नकल की है।" (हिंदी साहित्य का इतिहास)

लंदन की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी में एक हस्तलिखित प्रति में लिखा है: चंदवरदायी लिखित पिंगल भाषा में 'पृथुराज का इतिहास'; गार्सा द तासी ने इसे कन्नौजी बोली का काव्य कहा। (वीरकाव्य,

लेखक डॉ. उदय नारायण तिवारी) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा **रासो** की भाषा के व्याकरणिक ढाँचे को ब्रजभाषा का मानते हैं। (संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, डॉ. नामवर सिंह) डॉ. दशरथ शर्मा तथा मीनाराम रंगा इसे 'प्राचीन राजस्थानी ' मानते हैं। (उपर्युक्त से उद्धृत)

डॉ. नामवर सिंह का विचार है कि "वस्तुतः अपभ्रंश के बाद प्रायः पश्चिमी भारत में दो मुख्य भाषाएँ उत्पन्न हुईं - दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान में डिंगल तथा पूर्वी राजस्थान और ब्रजमंडल में पिंगल। काव्य-परंपरा की दृष्टि से डिंगल में रचना करने वाले प्रायः चारण हुए और पिंगल के कृती कवि प्रायः भाट। **पृथ्वीराज रासो** पूर्वी राजस्थान में मूलतः "चंदबलिद्द भट्ट" द्वारा अपभ्रंशोत्तर युग में रचा गया और अनेक प्रक्षेपों के साथ अपने विभिन्न रूपांतरों में भी वह पिंगल की रचना है। (संक्षिप्त **पृथ्वीराज रासो**)

पश्चिमी भारत की किसी बोली पर आधारित भाषा मध्यदेश की परिनिष्ठित एवं काव्य भाषा रही है। प्राचीन ब्रजी, पूर्वी राजस्थानी कहने से यही बात प्रकट होती है। वस्तुतः **पृथ्वीराज रासो** मूलतः अपने रचना काल की परिनिष्ठित मध्यदेशीय काव्य भाषा में रचा गया होगा जिसका व्याकरणिक ढाँचा अनेक प्रक्षेपों के बावजूद अभी भी सुरक्षित है।

रासो की भाषा पर विचार करते समय स्वयं रासोकार की इस उक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती जिसके अनुसार उन्होंने अपनी काव्य भाषा को "षड्भाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया" कहा है।

यह "षड्भाषा" एक प्रकार की उक्ति-रूढ़ि है। लेकिन यह काव्य-भाषा-विषयक गुत्थी को सुलझाती भी है। बात यह है कि काव्य-भाषा का व्याकरणिक ढाँचा मूलतः तो किसी एक ही बोली या भाषा पर टिका होता है किंतु काव्य-भाषा (या परिनिष्ठित भाषा) में अनेक क्षेत्रों की शब्दावली समाहित होती है। बल्कि थोड़ा-बहुत व्याकरणिक रूप भी क्षेत्रीय बोलियों से प्रभावित हो सकता है। मध्यदेश की काव्य भाषा आजकल खड़ी बोली पर टिकी है किंतु उसमें अवधी, ब्रजी, भोजपुरी, राजस्थानी, पहाड़ी आदि बोलियों के शब्द भी समाहित हैं। यदि मैथिली क्षेत्र के कवि दिनकर खड़ी बोली में रचना करेंगे तो मैथिली का रंग आ जाना स्वाभाविक है, जैसे अज्ञेय की भाषा में पंजाबी या भवानीप्रसाद मिश्र की भाषा में मालवी। बिल्कुल यही स्थिति **रासो** की काव्यभाषा के विषय में भी समझना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने षड्भाषा की इस रूढ़ि पर प्रामाणिक तौर पर विचार किया है।

यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही सीमित नहीं रह सकती पर वह अपना ढांचा बराबर बनाए रहती है। इसी संदर्भ में उन्होंने भिखारीदास के 'काव्य निर्णय ' का निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया जो 'षड्भाषा ' का विश्लेषण करता है:

> ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि
> सहज फारसी हू मिलैं षड विधि कहत बखान

अर्थात ब्रजी, मागधी, (पूर्वी) अमर (संस्कृत), नाग (प्राकृत-अपभ्रंश), यवन (तुर्की) और फारसी सहज रूप से मिलती हैं यही षडविधि (षड्भाषा) कहलाती है।

कहने का तात्पर्य यह कि जब चंद में 'षडभाषा पुरानं च कुरानं च कथितं मया' कहा तो उनका तात्पर्य छः भाषाओं में काव्य रचना का नहीं था। उनकी काव्य भाषा में 'षड्भाषा' मिली है - मध्यदेश की काव्यभाषा में अनेक क्षेत्रीय शब्दों का समावेश था यह आशय है। 'पुरानं' संस्कृत और 'कुरानं' से आशय तुर्की, अरबी, फारसी से होना चाहिए।

रासो की भाषा आदिकालीन साहित्य की काव्यभाषा है। आदिकाल को संधिकाल कहा जाता है। उसकी काव्यभाषा में क्षीयमाण अपभ्रंश की भाषाई प्रवृत्तियों और उदीयमान आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का मेल है। अपभ्रंश की प्रवृत्तियाँ पूरी तरह समाप्त नहीं हुई हैं और आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं हुई हैं। किंतु **रासो** में पुरानी हिंदी का स्वरूप झलकने लगता है।

पुरानी हिंदी अपभ्रंश से मिलती-जुलती होने पर भी तीन प्रवृत्तियों के कारण अपभ्रंश से भिन्न एवं विशिष्ट हो जाती है। ये प्रवृत्तियाँ हैं - (1) क्षतिपूरक दीर्घीकरण (2) परसर्गों के प्रयोग की बहुलता और (3) तत्सम शब्दों का पुनर्प्रचलन- **क्षतिपूरक दीर्घीकरण** जैसे अज्ज का आज

उदाहरण - कलि मज्झिल जग्गु को करइ आज

परसर्गों के प्रयोग की बहुलता - एक ही पंक्ति में 'के' 'ते', 'से' का प्रयोग

उदाहरण - ससि के मुख तें अहि से निकसे।

तत्समशब्दों का पुनर्प्रचलन : जैसे ब्रह्मांड
संकियं ब्रह्म ब्रहमांड गहियं

पृथ्वीराज रासो की भाषा में अपभ्रंश और पुरानी हिंदी दोनों की भाषाई प्रवृत्तियों का मेल है।

रासो में शब्दों का बहुविधि प्रयोग है - धर्म, धम्म भी हो सकता है और ध्रम्म भी । यह बहुत कुछ तो कवि की ओर से ली जाने वाली छूट है। इस छूट की भी परंपरा है। तुलसीदास जैसे कवि भी 'ललित लल्लाट ' पर लिखते हैं; कासी मग सुरसरि क्रमनासा (कर्मनाशा) । दूसरे, जैसा कि बीम्स ने अनुमान किया है यह भाषा की संक्रमणकालीन स्थिति का भी प्रभाव हो सकता है। अनुस्वार लगाकर शब्दों को छौंकने की प्रवृत्ति-पद झंकार के लिए है किन्तु इतनी अधिकता कभी खीझ और कभी मनोरंजन उत्पन्न करती है।

पृथ्वीराज रासो में छंदानुरोध से लघु को गुरू और गुरू को लघु बनाने की प्रवृत्ति है जैसे कमलनु को कमलानु और आहार को अहार। अनुस्वार की अधिकता की ही तरह व्यंजन को द्वित्व बनाने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है जैसे दिष्षियत, गज्जन। रूपगठन की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय बात लुप्त-विभक्तिक पदों का प्रयोग है - ले सब दासि सुजान (सभी सुजान दासियों को लेकर)। पृथ्वीराज **रासो** के शब्द-समूह में सर्वाधिक संख्या तद्भव शब्दों की है। इसके पश्चात् संस्कृत और फिर फारसी आदि के शब्दों की। कनवज्ज समय (लघुतम संस्करण) में कुल 3500 शब्दों का प्रयोग है। इसमें 500 शब्द तत्सम हैं 20 फारसी के, शेष तद्भव हैं, कुछ देशी शब्द भी अवश्य होंगे।

रासो के भाषा विचार की समस्याएँ हैं। सबसे प्रमुख समस्या मान्य पाठ की है जिसे भाषा-विचार का आधार बनाया जाए। इसकी भाषा पर विचार करते समय यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रबंध काव्य है और अपने युग के इतिहास का प्रतिनिधि काव्य है। इसमें विविध क्षेत्रों के पात्र हैं। उनकी चरित्रगत विशेषताएँ हैं। फिर भाषा की विविध स्तरीयता स्वाभाविक है। यह विविध स्तरीयता **रासो** के महत्व को बढ़ाती ही है, घटाती नहीं।

1.4 पृथ्वीराज रासो का काव्यरूप

हिंदी साहित्य के पाठकों के बीच **पृथ्वीराज रासो** को हिंदी का प्रथम महाकाव्य होने का गौरव प्राप्त है। हमारे यहाँ काव्य-भेद पर अधिकांशतः संस्कृत साहित्य को ध्यान में रखकर विचार हुआ है। **रासो** में महाकाव्य के सभी लक्षण घटित नहीं होते। उदाहरणार्थ **रासो** में छंदों का विधान संस्कृत महाकाव्य जैसा नहीं है। विभिन्न खंडों का विभाजन भी संख्या क्रम से नहीं घटनाओं के आधार पर शीर्षक में है जैसे "कनउज्ज समय" या "कैमास-वध"। वस्तुतः **रासो** की रचना संस्कृत के आचार्य काव्यशास्त्रियों द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के अनुसार नहीं हुई है। काव्य-रूप की दृष्टि से **रासो** प्राकृत अपभ्रंश के प्रबंधकाव्यों की परंपरा में है, संस्कृत महाकाव्यों की परंपरा में नहीं।

पृथ्वीराज रासो में मध्यकाल में प्रचलित प्रबंध काव्यों के अनेक रूपों का सम्मिश्रण हुआ है। उसमें कथा काव्य, चरित काव्य, आख्यायिका आदि के लक्षण मिल जाएँगे। **रासो** तो वह है ही।

'कथा' की कहानी दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में प्रस्तुत की जाती थी। इस दृष्टि से **रासो** को कथा कह सकते हैं क्योंकि उसकी कहानी शुक-शुकी एवं कवि एवं कवि-पत्नी के संवाद के रूप में प्रस्तुत की गई है। 'आख्यायिका' की कहानी का नायक कल्पित नहीं (ऐतिहासिक) होता है। संस्कृत में 'कादम्बरी' कथा मानी जाती है और 'हर्षचरित' आख्यायिका। यद्यपि 'हर्षचरित' चरित भी है। इस दृष्टि से **पृथ्वीराज रासो** को आख्यायिका भी कह सकते हैं क्योंकि नायक पृथ्वीराज कल्पित पात्र नहीं है और उसमें बाणभट्ट की भाँति चंद का भी वर्णन है। **रासो** चरितकाव्य भी है क्योंकि उसमें पृथ्वीराज का जीवन-चरित वर्णित है।

1.4.1 रासो काव्य

पृथ्वीराज रासो, रासो काव्य के रूप में विख्यात है। यहाँ हमें **रासो** काव्य के विषय में थोड़ी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। उससे **पृथ्वीराज रासो** के काव्य रूप का निर्णय करने में सहायता मिलेगी।

रासो, रासा, रास, रासउ समानार्थक शब्द हैं। इनका विकास रास नामक नृत्य से हुआ है। रास मूलतः वन्य नृत्य था। हर्ष चरित में रास का उल्लेख नृत्य और गान दोनों रूपों में हुआ है। अपभ्रंश के महान कवि स्वयंभु ने रास छंद का लक्षण दिया है। सो, रास नृत्य है, गान है और छंद भी। गान शब्दों से बनता है। एक बार शब्दों का आगमन हुआ तो कथा का समावेश हो गया और रास प्रबंध काव्य भी बन गया होगा। रास नृत्य से कृष्ण की रासलीला का संबंध है।

रास काव्यों की परंपरा अपभ्रंश से ही शुरू हो जाती है। मेरी जानकारी में प्राकृत भाषा में कोई रास काव्य नहीं मिलता। अपभ्रंश में **नेमिनाथ रासो, भरतेश्वर बाहुबलिरास, कछूलीरास** आदि मिलते हैं। प्रबंध काव्य हो जाने के बाद रास किसी एक ही विषय तक सीमित नहीं रह गया। यद्यपि यह सत्य है कि 11वीं शताब्दी से अपभ्रंश में रासोकाव्य की जो परम्परा प्रारंभ होती है उसमें जैन मतावलम्बी काव्य ही अधिक मिलते हैं। किंतु कालांतर में **रासो** ऐसा प्रबंध काव्य बन गया जो केवल धर्म या जैन धर्म तक ही सीमित नहीं रह गया। धार्मिक **रासो** के साथ-साथ, ऐतिहासिक, वीरतापरक, शृंगारी रासक काव्य भी लिखे गए। **पृथ्वीराज रासो** ऐतिहासिक एवं वीरतापरक **रासो** काव्य है।

आचार्य हेमचंद्र के शब्दानुशासन में रासक को गेय उपरूपक बताया गया है। "ये गेय रूपक तीन प्रकार के होते थे - मसृण अर्थात कोमल, उद्धत और मिश्र। रासक मिश्र गेय उपरूपक है। टीका में इन गेय उपरूपकों के संबंध में बताया गया है कि इनमें से कुछ तो स्पष्ट रूप से कोमल हैं, जैसे डोम्बिका। कुछ दूसरे हैं जो स्पष्ट रूप से उद्धत गेय रूपक हैं, जैसे भाणक। कुछ ऐसे हैं जिनमें मसृण की प्रधानता होती है, कुछ उद्धत भी मिल जाता है; कुछ में उद्धत कम मिला होता है, जैसे प्रस्थान; कुछ में अधिक मिला होता है जैसे शिंगटक। परंतु ऐसे भी कई हैं जिनका प्रधान रूप तो उद्धत होता है फिर भी थोड़ा बहुत मसृण का प्रवेश हो जाता है। भाणिका ऐसा ही है। फिर प्रेरण, रामाक्रीड़, रासक हल्लीसक आदि ऐसे ही रूपक हैं। सो रासक आरंभ में एक प्रकार के उद्धत प्रयोग प्रधान गेय रूपक को कहते थे जिसमें थोड़ा बहुत मसृण या कोमल प्रयोग भी मिले होते थे" (हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली 3)।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने **संदेशरासक** और **पृथ्वीराज रासो** के प्रारंभिक अंशों की समानता दिखाकर प्रकट किया है कि **पृथ्वीराज रासो** और **संदेशरासक** दोनों में रासक काव्य रूप के लक्षण मिलते हैं।

जो हो हिंदी साहित्य में **रासो** काव्यों की दीर्घ परंपरा मिलती है। डॉ. दशरथ ओझा ने अपने ग्रंथ 'हिंदी नाटकःउद्भव और विकास' में रासक काव्यों की चर्चा के प्रसंग में बताया है कि लगभग 1000 रासक काव्य मिलते हैं और इनकी रचना 19वीं शताब्दी तक हुई है।

1.4.2 कथानक रूढ़ियाँ

पृथ्वीराज रासो रासक काव्य परंपरा का सर्वाधिक विख्यात काव्य है। **पृथ्वीराज रासो** में मध्यकालीन प्रबंध काव्यों में प्रचलित अनेक कथानक रूढ़ियों का उपयोग किया गया है। कथानक-रूढ़ियों से अभिप्राय ऐसे घटना प्रसंगों से है जो कथानक को आगे बढ़ाने के लिए मध्यकालीन प्रबंध काव्यों में प्रायः इस्तेमाल किए जाते हैं। ऐसे घटना-प्रसंग एक प्रकार से इन प्रबंध रचनाओं में रूढ़ि की तरह प्रयुक्त होते हैं अतएव इन्हें कथानक रूढ़ि कहा जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन कथानक रूढ़ियों पर 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में सम्यक् विचार किया है। आचार्य द्विवेदी ने जिन कथानक रूढ़ियों की सूची दी है उनमें कुछ इस प्रकार है-

1. कहानी कहने वाला सुग्गा
2. स्वप्न में प्रियदर्शन, चित्र-दर्शन, कीर्ति श्रवण से अनुराग
3. मुनि का शाप
4. रूप परिवर्तन
5. परकाय प्रवेश
6. आकाशवाणी
7. षड्ऋतु-बारहमासा
8. हंस-कपोत से संदेश कथन आदि।

रासो में - कहानी कहने वाला सुग्गा, गुण-श्रवण से अनुराग, रूप-परिवर्तन, षड्ऋतु वर्णन आदि तो हैं ही इनके अतिरिक्त, सेना-वर्णन, युद्ध वर्णन, नख-शिख वर्णन, कन्या हरण, वयस्संधि वर्णन आदि

कथानक रूढ़ियों का भी उपयोग किया गया है। कथानक रूढ़ियों के उपयोग की दृष्टि से **पृथ्वीराज रासो** एक भरपूर काव्य है।

1.4.3 चरित काव्य

अब तक हमने देखा कि **पृथ्वीराज रासो** आदिकाल की ऐसी रचना है जो मूलतः रासो काव्य है किंतु उसमें कथा, चरित, आख्यायिका आदि काव्य रूपों का भी समावेश है जिसमें कथानक रूढ़ियों का भरपूर उपयोग किया गया है।

डॉ. नित्यानंद तिवारी ने अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन रोमांचक आख्यान' में दिखाया है कि **पृथ्वीराज रासो** रोमांचक आख्यान है। उसमें कथानक तो है किंतु उसमें आंतरिक गठन नहीं, उसमें अनेक परस्पर असंबद्ध कथाओं का संकलन और विस्तार है। कथाओं, घटनाओं का विकास आंतरिक घात-प्रतिघात से नहीं है, उनमें जोड़ और गांठें हैं। जोर कथनात्मकता या कहते जाने की की प्रवृत्ति पर है। चरित्र तो हैं किंतु इनकी चरित्रगत वैयक्तिक विशेषताएँ प्रायः नहीं हैं। संभवतः इसीलिए कथा के विकास के लिए कथानक रूढ़ियों की आवश्यकता पड़ती है। इन रोमांचक आख्यानों का कोई ऐतिहासिक उद्देश्य भी नहीं है। उद्देश्य होता तो इनका कथानक उद्देश्य की अंतस्सूत्रता से बंधा होता। डॉ. नित्यानंद तिवारी **पृथ्वीराज रासो** को 'पंवारा' मानते हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं कि **रासो** की घटना-सरणि में, पृथ्वीराज के अनेक विवाहों और युद्धों में कोई तार्किक प्रवाह या अंतस्सूत्रता नहीं है। दो-चार विवाह और युद्ध **रासो** में और जोड़ दिए जाएँ या निकाल दिए जाएँ तो **रासो** के रूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

इस सबके बावजूद, हिंदी साहित्य में **रासो** की प्रतिष्ठा महाकाव्य के रूप में है। वह हिंदी साहित्य के आदिकाल का ही सर्वाधिक विख्यात काव्य नहीं, हिंदी साहित्य के प्रथम महाकाव्य के रूप में भी प्रतिष्ठित है। हमें उन कारणों की भी पड़ताल करनी चाहिए जिनके आधार पर **पृथ्वीराज रासो** को यह प्रतिष्ठा मिली।

डॉ. नगेन्द्र कामायनी के महाकाव्यत्व पर विचार करते हुए, पाश्चात्य एवं पौरस्त्य महाकाव्यों के लक्षणों का विवेचन करने के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि महाकाव्यत्व का प्राण औदात्य है। (देखिए कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ) । औदात्य का आधार व्यापक संघर्ष है। भारतीय महाकाव्यों का आदर्श वाल्मीकि रामायण है और राम का आजीवन संघर्ष उसके औदात्य का आधार है। वे लोक विख्यात हैं। उनकी जीवन-कथा ही ऐसी है कि विपुल जीवन-जगत् का समावेश उनके जीवन में हो जाता है। ध्यान से देखें तो महाकाव्यों के लक्षण इस बात को ही ध्यान में रखकर निर्धारित किए गए हैं कि नायक लोक में कितना प्रतिष्ठित है, लोक से उसके जीवन-संघर्ष का कैसा संबंध है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यापकता एवं संघर्ष औदात्य के आधार हैं। आठ या उससे अधिक सर्गों की व्यवस्था कथा की विपुलता का लक्षण है तो एक सर्ग में एक ही छंद की व्यवस्था दूर तक कथा प्रवाह की समतल भूमि निर्धारित करती है। सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन एक सर्ग की कथा को अगले सर्ग की कथा से जोड़ने का संकेत है।

मध्यकाल में ऐसे प्रबंधकाव्य भी लिखे गए हैं जिनमें कदम-कदम पर छंद परिवर्तित होते हैं। केशवदास की **रामचन्द्रिका**, विद्यापति की **कीर्तिलता** ऐसे ही काव्य हैं। आदिकाल के ही अपभ्रंश काव्य **संदेश रासक** में भी जल्दी-जल्दी छंद परिवर्तन मिलता है। **पृथ्वीराज रासो** भी इस दृष्टि से इन्हीं रचनाओं की कोटि में आता है।

1.5 सारांश

पृथ्वीराज **रासो** की प्रामाणिता-अप्रामाणिकता से जुड़े विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के क्रम में आपने महसूस किया होगा कि इसे काव्य ग्रंथ मानकर चलना ही उचित है। किसी भी दृष्टि से यह इतिहास ग्रंथ नहीं है। परंतु इसमें कोई शक नहीं कि चंदबरदाई पृथ्वीराज के समकालीन थे और उन्होंने **पृथ्वीराज रासो** नामक चरित काव्य की रचना की।

यह भी स्मरण रखने की बात है कि विद्वानों ने इसके लघुतम पाठ को ही मूल पाठ माना है। प्रश्न यह है कि जो काव्य मूलतः लघु काव्य था और जिसे पंवारा कहा जाता है वह इतना बृहत् एवं महाकाव्य कैसे बन गया। आदिकाल की अन्य रचनाओं को पीछे धकेल कर सर्वाधिक विख्यात कैसे हो गया।

उत्तर संभवतः साहित्य से अधिक उत्तरी भारत के राजनीतिक घटना-चक्र अर्थात इतिहास में है। निस्संदेह साहित्यिक दृष्टि से **पृथ्वीराज रासो** उत्कृष्ट रचना है और चंदवरदाई सरस्वती के वरद-पुत्र हैं। किंतु इस रचना को इतिहास चक्र ने जो महत्त्व प्रदान किया उसका इसे महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित करने में बहुत बड़ा योगदान है ।

पृथ्वीराज चौहान दिल्ली के सिहांसन पर विराजमान होने वाले अंतिम हिंदू शासक थे। उनका जीवन अपने-आप में चाहे ज़ितना सामान्य रहा हो, उत्तरी भारत के इतिहास में मुहम्मद गोरी के हाथों उनकी पराजय और उनका वध युगांत का प्रतीक बन गया। कन्या हरण और युद्ध आदिकालीन वीर गाथात्मक रचनाओं का प्रिय विषय है किंतु उन सभी रचनाओं के नायक पृथ्वीराज चौहान की तरह युगांत के प्रतीक-नायक नहीं बने। उत्तरी भारत की जनता के मन में ऐतिहासिक कारणों से अपने अंतिम शासक के लिए एक ललक बनी रही। इसके बाद दिल्ली के सिंहासन पर आक्रामक या उनकी संतानें बैठीं। इस ऐतिहासिक ललक ने पृथ्वीराज चौहान के जीवन को अभूतपूर्व ख्याति प्रदान की। वे जन समाज में व्याप्त होने वाली किम्वदंतियों, निजंधरी कथाओं के विषय बने, नायक बने। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कथानक रूढ़ियों पर विचार करते हुए 'हिंदी साहित्य का आदिकाल' में बताया है कि तथ्य की अपेक्षा संभावना पर अधिक बल देने से कवि नायक को निजंधरी (लेजेंडरी) बना देते हैं। यह मनोवृत्ति वस्तुतः भारतीय जन-मानस की है जो अपने नायक को आत्यन्तिकता प्रदान करता है। निरंतर प्रक्षेप इसी का परिणाम है। लोग वीरनायक को विविध रूपों में देखना चाहते हैं, उनके जीवन में संभावनाओं को अधिक से अधिक फलीभूत होते देखना चाहते हैं। **पृथ्वीराज रासो** जितना अधिक प्रक्षेप हिंदी की किसी अन्य रचना में नहीं हुआ है। इसे प्रसिद्धि का मूल्य चुकाना कह सकते हैं। लोक विख्यात शौर्य गाथाओं, रोमांचक गाथाओं के विषय में ऐसी जनश्रुतियों की व्यापकता स्वाभाविक है। हमारे स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों के विषय में भी ऐसी किम्वदंतियाँ जन-प्रचलित थीं। इसी प्रवृत्ति का काव्य-फलन **रासो** का महाकाव्य है। आचार्य द्विवेदी के शब्दों में वह लोकचित्त की चंचल सवारी करता हुआ विकासशील महाकाव्य बना। हिदी का दूसरा विकसनशील महाकाव्य **परमाल रासो** या **आल्हा** होता अगर वह लिखित रूप में प्राप्त होता।

नायक का महत्व युगांतरकारी हो गया और लोकप्रियता के कारण प्रक्षेप होता गया तो रचना को भी महाकाव्यात्मक गरिमा प्राप्त हुई। वह अपने युग एवं युग नायक की गाथा बनकर जातीय अथवा राष्ट्रीय इतिहास की प्रबल रचना बन गई। अगली इकाई (इकाई सं.-२) में इसकी विस्तार से चर्चा की जाएगी।

इस प्रकार जो **रासो** काव्य चरित, कथा, आख्यायिका आदि के लक्षणों से युक्त एक पंवारा मात्र था वह ऐतिहासिक घटना चक्र से विकासशील प्रबंधकाव्य तो बना ही, महाकाव्यात्मक औदात्य एवं गरिमा से मंडित होकर आदिकाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध और हिंदी साहित्य का प्रथम महाकाव्य कहलाने का अधिकारी बना।

1.6 प्रश्न/अभ्यास

1. पृथ्वीराज़ रासो की प्रामाणिकता-अप्रामाणिता से जुड़े विभिन्न मुद्दों का विश्लेषण कीजिए।
2. पृथ्वीराज रासो में कथानक रूढ़ियों का उपयोग किस प्रकार किया गया है?
3. क्या पृथ्वीराज रासो की भाषा अपने रचनाकाल से मेल खाती है? विभिन्न मतों के आलोक में इस पर विचार कीजिए।
4. पृथ्वीराज रासो की लोकप्रियता में साहित्यिक और साहित्येतर परम्पराओं के योगदान को रेखांकित कीजिए।

इकाई 2 पृथ्वीराज रासो का काव्यत्व

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 विषय वस्तु
  2.2.1 कथानक
  2.2.2 युद्ध और शृंगार
  2.2.3 पात्र चित्रण
  2.2.4 प्रकृति वर्णन
2.3 काव्य कौशल
  2.3.1 छंद
  2.3.2 अनुनासिकता
  2.3.3 ध्वनि प्रवाह
2.4 सारांश
2.5 अभ्यास/प्रश्न

2.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता, भाषा और काव्य रूप पर विचार किया जा चुका है। इस इकाई में **पृथ्वीराज रासो** के काव्यत्व पर विचार किया जा रहा है। इसे पढ़ने के बाद आपः

- **पृथ्वीराज रासो** की विषय वस्तु का मूल्यांकन कर सकेंगे
- रासोकार कवि चंद के काव्य कौशल का विवेचन कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हमने पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता से जुड़े सवालों पर विचार विमर्श किया था। इस संदर्भ में पृथ्वीराज रासो की ऐतिहासिकता, रचनाकार, मूल पाठ, भाषा, काव्य रूप आदि पक्षों को आप समझ चुके होंगे।

जैसा कि आप जानते हैं पृथ्वीराज रासो के अनेक संस्करण प्राप्त होते हैं। यहाँ रासो के काव्य–सौंदर्य पर विचार करते समय दो पाठों को आधार बनाया जा रहा है- हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा शुक-शुकी संवाद को ध्यान में रखकर निर्धारित पाठ तथा माता प्रसाद गुप्त द्वारा उक्ति-शृंखला एवं छंद-शृंखला के आधार पर निर्णीत पाठ।

इस इकाई में हमने सबसे पहले आपका परिचय पृथ्वीराज रासो की विषय वस्तु से कराया है। कथानक का परिचय देते हुए साथ-साथ उसका मूल्यांकन भी प्रस्तुत किया गया है। कथा विस्तार से प्रस्तुत नहीं की गई है संक्षेप में उसका उल्लेख कर दिया गया है। यदि आप पृथ्वीराज रासो की कथा और विस्तार से पढ़ना चाहते हैं तो आप डॉ. नामवर सिंह की पुस्तक "पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य" परिशिष्ट पढ़िए। इस पुस्तक की पूरी जानकारी खंड के अंत में दी गई पुस्तकों की सूची में मिल जाएगी।

कथानक के अंतर्गत हमने 'कैमास वध' और 'कनवज्ज समय' का विशेष रूप से उल्लेख किया है और उनकी विशेषताओं की चर्चा की है। मार्मिकता की दृष्टि से कैमास वध प्रसंग महत्वपूर्ण है। कैमास प्रसंग को प्रामाणिक अंश भी माना जाता है क्योंकि इसी प्रसंग के छप्पय पुरातन प्रबंध संग्रह में प्राप्त हुए हैं।

'कनवज्ज समय' रासो का एक महत्वपूर्ण अंश है। इसमें जयचंद की कन्नौज यात्रा और संयोगिता के अपहरण की कथा आई है। इस प्रसंग में कवि ने शृंगार, युद्ध और यहाँ तक कि प्रकृति वर्णन का भी अवसर निकाल लिया है। 'कनवज्ज समय' को पाठ में भी शामिल किया गया है।

पृथ्वीराज रासो के शिल्प पर विचार न किया जाए तो बात अधूरी रह जाएगी। चंद को छंद का राजा कहा गया है। उन्होंने कविता में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश से चली आती छंद परंपरा को नई चाल में ढाला और हिंदी में छंद-संगीत का सूत्रपात किया। उनकी कविता में अनुनासिकता, ध्वनि-प्रवाह, लय सब मिलकर संगीत का निर्माण करते हैं। उनका अभिव्यक्ति कौशल अनूठा है।

आइए, इन पक्षों पर विस्तार से बातचीत की जाए।

2.2 विषय वस्तु

पृथ्वीराज रासो के काव्य-सौंदर्य पर विचार करने के लिए हमें एकाधिक पाठों को आधार बनाना पड़ेगा। **रासो** के मूल रूप पर विचार करते समय हमने दो पाठों का विशेष रूप से उल्लेख किया था - पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा शुक-शुकी के संवाद को ध्यान में रखकर निर्धारित पाठ और डॉ. माता प्रसाद गुप्त द्वारा उक्ति-शृंखला एवं छंद-शृंखला के आधार पर निर्णीत पाठ।

इसके बावजूद **पृथ्वीराज रासो** में जो प्रसंग सामान्य रूप से मिलते हैं वे इस प्रकार हैं :

1. आदि पर्व
2. दिल्ली किल्ली कथा
3. अनंगपाल दिल्ली दान
4. पंग यज्ञ विध्वंस
5. संयोगिता नेम आचरण
6. कैमास वध
7. षटऋतु वर्णन
8. कनवज्ज समय
9. बड़ी लड़ाई
10. बान बंध

इस इकाई में हम 'कैमास वध' और 'कनवज्ज समय' पर विशेष रूप से विचार करेंगे।
पृथ्वीराज रासो एक चरित काव्य है जिसका नायक पृथ्वीराज चौहान है। **पृथ्वीराज रासो** में अधिकांशतः पृथ्वीराज के विभिन्न विवाहों एवं युद्धों की ही कथा है। **आदि पर्व** में पृथ्वीराज के पूर्वजों, पृथ्वीराज के जन्म, बाल-लीला आदि का वर्णन है। **रासो** के अंतिम अंश में पृथ्वीराज द्वारा गोरी का, शब्दबेधी बाण द्वारा वध का वर्णन है। साथ ही पृथ्वीराज की भी मृत्यु हो गई।

2.2.1 कथानक

रासो का कथानक मध्यकाल में प्रचलित अनेक कथानक रूढ़ियों एवं काव्य रूढ़ियों से कसा हुआ है। कवि परंपरा से सुपरिचित है, उसका पालन करना और मौलिक उद्भावना द्वारा विकास करने की प्रतिभा से सम्पन्न है।

मध्यकालीन प्रबंध काव्यों के पात्र प्रायः सांचे में ढले होते हैं। वे अच्छे हैं तो अच्छे, बुरे हैं तो बुरे। इस स्थिति में रासोकार का चरित्र-चित्रण सुखद आश्चर्य का विषय है। पृथ्वीराज कोई सांचे-ढला पात्र नहीं, वह अच्छाइयों एवं कमजोरियों का पुंज है। आज की भाषा में कहें तो पृथ्वीराज यथार्थवादी पात्र है - बहुत दूर तक। निस्संदेह उसके चरित्र-निर्माण पर मध्यकालीन प्रबंध काव्यों के आदर्शवाद की भी छाप है।

पृथ्वीराज क्षत्रिय, सामन्त, वीर, रसिक, विलासी, दृढ़ प्रतिज्ञ, शरणागत-वत्सल और चन्द का अभिन्न मित्र है। उसे अपने गुणों एवं दुर्गुणों का फल इसी जीवन में मिल जाता है।

रासो में वर्णित घटनाओं की ऐतिहासिकता के विषय में चाहे जितना मतभेद हो, घटनाओं के उपस्थापन का शिल्प यथार्थ-परक है, कारण यह कि उस पृथ्वीराज के मन का द्वंद्व छिपाया नहीं गया है। उसे प्रकट कर दिया गया है। **रासो** के **आदि पर्व** में एक ऐसी घटना का वर्णन है जो पृथ्वीराज कालीन सामंती मूल्यों का मनोरंजक दस्तावेज़ मालूम पड़ता है। पृथ्वीराज के पराक्रमी चाचा कन्ह थे।

चालुक्यवंशी सात भाई पृथ्वीराज के दरबार में बैठे थे। पृथ्वीराज की उन पर कृपा थी। एक दिन भरे दरबार में उनमें से एक भाई प्रतापसी ने मूंछों पर हाथ फेर दिया:

परताप सि मुच्छन पान

यानी मूंछों पर ताव दे दिया। अपनी मूंछे ऐठ ली। उनका यह करना था कि कन्ह चाचा ने उसे मौत के घाट उतार दिया। उसे ही नहीं उसके भाइयों को भी। पृथ्वीराज धर्म-संकट में पड़ गए। जिसकी रक्षा का भार लिया था उन्हीं का वध किया गया। यह किसी और ने किया होता तो पृथ्वीराज उसे प्राण दंड देते। लेकिन कन्ह चाचा का क्या किया जाए। अंततोगत्वा विधान हुआ कि कन्ह चाचा की आंखों पर रत्न स्वर्णादि की पट्टी बांध दी गई। आंखों से पट्टी केवल दो अवसरों पर उतारी जाए - युद्ध क्षेत्र में और शय्या पर :

सो पट्टी निसि दिन रहै छोरि देइ द्वै ठाय
कै सिज्जा बामा रमत कै छुट्ट संग्राम

कवि ने पृथ्वीराज के चरित्र का जो चित्रण किया है वह उतना आदर्श-कल्पित नहीं है जितना कि यथार्थ परक। चन्द द्वारा पृथ्वीराज के चरित्र का चित्रण देखें तो वह सचमुच किसी निर्भीक सरस्वती के वरद-पुत्र का वर्णन प्रतीत होता है। यह भी कि चंद पृथ्वीराज का सच्चा मित्र एवं शुभ चिंतक है। इससे पृथ्वीराज के साथ-साथ चंदवरदाई के भी चरित्र का चित्रण हो गया है। दोनों मित्रों की मैत्री-परीक्षा का सबसे मार्मिक अवसर कैमास-वध में उपस्थित होता है। ध्यान देने की बात है कि कैमास-वध **पृथ्वीराज रासो** का सर्वाधिक प्रामाणिक अंश है। इसी प्रसंग के छप्पय पुरातन-प्रबंध-संग्रह में प्राप्त हुए हैं, यह हम **रासो** की प्रामाणिकता पर विचार करते समय देख चुके हैं।

कैमास (संस्कृत नाम कदम्बवास) पृथ्वीराज का प्रधानामात्य और सर्वाधिक विश्वस्त मंत्री था। पृथ्वीराज के बचपन में उनकी माँ ने उसी की देख-रेख में राजकाज चलाया था। पृथ्वीराज संयोगिता के विरह में स्थिर नहीं था। वह आखेट करता हुआ वन में घूम रहा था। शासन उसने कैमास को सौंप दिया था।

तिहि तप आखेटक भमइ थिर न रहइ चहुवान
वर प्रधान जुग्गुनि प्ररह घर रख्खइ परवान

इधर कैमास की बुद्धि धर्म-क्षीण हो गई। जो राजा की प्रतिमा (प्रतिनिधि) है उसका मन रमणियों में रम गया। उसके हाथ में तीर नहीं - वह वासना में शय्या गति को प्राप्त होने लगा।

राजं जा प्रतिभा सचीन धर्मा रामा रमे सा मतीन
नितीरे कर काम वाम बसना संगेन सिज्जा गतिः

कैमास कर्णाटी नाम की दासी पर अनुरक्त था। रात्रि में वह उसके महल में विहार कर रहा था। पृथ्वीराज को यह समाचार उनकी बड़ी रानी इंछिनी ने भिजवाया। पृथ्वीराज ने रात में ही आकर कैमास की हत्या कर दी। प्रातः भरे दरबार में अनजान बन कर पूछा - कैमास कहाँ है? किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। पृथ्वीराज ने चन्दवरदाई से पूछा। चन्दवरदाई ने उत्तर दिया - मैं पाताल और आकाश के बीच का सब रहस्य बता सकता हूँ। किंतु दाहिम (कैमास) दुर्लभ हो गया है, मुझसे कहा नहीं जाता। पृथ्वीराज ने चंद से कहा - तुम क्या आकाश-पाताल की बातें कर रहे हो यह तो बताओ कि कैमास कहाँ है या मुझे हरसिद्धि (देवी) का वर प्राप्त है यह कहना छोड़ दो। निकम्मे कवि काव्य रचना बंद कर दो-

कहा भजुंग कहा उदै सुर निकमु कब्ब कवि षंडु
कै कैमास बताइ मोहि कइ हरसिद्धी बर छंडु।

चंद ने सोचा पृथ्वीराज साँप के मुंह में उंगुली डाल रहा है अब मुझे सच बताना ही पडेगा। चंदवरदाई को स्वप्न में सरस्वती ने आकर सब बता दिया था। चंद की काव्यधारा प्रवाहित हो उठी-

एकु बान पुहुमी नरेस कयमासह मुक्कउ
उर उप्परि षर हरि उबीर कष्षन्तर चुक्कउ
बीउ बान संधानि हनउ सोमेसुर नंदन
गाडउ करि निग्गहउ षनिव खोदउ संभरि धनि
थर छंडि न जाइ अभाग रउ गारइ गहउ जु गुन षरउ
इमे जपइ चंद बिरद्दआ सु कहो निमद्दि हि इह प्रलउ।

चंद ने कैमास-वध का अन्तर्बाह्य विवरण देते हुए बताया - पृथ्वी नरेश तुमने एक बाण कैमास को मारा। वह उसके वक्ष पर खरहराता हुआ काँख से चूक गया (निकल गया) दूसरे बाण का संधान करके तुमने उसे मार डाला। शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज तुमने खन खोद कर गड्ढे में उसे डाल दिया। अब उस अभागे से वह थल छोड़ा नहीं जा रहा। उसे गुण रूपी पाषाण ने दृढ़ता से पकड़ रखा है। चंदवरदाई कहता है कि यह प्रलय कहाँ निपटेगा। तुम्हारे इस अकार्य का क्या फल होगा?

मध्यकालीन सामन्त निरंकुश होता था। पृथ्वीराज के एक इशारे पर चंद का क्या हो सकता था - यह सोचिए, तब अनुमान किया जा सकता है कि चंदवरदाई कितने निर्भीक सरस्वती-पुत्र थे। वे कवि की मर्यादा का निर्वाह कर सकते थे। चंदवरदाई का उत्तर सुनकर सभा में खलबली मच गई। अपने कानों से चंद का बयान सुनकर सभासद अपने घर भाग गए। पृथ्वीराज को रात भर नींद नहीं आयी। चंदवरदाई ने उस समय की सभा का जो वर्णन किया है वह मध्यकाल में दुर्लभ है। यथार्थपरकता और चंद की निर्भीकता दोनों का प्रमाण इस वर्णन में है-

राज-सभा में सम्भ्रम हुआ। उसे शांत करने के लिए प्रधान दरबान ने प्रवेश किया। सभी सामन्तों के सिर पर मानो लाठी लगी। केवल चंद बरद्दआ स्थिर रहा। वह विमुख नहीं हुआ। मुख नहीं मोड़ा, पैर नहीं सरकाया। मुख क्रोध से यूं सूख रहा था मानों ग्रीष्म में सूर्य के तेज से जल रात के पति के जगते (चन्द्रमा के अस्त होने के पूर्व) घर-घर में यह बात फैल गई कि दाहिम (कैमास) को ऐसा दोष लगा है कि कलंक नहीं मिटेगा।

राजमज्झि संभयउ पट्ट दरबान परद्दिठ
बहुर सब्ब सामंत मनउ लग्गिय सिर लट्ठिय
रहयउ चंद बिरदिया विमुष मुख पग न सरक्यउ
गिम्ह तेज बर भट्ट रोस जल षिनि षिनि सुक्यउ
रत्तिरी कंत जग्गंत रइ चली घर घ्घरि बत्तरी
देहिमउ दोस लग्यउ षरउ मिटइ न कलि सु उत्तरी

चंद की निर्भीकता एवं चारित्र्य-दृढ़ता का प्रमाण रासो में तब मिलता है जब कैमास की पत्नी को वचन देकर वे पृथ्वीराज से कैमास का शव उसे देने को कहते हैं। कैमास की पत्नी सती होना चाहती थी और कैमास का शव केवल पृथ्वीराज ही उसे दे सकते थे। चंदवरदाई कुपित पृथ्वीराज के दरबार में पहुँचे। बोले- पृथ्वीराज! तुम्हारी कीर्ति के कमल को कैमास वध ने कवलित कर लिया है। तुम उसका शव दे दो। इसके बाद चंदवरदाई ने जो कुछ कहा वह द्रष्टव्य है-

रावण ने भी पराई स्त्री का हरण किया था। क्रुद्ध राम ने उसे बाण से मारा (किंतु उसका शव नहीं छिपाया था) इसी प्रकार बाली का सुग्रीव ने प्राण लिया। चंद्रमा ने गुरु पत्नी से रमण किया किंतु उसके शव को पृथ्वी में किसने गाड़ा। पांडु ने सूर्य को नहीं गाड़ा (कुंती के साथ रमण करने के अपराध में) सहदेव से पूछ लो। गौतम ने इन्द्र को नहीं गाड़ा। हाँ शाप अवश्य दिया। इस दोष पर इतना रोष करना (अनुचित) है। सुनो सामरधनी। (कैमास को) मत गाड़ो।

रावन किनि गड्डियउ क्रोध रघुराय बान दिनि
बालि किनि गड्डियउ सुत सुग्रीव जीव लिय
चंद किनि गड्डियउ कीय गुरुदार सो किल्लउ
रवि न पंउ गड्डियउ पुच्छ सहदेव पहिल्लउ
गड्डियउ न इंदु गोतम रिषी बल सराप छंडिय जिनी
इह रोस दोस पृथिराज सुन मम गड्डिय सम्भर धनी

अन्ततोगत्वा पृथ्वीराज ने कैमास का शव कैमास की पत्नी को सौंप दिया। वह सती हुई। इस मनमुटाव के बाद पृथ्वीराज और चंदवरदाई गले मिले। इस मित्र-मिलन का जैसा मार्मिक चित्रण कवि ने किया है वह अनुपम है।

दोइ कंठ लग्गिय गहन नयनह जल गल न्हान
(दोनों गहन भाव से कंठ लगे। नयनों के जल से भीग कर स्नान किया)

पृथ्वीराज की वीरता का चित्रण प्रायः युद्ध के प्रत्येक प्रसंग में हुआ है। पृथ्वीराज की वीरता सामंती नैतिकता से पुष्ट है। संयोगिता विवाह के अवसर पर कनउज्ज-युद्ध में विश्वस्त सेनापतियों ने पृथ्वीराज को संयोगिता सहित दिल्ली पहुँच जाने की राय दी। पृथ्वीराज जैसा शूरवीर इसे सहन नहीं कर सका। उसने अपने सेनापतियों को उत्तर दिया-

मुझे मरण का भय दिखा रहे हो। तुम्हारी बुद्धि नष्ट हो गई है। तुम जो मुझे मृत्यु का भय दिखा रहे हो क्या वह यम की चिट्ठी के बिना संभव है। तुमने भीम को हराया इसी का तुम्हें गर्व हो गया है। मैंने, शहाबुद्दीन गोरी जैसे को हराया है। हिंदू और तुरूक दोनों मेरे शरणागत हैं उसे तुम शरणागत करना चाहते हो। तुम शूर-सामंत बूझ नहीं रहे हो। मेरे ऊपर इतना बड़ा बोझ मत रखो।

पृथ्वीराज की इस उक्ति में उसकी अकुतोभयता, दर्प, पराक्रम, औदात्य, शूर-सामंतों से आत्म भाव सब कुछ झलक रहा है। हिंदू-तुरूक दोनों मेरी शरण में हैं के कथन से शासक-योद्धा के रूप में हिंदू तुरक दोनों पर उसका समान भाव भी व्यंजित हो रहा है।

ऐसा कथन पृथ्वीराज चौहान के वीरत्व की प्रतिष्ठा करता है।

शूर-सामन्त होने के साथ पृथ्वीराज विलासी भी है। राजकुमारियों के सौंदर्य का वर्णन सुनकर वह पूर्व राग से विह्वल हो उठता है। वस्तुतः उसकी विलासिता ही उसके पराभव का - उसी के क्यों पूरी जाति के पराभव का कारण है। चंद ने पृथ्वीराज के दोषों को छिपाया नहीं है। कैमास-वध के प्रसंग में हम इसे देख चुके हैं। संयोगिता के साथ केलि-विलास के वर्णन में कवि ने स्पष्ट शब्दों में लिखा कि *संयोगिता की प्रौढ़ रति में निमग्न वह नहीं जान पाता था कि कब रात हुई कब दिन हुआ। गुरु, बंधुओं, भृत्यों, लोगों- सब की गति (राय) उसके विपरीत हो गई-*

अह निसि सुध्धि न जानहि माननि प्रौढ़ रति
गुरु बंधव, भृत, लोइ भई विपरीत गति

पृथ्वीराज-चंदवरदाई का साथ कृति में प्रायः सर्वत्र है। जब जब पृथ्वीराज पर कोई संकट पड़ता है या वह सन्मार्ग से विचलित होता है, चंदवरदाई उसे निर्भीक सलाह देता है, सच्चे शुभचिंतक मित्र की भांति। मध्यकाल के वातावरण में चन्दवरदाई का ऐसा दीप्त चरित्र अद्वितीय है। इस प्रसंग में सर्वाधिक मार्मिक एवं करुण स्थिति उस समय दिखलाई पड़ती है जब ग़जनी के कारागार में अंधे पृथ्वीराज की भेंट चंदवरदाई से होती है। डॉ. नामवर सिंह ने **रासो** के इस प्रसंग की मार्मिकता पर विचार करते हुए लिखा है-

... वह प्रसंग कितना मार्मिक है जब अंधा नरेश अपने प्रिय सहचर चंद का स्वर सुनता है। पहले वह पहचान नहीं पाता। फिर थोड़ी देर बाद स्वर के सहारे पहचान लेता है। उल्लास होता है, लेकिन फिर न जाने कितने भाव मन में उठते हैं। शायद यह कि आज इस विरुद के उपलक्ष्य में पहले की तरह पुरस्कार देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है। शायद यह कि आज यह विरुद व्यंग्य की तरह चुभता है, शायद यह कि अपना यह विपन्न रूप चंद को दिखाने के लिए मैं क्यों जीवित हूँ, शायद यह कि डूबते को तिनके का सहारा मिला और बहुत दिनों के बाद परदेश में स्वजन का स्वर सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पृथ्वीराज कुछ नहीं बोलता; केवल -

नेहनीर रुकि कंठ कवि, नैन भाल झलझझल पानि।
बिन बोलत बोल्यो नृपति चंद चिंति बरबानि।।

(पृथ्वीराज रासो भाषा और साहित्य)

यहाँ 'बिन बोलत बोल्यो नृपति, वह सब कुछ कह देता है जो राजा के मन में है। पृथ्वीराज ही नहीं चंद के मन की व्यथा भी वह प्रकट कर देता है। अनुभूति की असीमता को शब्दों का अपव्यय नहीं मौन एवं शब्द संयम व्यंजित करता है। कबीर, तुलसी, सूर निराला की भाँति चंदवरदाई भी इसे जानते थे इसी-लिए सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग में शब्दों का नहीं मौन का उपयोग किया-

बिन बोलत बोल्यो नृपति

कनवज्ज समय

रासो का एक महत्वपूर्ण अंश है **कनवज्ज-समय**। पृथ्वीराज चौहान और जयचंद में वैर था। कन्नौज जयचंद की राजधानी थी। जयचंद अपने समय में उत्तरी भारत का सम्भवतः सबसे बड़ा शासक था। उसकी उपाधि दल पंगुर थी। 'दल पंगुर' अर्थात ऐसा नरेश जिसकी सेना इतनी विशाल हो कि उसे प्रयाण न करना पड़े। जहाँ आक्रमण करना हो वहाँ तक सेना ही रहे, यानी जिसकी सेना चलती न हो, पंगु हो।

किंतु पृथ्वीराज किसी से नहीं दबता था। उसने सुना कि जयचंद ने राजसूय यज्ञ किया जिसमें उसने पृथ्वीराज की प्रतिमा यज्ञ-सभा के द्वार पर स्थापित कर दी। जयचंद की पुत्री संयोगिता ने पृथ्वीराज के रूप-पराक्रम की गाथा सुन रखी थी। उसने जयमाल पृथ्वीराज के गले में डाल दी। जयचंद ने यह सुना तो उसे क्रोध हुआ और उसने अनेक दासियों के साथ संयोगिता को गंगा तट पर स्थित एक महल में रहने की व्यवस्था करा दी।

पृथ्वीराज यह समाचार सुनकर अपमान से दग्ध हो उठा। साथ ही साथ उसके हृदय में संयोगिता के प्रति अनुराग का भाव भी अंकुरित हुआ। चंदवरदाई को साथ लेकर वह कन्नौज जाने के लिए उद्यत हुआ। यहाँ कवि ने कौशल से षड्ऋतु वर्णन का अवसर निकाल लिया है।

पृथ्वीराज एक एक करके अपनी रानियों से कन्नौज जाने की आज्ञा माँगता है। प्रत्येक रानी उसे एक ऋतु भर रोक लेती है। अनिवार्यतः यह संख्या छह होनी थी। क्योंकि ऋतुएँ छह ही होती हैं। पृथ्वीराज सबसे पहले बड़ी रानी इंछिनी के पास जाते हैं। इंछिनी क्या उत्तर दे। उत्तर और प्राण दोनों कंठ में एक साथ आ गए। कंठावरोध हो गया-

प्रान ज्वाब दोनों चलै आन अटवकै कंत

ऋतु वसंत की थी। बड़ी रानी इंछना ने कहा आम की मंजरी आ गई है, कदम्ब फूले हैं, रातें दीर्घ हैं। भ्रमर मकरंद पान में मग्न भ्रमित होकर इधर उधर गुंजार रहे हैं। वायु बहती हुई विरहाग्नि का ताप दे रही है। कोकिल कुहू कुहू बोलकर रति की आग लगा रही है। हे नाथ! पैरों पड़ती हुई विनती करती हूँ। मेरे प्रति स्नेह का भाव धारण करो; यौवन का काल दिनों दिन घट रहा है, वसंत में गमन मत करो

भवरि अंब फुल्लिग कदंब रजनी दिघ दीसं।
भयर भाव भुल्ले भ्रमंत मकरंदय सीसं॥
बहत बात प्रज्जलति मौर अति विरह अगिन किय।
कुह कुहंत कल कंठ पत्र रावस रति अग्गिय॥
पय लग्गि प्रान पति बीनवौं नाह नेह मुझ चित धरहु।
दिन दिन अवद्धि जुटवन घटिय कंत वंसत गम करहु॥

इसी प्रकार उन्हें प्रत्येक रानी एक एक ऋतु में रोक लेती है। अब पृथ्वीराज गमन करें तो कैसे। कहीं भी जाएंगे कोई न कोई ऋतु तो होगी ही। ऐसे संकट से उन्हें चंदवरदाई ही उबार सकते थे। चंदवरदाई ने 'रितु' को ही इससे उबरने का रास्ता भी बना दिया। ऋतु शब्द का उपयोग स्त्रियों के मासिक धर्म की स्थिति के लिए भी होता है। चंद ने रास्ता सुझाया

रोष भरै उर कामिनी, होइ मलिन सिर अंग।
उहि रिति त्रिय न भावई सुनि चुहान चतुरंग॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक रानी से कन्नौज जाने की आज्ञा लेना षड्ऋतु वर्णन का बहाना है। कवि किसी न किसी छल से षड्ऋतु वर्णन की कथानक रूढ़ि का निर्वाह करना चाहते हैं।

रासो के अनुसार संवत् ग्यारह सौ एक्कानवे में चैत की तृतीया को रविवार के दिन पृथ्वीराज ने कन्नौज की ओर प्रयाण किया। रास्ते में कालिन्दी (यमुना) मिली। शुभ शकुन हुए। आगे चल कर गंगा पड़ती है। कवि गंगा की स्तुति त्रिभंगी छंद में करता है। प्रातः काल कन्नौज नगर दिखाई पड़ा। कवि को यहाँ उद्यान वर्णन एवं नगर वर्णन की कथानक रूढ़ि के पालन का अवसर मिलता है।

चंद पहले उद्यान का वर्णन करते हैं। उसमें नाम परिगणन भी है और अनूठा सादृश्य-विधान भी। उद्यान-वर्णन के उपरान्त नगर वर्णन है। कन्नौज में रत्नों, मोतियों,मणियों की दूकानें हैं। नाके-नाके पर तमोली हैं, पान खाकर थूकने से कीचड़ सा हो गया है। कवि कहता है कि नगर वर्णन करने लगूंगा तो बहुत देर हो जाएगी इसलिए जयचंद के द्वार चलें। पृथ्वीराज एवं चंद को हज़म (कोतवाल) मिलता है जो उन्हे दरबार में पहुंचाता है। जयचंद को देखकर चंद अपने हाथ उठाकर उन्हें आशीर्वाद देता है। इसके पश्चात जयचंद और कवि का संवाद मनोरंजक एवं विदग्धतापूर्ण है। जयचंद कवि चंद के बरदिया उपाधि पर श्लेष-व्यंग्य (बरदाई और बरध बैल) करता हुआ पूछता है-

मुह दरिद्र अरु तुच्छ तन जंगल राव सु हद्द।
बन उजार पसु तन चरन, क्यों दूबरो बरद्द॥

मुख मंडल से दारिद्रय टपकता है, शरीर क्षीण है जंगल की सीमा पर रोक है? वन उजड़ गया है पशु चर नहीं पाता। क्या कारण है कि बर्द (बैल - बरदिया) दुबला है?

चंद ने उत्तर दिया-

पृथ्वीराज ने दुष्ट शत्रुओं को पराजित किया। वे वन में पले, डाल, मूल, वृक्ष पकड़ कर छिप गए। अनेक दातों में तिनके दूब रखकर चौहान की शरण में गए। इससे पत्तों दूबों की कमी पड़ गई और बर्द दुबला हो गया- आदि

जयचंद ने पृथ्वीराज के विषय में प्रश्न किया - वह कैसा है, उसकी सेना कितनी बड़ी है। चंद ने पृथ्वीराज की उम्र बताई- बरस तीस छह अग्गरौ- छः वर्ष आगे तीस यानी छत्तीस। इसी बीच दरबार में एक नाटकीय घटना घटी। पृथ्वीराज की एक दासी जयचंद के यहाँ रहने लगी थी। वह केश खोले रहती थी। किंतु पृथ्वीराज को देखते ही उसने सिर ढांक लिया। जयचंद को शंका हुई कि यह व्यक्ति पृथ्वीराज तो नहीं है। लोग तरह तरह की बातें करने लगे। किसी ने कहा कि चंद को देखकर दासी ने सिर ढंका क्योंकि चंद पृथ्वीराज का अभिन्न है। चंद और पृथ्वीराज को एक सुसज्जित आवास में ठहराया गया। किंतु अन्ततोगत्वा पृथ्वीराज पहचान लिया जाता है और जयचंद पृथ्वीराज पर आक्रमण करने की आज्ञा देता है।

पृथ्वीराज और संयोगिता का मिलन इसी युद्ध की पृष्ठभूमि में होता है। पृथ्वीराज सामंतों से युद्ध क्षेत्र में जाने के लिए कहता है और स्वयं नगर देखने निकल पड़ता है। इधर जयचंद की सेना ने हाथियों घोड़ों सहित आक्रमण किया उधर पृथ्वीराज ने नगर घूमने का ध्यान किया और गंगा तट पर जा पहुँचा

इते सेन चढ़ि पंगबर है गै दिसा निसान
लच्छिन नैर नरिदं करि गंग सुपलौ ध्यान

पृथ्वीराज मछलियों को मोती चुगा रहा था। सखी ने झरोखे से देखा। उसने संयोगिता से बताया। संयोगिता पृथ्वीराज को देखकर विह्वल हो गई।

मदन ने उसे सरल व निरीह बना दिया। जिह्वा से प्राणेश को रटती है। नयनों से अश्रु प्रवाहित हो रहा है। वामा को कंत कैसे/किस प्रकार मिले?

मदनं सरलति विविण जिव्हा रटयति प्रान प्रानेस।
नयन प्रवाहति विवहा अह वामा कंत कथ्थयं।।

संयोगिता पृथ्वीराज से गंगा तट पर ही मिलती है। पृथ्वीराज संयोगिता को घोड़े पर बिठाना चाहता है। तो उसे संकोच होता है भविष्य के प्रति नारी-सुलभ डर भी कि चौहान आजीवन (भीर परत) उसका साथ देगा? मैं पिता की सारी सेना के सामने घोड़े की पीठ पर कैसे बैठूं।

किम हय पुट्ठिहि आर हौं घटि दल संगह राज।
भीर परत जो तजि चल्यौ तव मो आवै लाज।।

संकट पड़ने पर जब पृथ्वीराज मुझे तज चलेगा तब मुझे इस से लज्जा आएगी सब के सामने। पृथ्वीराज ने समझाया- मन को अब भारी मत करो। मैं जयचंद की समस्त सेना का संहार कर दूँगा। सुंदरी तब तुम्हें घोड़े पर बैठते समय लज्जा नहीं आएगी।

तब हसि जंप्यो नृप बयन गहर न कीजिय अब्ब
सब्ब पंग दल संहरौ सुंदरि लाज न तब्ब

इसके बाद संयोगिता कुछ सोच समझ रही थी कि पृथ्वीराज ने उसे बांह से पकड़ कर घोड़े पर बिठा लिया। संयोगिता घोड़े पर पृथ्वीराज की पीठ से सट कर बैठ गई। मानों पूर्ण चंद्रमा सूर्य के साथ जुड़ कर बैठ गया हो-

हय संजोगि आरुहिय पुट्ठि लग्गी सो वाम नृप
पति राका पूरन प्रमान अरक बैठे सु सूर बिप

इसके बाद पृथ्वीराज और जयचंद की सेनाओं के बीच युद्ध का विशद वर्णन है। अंत में पृथ्वीराज संयोगिता को लेकर दिल्ली पहुंचते हैं जहाँ उनका विधिवत विवाह होता है। तदुपरान्त कवि उनके केलि-विलास का जमकर वर्णन करता है।

2.2.2 युद्ध और शृंगार

रासो में प्रायः युद्ध और शृंगार दोनों का वर्णन साथ-साथ होता है। इसी ढांचे में कहा-कहीं कवि जीवन के यथार्थ एवं मार्मिक चित्र प्रस्तुत कर देता है। निस्संदेह चंद के काव्य-मूल्य सामंती हैं किंतु अपने देश काल को देखते हुए चंद मानवतावादी कवि हैं। उनकी निर्भीकता का परिचय हम 'कैमास-वध' के प्रकरण में पा चुके हैं। कैमास की पत्नी अपने पति का शव माँगने जब जाती है तब उसकी उक्तियों में निर्वेद का ऐसा औदात्य मिलता है जो अन्यत्र शायद ही कहीं मिले। वह कहती है कि जीवन ही सभी कार्यों और आन्तरबाह्य चेष्टाओं का आधार है। जिसे अपना जीवन मूल्यवान लगता है उसे नृपति के वचनों का बहुत भय रहता है। किंतु अब तो मेरे लिए सरोवर सूख गया, हंस अपने पंखों को समेट कर उड़ गया। अर्थात मेरे पति की मृत्यु हो जाने के बाद मेरे लिए जीवन निस्सार हो गया है अब मुझे प्राणों का क्या भय - अब मुझे पृथ्वीराज का कोई डर नहीं

जउ जीवन साई अप्पन उ नृपति बहुत बच्चनह भउ
सुक्क सरोवर हंस गउ सुकिलि उडड़ अंधार भउ

चंदवरदाई वीरता की अभिव्यक्ति केवल युद्ध-वर्णन में ही नहीं करते। वे वीरता को आन्तरिक गुण मानते हैं। संकट के समय जब शूर-सामन्त पृथ्वीराज को सकुशल दिल्ली चले जाने का आग्रह करते हैं तब चौहान उनसे कहता है कि मैंने ऐसा पाठ नहीं पढ़ा है। कन्ह चाचा की वीरता का चित्रण कवि इस बिम्ब के द्वारा देता है -

मुख छुट्टत नृप बैन दिट्ठ दिष्यौ धावन्तं।

पृथ्वीराज के मुख से निकले हुए वचन सुनाई पड़ने के साथ ही आंखों ने शत्रु पर कन्ह को आक्रमण करने के लिए दौड़ते हुए देखा।

रासो का काव्योत्कर्ष शृंगार के क्षेत्र में वीरता से कम नहीं। चंद वयस्संधि वर्णन में परम निपुण हैं। यहाँ भी वे नायिका के शरीर का ही नहीं उसके मनोभावों का भी चित्रण करते हैं। चंद प्रायः ऐसा चित्रण-वर्णन करते हैं कि पात्र के शरीर और मन का चित्रण एक साथ हो जाता है। यह शृंगार वर्णन की दृष्टि से चंद की विशेषता है।

कवि ने शशिव्रता के कैशोर आगमन का चित्रण शिशिर में अचानक वसंत आ जाने के बिम्ब-रूपक से किया है-

पुराने पत्ते झड़ गए। कोमल अंकुर निकलने लगे। शैशव उतर रहा है और कैशोर चढ़ रहा है। शीतल मंद सुगंध वायु के साथ अचानक ऋतुराज आ गया। रोमराजि, कुच, नितम्ब कोमलता वृद्धि पा गए। शीत के समान कटि बढ़ती नहीं बल्कि निरंतर क्षीण हो रही है। पत शब्द का श्लेष करते हुए कवि कहता है- (पत - पत्ता और मर्यादा, लज्जा)

पत्ते ढंक नहीं पाते तने को, वह प्रयास करने पर भी शरीर को ढंक नहीं पाती। वसंत ने वन को मत्त जो कर रखा है, कैशोर ने शशिव्रता के मन को मतवाला कर दिया है:

पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठि तुछ।
ज्यों सैसव उत्तरिय चढ़िय बैसव किसोर कुछ।।
सीतल मंद सुगंध आइ रितुराज अचानं।
रोमराइ अंग कुच नितम्ब तुच्छ सरसानं।।
बढ़ढै न सीत कटि छीन ह्वै लज्जामान ढकत फिरै।
ढक्कहं न पत्त ठकै-कहै वन बसंत मत्त जु करै।

पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता को घोड़े पर चढ़ाते और संयोगिता के लजाने का भी कवि ने मार्मिक चित्रण किया है। इस प्रसंग पर टिप्पणी करते हुए डॉ. नामवर सिंह लिखते हैं, 'प्रणय का प्रस्फुटन कर्म क्षेत्र में ही होता है, जहाँ युगल हृदय एक-दूसरे को सहयोग देते हुए परस्पर श्रमसिक्त मुख देखते चलते हैं।'

2.2.3 पात्र चित्रण

चंद की विशेषता यह है कि वे पात्रों की दुविधा का चित्रण करना नहीं भूलते। चाहे वयस्संधि नायिका की दुविधा हो, चाहे पृथ्वीराज के साथ दिल्ली जाने के लिए घोड़े पर बैठती संयोगिता की दुविधा। माता-पिता का घर छोड़कर पृथ्वीराज से मिलने के लिए मंदिर जाने की तैयारी करती हुई शशिव्रता के मन का द्वंद्व द्रष्टव्य है।

देव (गुरुजन, माँ-बाप) को छोड़ने का दुःख और दूसरी तरफ हृदय में प्रेम-अंकुर का जन्म लेना, इस दुविधा से शशिव्रता ने अपने को यह कह कर सांत्वना दी कि काल बलवान है-

दुख देवल को छँउनइ उर सिंचन अंकूर
दीह काल बल बीच वदि लिय समान सपूर

इसी प्रकार कितना मनोवैज्ञानिक है कवि का यह चित्रण, पृथ्वीराज ने जब पहली बार शशिव्रता का हाथ पकड़ा तो-

गहत बाल पिय पानि सु गुर जन संभरे
लोचन मोचि सुरंग सु अंसु बहे खरे
अपमंगहं जिय जानि सु नैन मुख बहीं
मनो खंजन मुख मुत्त मरक्कत नरंवही

जब प्रिय पृथ्वीराज ने बाला का हाथ पकड़ा तो उसने अपने गुरुजनों (माता-पिता, मायके के लोगों) का स्मरण किया। सुंदर नेत्रों से आँसू बहने लगे। लेकिन उसने इसे अशुभ समझकर रोका। कुछ आँसू आंखों के कोनों में लगे रहे (तुलनीय- लोचन जल रह लोचन कोना- तुलसी)।

चंद ने उपमा दीः

मानों खंजन मोती खा रहा हो कुछ मुंह में लगे हैं कुछ नीचे गिर रहे हैं।

2.2.4 प्रकृति वर्णन

कवि प्रकृति वर्णन में सिद्धहस्त है। कनवज्ज समय के षट्-ऋतु वर्णन से आप परिचित हो चुके हैं। यह षट्-ऋतु वर्णन आरोपित न होकर मानव कार्य व्यापार का अंग बनकर आया है। उनके प्रकृति-वर्णन में खास बात यह होती है कि वे प्रकृति का ऐसा चित्रण करते हैं कि उससे पात्रों की तत्कालीन मनःस्थिति का चित्रण हो जाता है। कैमास अंधेरी रात में कर्णाती के साथ केलि-विलास में निमग्न है। घोर अंधकार है, मूसलाधार वर्षा हो रही है। इस स्थिति के वर्णन में कवि के बिम्बों पर ध्यान दीजिए तो प्रकृति-वर्णन के साथ संयोग-शृंगार में मन और शरीर दोनों की चेष्टाओं की अकुंठ व्यंजना मिलेगी-

अंधारेन जलेन छिन्न छितया तारानि धारा रत।
सा मंत्री कयमास काम अंधा दैवो विचित्र गत।।

अंधकारपूर्ण रात में पृथ्वी घनघोर वर्षा से छिन्न-भिन्न विदीर्ण हो रही है। तारे भी मूसलाधार वर्षा में छिपे हैं। वह मंत्री कैमास कामांध है। दैव की गति विचित्र है। पृथ्वी का घनघोर वर्षा से विदीर्ण होना घोर शृंगार का संकेत है। वर्षा में तारे छिपे हैं। इधर कैमास भी कामांध है। जिसे आधुनिक आलोचना कविता में समानान्तरवाद (पैरेलेज्मि) कहती है यह उसका उत्कृष्ट उदाहरण है। इस वर्णन के बाद कवि मानो दृश्य से तटस्थ हो गया है और व्यंगात्मक टिप्पणी करता है- दैव की गति विचित्र है- - दैवो विचित्रा गति। पर्य्यावसान एक प्रकार के भाग्यवादी अवसाद में होता है। सा मंत्री कयमास काम-अंधा। ऐसा योग्य और कर्तव्यपरायण मंत्री विवेकहीन हो गया यह दैव-गति की विचित्रता नहीं तो और क्या है?

पृथ्वीराज रासो के दो प्रमुख प्रसंगों - कैमास वध और कनवज्ज समय - के विश्लेषण के माध्यम से हमने **पृथ्वीराज रासो** की विषय वस्तु, कथानक, पात्र चित्रण, प्रकृति वर्णन आदि कुछ महत्वपूर्ण विषयों की चर्चा की। इस चरित काव्य के केंद्र में **पृथ्वीराज रासो** है। उसी की कथा इस महाकाव्य के माध्यम से कही गई है। इस कथा में इतिहास का उल्लंघन हो गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि कवि मानवीय सत्यों का अन्वेषक होता है वह इतिहास नहीं लिख रहा होता। कवि चंद ने अपने चरितनायक का चित्रण करते वक्त उसकी कमजोरियों को छिपाया नहीं है। कैमास-वध प्रसंग में कवि की निर्भीकता द्रष्टव्य है।

कनवज्ज समय में अनेक मार्मिक प्रसंग आए हैं। कनवज्ज समय में वर्णित षट्-ऋतु वर्णन हिंदी साहित्य की अनुपम धरोहर है। कवि ने उस युग की समृद्ध नगरी कान्यकुब्ज के सौंदर्य का वर्णन विस्तार से किया है। इसमें कवि की उपमा शक्ति देखने लायक है। राजा जयचंद के राजदरबार में चंदबरदाई के साथ छद्म वेश में पृथ्वीराज के जाने की घटना भी नाटकीयता से भरपूर है। इसके बाद गंगा के किनारे संयोगिता और पृथ्वीराज का मिलन अद्भुत है। कवि भला कब चूकने वाला था!

चंदवरदाई की कल्पना शक्ति और मनोवैज्ञानिक स्थितियों के चित्रण की क्षमता का परिचय आपने प्राप्त कर लिया। आइए अब **पृथ्वीराज रासो** की भाषा पर विचार किया जाए।

2.3 काव्य कौशल

निस्संदेह चंदवरदाई एक कुशल कवि हैं। उनका काव्य कौशल इसका स्पष्ट प्रमाण है। भाषा पर उनका अधिकार असाधारण है। उन्होंने पहले से चली आ रही काव्य परंपरा को एक ऊँचाई प्रदान की।

कवि में भावों के अनुरूप भाषा को मोड़ने की अद्‌भुत क्षमता है। बाद में कबीर और तुलसी में यह क्षमता फिर से देखने को मिलती है। भावानुकूलता और तीव्र सौंदर्यात्मकता चंद की भाषा की प्रमुख विशेषता है।

2.3.1 छंद

चंदवरदाई छंद के राजा माने जाते हैं। जैसे-जैसे भाव बदलते जाते हैं वैसे-वैसे कवि छंद की राह बदलता चलता है और आरोह-अवरोह के साथ भाषा संगीतमय लय में गुनगुनाती हुई ठुमकती चलती है। इससे एक संगीत पैदा होता है। चंदवरदाई छंदों के अधिकारी कवि हैं। उन्होंने अपने समय में प्रचलित अधिकांश छंदों का प्रयोग किया है। सबसे ज्यादा मन लगता है छप्पयों में। चंद मार्मिक चित्रण छप्पयों में करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे अन्य छंदों में मार्मिक उक्तियाँ नहीं कहते। गाथा का उपयोग वे प्रायः कथा को आगे बढ़ाने के लिए करते हैं।

2.3.2 अनुनासिकता

रासो का कवि अनुनासिक प्रयोग से प्रायः झंकार उत्पन्न करता है। चाहे शृंगार हो या वीर यह अनुनासिक झंकार **रासो** में अबाध गति से सुनाई पड़ती है। झंकार स्थिति को ध्वनित करके गुंजा देता है। यह प्रवृत्ति तुलसीदास में भी मिलती है। इसी प्रकार द्वित्व व्यंजनों का प्रयोग प्रधानतः युद्ध वर्णन में और सामान्यतः सर्वत्र मिलता है। **रासो** का कवि अपने समय की काव्य-परंपरा का रस सिद्ध कवि है। उसने स्वयं लिखा है-

रासउ असंभु नव रस सरस छंदु चंद किय अमिय सम।
शृंगार बीर करुन बिभच्छ मय अद्‌भुतइ संत सम।।

2.3.3 ध्वनि प्रवाह

चंद की काव्य भाषा में अनुस्वार द्वित्व मिश्र की ध्वनियाँ प्रवाह-अवरोध नहीं करतीं! वे चंद के कुशल हाथों अभूतपूर्व प्रवाह उत्पन्न करती हैं। प्राकृत-अपभ्रंश की काव्य परंपरा में चंद का ध्वनि-प्रवाह अद्वितीय है। ध्वनि-प्रवाह अपभ्रंश के महान कवि स्वयंभु में चंद से कम नहीं किंतु चंद का काव्य-प्रवाह द्वित्व एवं अनुस्वार के साथ गूंजता हुआ गतिशील होता है। चंद चाहे देवी देवताओं की स्तुति करें, युद्ध का वर्णन या नारी-शरीर का सौंदर्य या विनोद - यह अनुस्वार द्वित्व सहित प्रवाह सर्वत्र दिखलाई पड़ता है। वे वर्णानुप्रास के भी सिद्ध कवि हैं। उनके भाव नाद-प्रवाह में रूपांतरित हो जाते हैं- जिसे हमारे साहित्य शास्त्रियों ने शब्दार्थ का सहित त्व कहा है। काव्य के प्रारंभिक अंश में सरस्वती वंदना में स्वर व्यंजनों की मैत्री से उत्पन्न ध्वनि की आवर्तें चंद की शैली का ठेठ उदाहरण हैं।

मुलाहार विहार सार सुबुधा अब्धा बुधा गोपिनी
सेतं चीर सरीर नीर गहिरा गोरी गिरा जोगिनी
बीना पानी सुबानि जानि दधिजा हंसा रसा आसिनी
लंबोजा घिहुरार भार जघना बिघ्ना घना नासिनी

जरा सा ही विचार करने पर ज्ञात हो जाएगा कि यह प्रवाह चाहे जितना स्वाभाविक लगे, इसके पीछे गहरा लोक-ज्ञान, परंपरा ज्ञान, संवेदना एव अभ्यास है।

'कनवज्ज समय' में युद्ध के इस वर्णन में युद्धमत्त सैनिकों के हथियारों और कोलाहल का निनाद

बजंत धाय सद्दकं ननद्द सद्द सुंदर।
गरब्बि देखि अग्गि ज्यों विदोष मन्न जे दुरं।।
उठंत दिष्ट सुर की करूर अंखि राजई।
मनो कि सौकि बीय दिष्ट बंकुरीति साजई।।

चंदवरदाई रूढ़ उपमानों के उपयोग से सौंदर्य वर्णन में शृंगार को अद्भुत से पुष्ट भी कर सकते हैं। प्रसंग पृथ्वीराज द्वारा संयोगिता का प्रथम दर्शन है। पृथ्वीराज ने देखा-

कुंजर के ऊपर सिंह। सिंह के ऊपर दो पर्वत। पर्वत पर भौरें। भौरों पर चन्द्रमा। चन्द्रमा के ऊपर एक तोता बैठा है। जिस पर दो हिरण है हिरन पर दो धनुष और धनुष पर कंदर्प

कुंजर उप्पर सिंघ, सिंघ उप्पर दुइ पव्वय।
पव्वय उप्पर भृंग भृंग उप्पर ससि सुभ्भय॥
ससि उप्पर इक कीर कीर उप्पर मृग दिट्ठौ।
मृग उप्पर कोवंड संघ कन्द्रप्प वयट्ठौ॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि ये नख-शिख के रूढ़ उपमान हैं जिन्हें चंद ने अपने ढंग से प्रस्तुत करके अद्भुत को शृंगार का सहायक बना दिया है। इसी प्रकार वे यथाअवसर वीभत्स और भय को वीर का सहायक बनाते हैं।

2.4 सारांश

रासो का हिंदी साहित्य के इतिहास में अविस्मरणीय स्थान है। **रासो** अपनी पूर्ववर्ती परधारा और परवर्ती साहित्य-विकास का सेतु है। उसमें पूर्ववर्ती काव्य-प्रवृत्तियों का संधान मिलता है तो परवर्ती प्रवृत्तियों के रूप। **पृथ्वीराज रासो** के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. नामवर सिंह ने ठीक ही कहा है-

> **रासो** मानव जीवन की विविध परिस्थितियों और भाव दशाओं का महासागर है। यही वह विशेषता है जिससे युग के सभी काव्यों में **रासो** को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। निश्चय ही यह उस युग की सांस्कृतिक परिस्थितियों तथा पूर्व परम्पराओं का बृहद्कोश है और मध्ययुगीन भारतीय समाज का एक काव्यात्मक इतिहास है।

इस इकाई में हमने **पृथ्वीराज रासो** के काव्यत्व पर विचार किया। दो इकाइयों में हमने **पृथ्वीराज रासो** का अध्ययन किया। पहली इकाई में हमने **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता पर विचार किया था। इस संदर्भ में हमने कहा था कि **पृथ्वीराज रासो** का मूल्यांकन एक काव्य-ग्रंथ के रूप में किया जाना चाहिए न कि एक इतिहास-ग्रंथ के रूप में। दूसरी इकाई में **पृथ्वीराज रासो** के काव्यत्व पर विचार करते हुए हमने पाया कि **रासो** एक उत्कृष्ट रचना है। सामंती मूल्यों से ग्रस्त होने के बावजूद इसमें मानवीय क्रिया कलापों का स्वच्छंद, निर्भीक, यथार्थपरक और मार्मिक चित्रण किया गया है।

2.5 अभ्यास/प्रश्न

1. पृथ्वीराज रासो में वर्णित प्रसंगों का उल्लेख कीजिए।
2. कैमास वध में कवि की निर्भीकता किस प्रकार प्रकट हुई है?
3. कनवज्ज समय के षट्-ऋतु वर्णन का क्या महत्व है?
4. चंद को छंद का राजा क्यों कहा जाता है?

इकाई-3 विद्यापति और उनका युग

इकाई की रूपरेखा

3.० उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 विद्यापति का युग
  3.2.1 राजनीतिक परिस्थिति
  3.2.2 सामाजिक स्वरूप
  3.2.3 इतिहास
3.3 विद्यापति की भाषा
  3.3.1 जन भाषा का निर्माण
  3.3.2 भाषागत विशेषताएँ
3.4 सारांश
3.5 अभ्यास/प्रश्न

3.0 उद्देश्य

पिछली दो इकाइयों में आपने **पृथ्वीराज रासो** की प्रामाणिकता, ऐतिहासिकता, भाषा, काव्यरूप और काव्यत्व का अध्ययन किया। अब हम आदिकाल के एक प्रमुख कवि **विद्यापति** का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- विद्यापति के साहित्य में राजनीति, समाज और इतिहास का परिचय प्राप्त कर सकेंगे, और
- विद्यापति की भाषा की उर्वरता की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

हिंदी साहित्य के आदिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रंथ **पृथ्वीराज रासो** से आप पिछली दो इकाइयों में परिचित हो चुके हैं। इससे आपको आदिकालीन काव्य की एक विशिष्ट शैली की जानकारी मिली। हिंदी साहित्य के आरंभिक युग में कई शैलियाँ और धाराएँ एक-साथ विकसित हुईं। इस युग में महाकाव्य भी लिखे गए और मुक्तक भी, प्रशस्ति काव्य भी रचे गए और शृंगार काव्य की भी रचना की गई, सिद्ध-नाथों ने भी काव्य रचा और जैन-मुनियों ने भी साहित्य की रचना की। इसी युग में विद्यापति कविताएँ लिख रहे थे। विद्यापति का युग आदिकाल के अवसान का युग था। भक्तिकाल का आरंभ नहीं हुआ था और आदिकाल की क्षमताएँ चुक रही थीं। दहलीज पर खड़ा कवि आदिकाल की पूरी परम्परा से जुड़ा था और नए युग के आगमन का संकेत भी दे रहा था। इसीलिए **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** जैसे प्रशस्ति काव्य ग्रंथ लिखे गए, "पदावली" जैसी शृंगारिक उक्तियाँ अभिव्यक्त की गईं और राधा तथा कृष्ण का स्मरण कर कवि ने बता दिया कि आने वाला युग भक्ति को समर्पित है। विद्यापति की इस व्यापकता में विविधता, नूतनता और प्रयोग भी परिलक्षित हो सकता है और कहीं-कहीं इन सभी प्रवृत्तियों के बीच अंतर्विरोध भी नज़र आ सकता है।

विद्यापति की रचनाओं में उनका युग प्रतिबिम्बित हुआ है। **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** इतिहास के दस्तावेज़ हैं। **पृथ्वीराज रासो** के समान इसमें प्रक्षेप नहीं हुआ है, अतः ऐतिहासिक भूलें नहीं की गई हैं। सभी तथ्य इतिहास-सम्मत हैं।

विद्यापति की भाषा अपभ्रंश से छूटती हुई और आधुनिक आर्यभाषाओं की ओर बढ़ती हुई भाषा है। उनकी भाषा जन-भाषा है। संस्कृत, फारसी, प्राकृत आदि स्रोतों से कवि ने शब्द ग्रहण अवश्य किया है परंतु उसे ज्यादा से ज्यादा जन-भाषा मैथिली के नज़दीक ले जाने का प्रयास किया है। सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से उनकी भाषा सामासिक संस्कृति के भाषाई विकास का प्रमाण प्रस्तुत करती है।

3.2 विद्यापति का युग

इतिहासकारों के बीच प्रायः मान्य है कि विद्यापति सन 1360 से 1480 के बीच मौजूद थे। अनेक दृष्टियों से यह संक्रमण-काल माना जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विद्यापति को न तो वीरगाथाकाल में रखा है और न भक्ति काल में। अनेक इतिहासकारों ने आचार्य शुक्ल की इतिहास-लेखन पद्धति की आलोचना करते हुए इसी बात को अपना दृष्टांत बनाया है कि इतिहास में विद्यापति का स्थान तय करने के लिए आचार्य शुक्ल को फुटकल खाता खोलना पड़ा। लेकिन, यह ऐतिहासिक वास्तविकता है कि विद्यापति संक्रमण-काल के कवि हैं। विद्यापति की रचनाओं की अंतर्कथा एवं अंतर्वस्तु पर तथा साहित्य, समाज और राजनीति के इतिहास पर ध्यान देने से संक्रमण की प्रक्रिया और विद्यापति की रचनात्मक विशेषताओं के बीच घना संबंध दिखायी पड़ता है। प्रवृत्तियों की दृष्टि से वे हिंदी साहित्य के इतिहास में न वीरगाथा के कवि हैं और न भक्ति आंदोलन के। यों **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** में भी उन्होंने अपने चरित नायकों की वीरता का वर्णन किया है और वह वर्णन रोमांचक वीरता से भरपूर है और उनके पूरे काव्य में भक्ति के भी ढेर सारे पद हैं। भक्ति भावना होने के बावजूद वे भक्ति आंदोलन के अंग नहीं हैं, क्योंकि उनकी भक्ति-भावना में आंदोलन की चेतना नहीं है। इन बातों से परे विद्यापति मूलतः शृंगारिक कवि हैं। जो लोग विद्यापति की पदावली का भक्तिपरक अर्थ निकालने की कोशिश कर रहे थे, उन पर व्यंग्य करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने "इतिहास" में कहा था कि आजकल आध्यात्मिकता के चश्मे बहुत सस्ते हो गए हैं। अतः विद्यापति की मूल प्रवृत्ति और उनके समय की विकासमान प्रवृत्ति में एक तरह से अंतर्विरोध था। यही साहित्यिक एवं ऐतिहासिक कारण है कि आचार्य शुक्ल उन्हें फुटकल खाते में रखते हैं। इससे विद्यापति का काव्यात्मक या ऐतिहासिक महत्व कतई कम नहीं होता, बल्कि उनकी विशिष्टता ही प्रमाणित होती है। वे युगांतर के कवि थे।

3.2.1 राजनीतिक परिस्थिति

विद्यापति के समय में भारत में आम तौर से दिल्ली सल्तनत का राज था। इसे स्पष्ट रूप से कहा जाए कि विद्यापति के जीवन-काल में दिल्ली पर तुगलक और लोदी वंश का शासन था। ज़ाहिर है कि विद्यापति के जन्म के बहुत पहले भारत में इस्लाम का आगमन हो चुका था और दिल्ली सल्तनत भी बहुत पहले स्थापित हो चुका था। भारत की जनता ने काफी पहले दिल्ली सल्तनत को स्वीकार कर लिया था, बावजूद इसके कि पूरे देश पर दिल्ली सल्तनत का प्रत्यक्ष शासन नहीं था। लेकिन व्यवहार में उनका प्रभुत्व देश पर था। देशभर में फैली स्थानीय सत्ताएं सल्तनत का प्रभुत्व स्वीकार कर चुकी थीं। प्रायः आठवीं शताब्दी से उत्तर भारत में जो राजनीतिक अस्थिरता थी, वह दिल्ली सल्तनत की स्थापना से समाप्त हो गई थी। लेकिन सत्ता के लिए संघर्ष होता रहता था। "सत्ता के लिए होने वाली इस प्रतिद्वंद्विता में सल्तनत का उद्भव एक निर्णायक तत्व के रूप में हुआ और उसने प्रादेशिक शक्तियों को बढ़ने से रोकने का प्रयत्न किया।" (रोमिला थापर - भारत का इतिहास, 1975 संस्करण, पृ.241) अखिल भारतीय स्तर पर राजनीतिक स्थिति का एक पहलू यह था कि केंद्रीय सत्ता दिल्ली सल्तनत की थी, जो भीतरी अंतर्विरोध और उठा-पटक के बावजूद कायम थी। उसके प्रभाव से परम्परागत भारतीय राजनीति समाप्त-प्राय हो गयी थी, या शेष थी तो क्षेत्रीय एवं स्थानीय शासन के रूप में ही। इस क्रम में उल्लेखनीय है कि भारतीय राजनीति और समाज में धार्मिक दृष्टि से दो समुदाय हिंदू और मुसलमान अस्तित्व में आ गए थे। इस नई बात ने राजनीति में भी नयापन ला दिया। जवाहरलाल नेहरू ने भारत की खोज में अमीर खुसरो का जिक्र करते हुए लिखा था कि देश में मुसलमानों के आगमन के बाद राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से जो नयापन विकसित हुआ उसी की देन है अमीर खुसरो। यह बात थोड़े-बहुत फर्क के साथ विद्यापति के बारे में भी कही जा सकती है। यदि विद्यापति **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** जैसी कृतियों की रचना नहीं करते तो शायद यह बात नहीं भी कही जाती, लेकिन यह तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति की भूमिका का रचनात्मक प्रभाव है कि विद्यापति ने **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की रचना की। खुसरो और विद्यापति में फर्क यह है कि खुसरो दिल्ली में रहते थे और विद्यापति मिथिला में। दिल्ली में दिल्ली सल्तनत की राजधानी थी, फलतः खुसरो का उससे सीधा लगाव था। मिथिला दिल्ली से बहुत दूर देश के पूर्वी क्षेत्र का अंग होने के कारण केंद्रीय सत्ता में होने वाले उथल-पुथल के तात्कालिक प्रभाव से दूर रही है। "मिथिला (उत्तरी बिहार) में - जो अन्य अधिकांश स्थानों की अपेक्षा अधिक समय तक तुर्क आक्रमणों से अछूता रहा था - संस्कृत विद्या के एक केंद्र का विकास हुआ, क्योंकि वहाँ भारी संख्या में ब्राह्मण

एकत्रित हो सके, जिन्होंने अपनी कृतियों में संस्कृत साहित्य की परम्परा को सुरक्षित रखा।" (रोमिला थापर - उपर्युक्त ग्रंथ, पृ.284) इस कथन का महत्व इस बात को ध्यान में रखकर समझा जा सकता है कि दिल्ली सल्तनत के शासनकाल में फारसी के राजभाषा हो जाने से संस्कृत का महत्व कम हो गया और इसी कारण समाज में ब्राह्मणों का भी महत्व घट गया।

मिथिला में संस्कृत भाषा-साहित्य की परम्परा और ब्राह्मणों का प्रभाव कायम रहने के बावजूद विद्यापति के समय में बदलाव आया। मिथिला पर असलान शाह का हमला भी हुआ और भाषा-साहित्य के अखिल भारतीय परिदृश्य का प्रभाव भी पड़ा। इतिहासवेत्ता राधाकृष्ण चौधरी लिखते हैं, "विद्यापति के समय में इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच भी एक प्रकार का आदान-प्रदान शुरू हो चुका था और उत्तर बिहार उस समय सूफियों का एक प्रधान केंद्र बन चुका था। महाराज शिव सिंह ने कुछ मुसलमान संतों और फकीरों को जो दान दिया था उसका प्रमाण भी मिला है। हिन्दू-मुसलमान का संबंध मिथिला के क्षेत्र में काफी अच्छा था और ज्योतिरीश्वर के ठाकुर 'वर्ण रत्नाकर' में जो विदेशी अरबी-फारसी शब्द हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि राजनीतिक आधिपत्य के बहुत पूर्व ही मिथिला में अरबी-फारसी भाषा से सम्पर्क हो गया था। सूफी संतों और फकीरों के माध्यम से ही यह संभव हुआ होगा।....दोनों धर्मों के समन्वय और समागम से नवीन दृष्टिकोण का बीजारोपण हो रहा था और विद्यापति-युग आते-आते इसका और भी विकास हुआ।" (विद्यापति युग का सामाजिक-सांस्कृतिक अध्ययन - "विद्यापति अनुशीलन और मूल्यांकन" में संकलित, सम्पादक डॉ.वीरेन्द्र श्रीवास्तव, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी से प्रकाशित) विद्यापति की रचनाओं में इस संक्रान्ति और समन्वय के दौर में विकसित नए दृष्टिकोण की झलक मिलती है। इस दृष्टिकोण की मुख्य विशेषता है राजनीति का धार्मिक प्रभाव से मुक्त होना। धर्म-निरपेक्ष शब्द नया है यानी उस समय यह शब्द नहीं था, लेकिन इसका जो अर्थ है, उसमें निहित जो दृष्टिकोण है, वह कीर्तिलता में है, बल्कि यह कहना बेहतर होगा कि यह दृष्टिकोण विद्यापति में भी है। कीर्तिलता में यह वर्णित है कि राज्य लोभी असलान ने धोखे से तिरहुत के राजा गणेश्वर को मार डाला और राज्य पर कब्जा कर लिया। इसके बाद भी राजा गणेश्वर के पुत्र कीर्ति सिंह ने सोचा कि असलान से बदला लेने के लिए सुल्तान की मदद लेनी चाहिए। उसने सुलतान से मदद माँगी और सुलतान ने असलान के खिलाफ कीर्ति सिंह को मदद दी। सुलतान की सेना की मदद से कीर्ति सिंह ने असलान को भयानक युद्ध में हरा कर खदेड़ दिया और अपने राज्य पर फिर से कब्जा जमा लिया। ध्यान देने की बात यह है कि मुसलमान हमलावर के खिलाफ मदद माँगने के लिए कीर्ति सिंह मुसलमान सुलतान के पास ही गया और मदद पाकर राज्य वापस लिया। यह इस बात का सबूत है कि राजनीति धर्म से प्रेरित नहीं थी। इस प्रसंग में यह भी महत्वपूर्ण है कि सुलतान ने असलान के हारने के बाद राज्य को अपने अधीन नहीं कर लिया, बल्कि कीर्ति सिंह का ही राज्याभिषेक कर दिया। यह भी उल्लेखनीय है कि कीर्ति सिंह के पूर्वज भोगीस राय को दिल्ली के बादशाह फिरोज़शाह तुगलक अपना सखा कहते थे। तत्कालीन राजनीति का असली रूप राज्य पाने के लिए की जाने वाली साजिशों, हमलों, लड़ाइयों और खूंरेजी में देखा जा सकता है। इन सबके फलस्वरूप समाज को राजनीतिक अराजकता के दुष्परिणाम झेलने पड़ते थे। **कीर्तिपताका** में भी राजा शिव सिंह और सुलतान का युद्ध वर्णित है। युद्ध में शिवसिंह को विजयी दिखाया गया है। इस विजय के फलस्वरूप राजा शिव सिंह की कीर्ति-पताका चारों तरफ फहराती है। राजतंत्र के युग में राजा की कीर्ति जनता की भलाई अथवा अन्य किसी गुण के कारण नहीं, युद्ध में विजय के जरिये ही फैलती है। राजा की शक्ति सेना और युद्ध जीतने की क्षमता में निहित रहती थी। **कीर्तिलता** में भी इक्कीसवें पद में कहा गया है कि "जो तीखा तर्क कर सकता है, तीनों वेदों को पढ़ता है, दान से दरिद्रता का दलन करता है, परम ब्रह्म को परमार्थ समझता है, धन से कीर्ति बटोरता है, पराक्रमपूर्वक शत्रु से लड़ता है, वह ओइन वंश संसार-प्रसिद्ध है। दोनों बातें एक-साथ नहीं हो सकती। राजा (भूपति) भी हो और ब्राह्मण (भूदेव) भी, यह संभव नहीं। इस कथन में भी देखें कि राजा की कीर्ति धन और सैन्य बल के आधार पर ही फैलती है। यहाँ तो विद्यापति ने धन की भूमिका को ज्यादा असरदार बताया है।

3.2.2 सामाजिक स्वरूप

राजतंत्र राजनीतिक व्यवस्था कायम करने के अलावा समाज में सामंतवादी व्यवस्था की रक्षा करता था। इस तरह प्रजा का दुहरा शोषण होता था। **कीर्तिलता** और **लिखनावली** में इस बात का उल्लेख मिलता है कि मिथिला का समाज सामंतवादी था। इसलिए सामाजिक विषमता कई रूपों में मौजूद थी, जिसकी अभिव्यक्ति राजनीति और समाज में कई तरह से होती रहती थी। आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निचले तबके के लोग राजनीतिक सत्ता के लाभ से तो वंचित थे ही, उसके दमन के भी शिकार होते थे।

तत्कालीन समाज वर्णों, जातियों और वर्गों में विभाजित था। राजनीतिक अस्थिरता का सामाजिक स्थिति पर प्रतिकूल असर पड़ता था, जिसका लाभ ऊंचे तबके के लोग ही उठाते थे और निचले तबके के लोगों का संकट बढ़ जाता था, जिससे विषमता और बढ़ ही जाती थी। कीर्तिलता के "द्वितीय पल्लव" के प्रारंभ में ही निम्नलिखित पद है, जिससे सामाजिक स्थिति का पता चलता है -

ठाकुर ठक भए गेल चोर सरपरि घर सज्जिअ।
दासे गोसाउनि गहिअ धम्म गए धंध निमज्जिअ॥
खले सज्जन परिभविअ कोइ नहि होइ विचारक।
जाति अजाति विवाह अधम उत्तम कौ पारक॥

अर्थात राजा गणेश्वर के निधन के बाद हालत इतनी बिगड़ गई कि ठाकुर ठग हो गए, चोरों ने बलपूर्वक घरों पर कब्जा कर लिया, नौकरों ने गृह-स्वामिनियों को धर दबाया, धर्म खत्म हो गया और धंधे डूब गए; दुष्टों ने सज्जनों को दबोच लिया, कोई विचार करने वाला नहीं रहा, जाति और अजाति में विवाह होने लगे, अधम और उत्तम के भेद का विवेक करने वाला कोई नहीं बचा।

फिर आगे की दो पंक्तियों में कहा गया है -

अक्खर रस बुज्झि निहार नहि कवि कुल भमि भिख्खरि भऊं।
तिरहुत्ति तिरोहि सबे गुणे रा गणेथ जबे सग्ग गउं॥

अर्थात अक्षर-रस (यानी काव्य-रस) का मर्मज्ञ कोई नहीं बचा, कवि लोग घूम-घूम कर भिखारी हो गए। राजा गणेश्वर जब स्वर्ग चले गए तो तिरहुत के सभी गुण तिरोहित हो गए।

कवि तो कह रहा है कि राजा गणेश्वर के स्वर्गवास के बाद तिरहुत के समाज में उपर्युक्त दुर्वृत्तियाँ फैल गईं, लेकिन वैज्ञानिक ढंग से सोचने पर स्पष्ट होगा कि ये दुर्वृत्तियाँ समाज में पहले से थीं; हाँ, राजा का कठोर शासन रहा होगा, जिसके भय से जनता में एक व्यवस्था थी। वह भय खत्म हो जाने से या समाज में अराजकता छा जाने से ठगी बढ़ गई, चोरी और सीनाजोरी बढ़ गई, परिवारों में अनाचार होने लगा, धर्म के नियम गायब हो गए और अव्यवस्था के कारण व्यापार चौपट होने लगा। ऐसे दौर में आम तौर से निचले तबके के लोग ऊपर उठते हैं, इसलिए उस समय के तिरहुत में भी जातीय भेदभाव पर चोट पड़ने लगी और कवियों की हालत खराब हो गई।

यह हालत तो मिथिला के सामान्य समाज की थी, लेकिन कीर्ति सिंह के जौनपुर पहुँचने पर इस नगर का जो वर्णन किया गया है, उससे समाज के एक दूसरे रूप का साक्षात्कार होता है। इस वर्णन से वर्ग विभाजित सामंती समाज का जीवंत स्वरूप सामने आ जाता है। बड़ी-बड़ी और ऊंची-ऊंची अट्टालिकाओं के वर्णन से धनाढ्य राज्यसत्ता से जुड़े वर्ग का बोध होता है। बाज़ार की भीड़ का कीर्तिलता में रोचक वर्णन है। नगर के समाज में ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत और अन्य अनेक जातियाँ बसी थीं। वहाँ वेश्याएं भी थीं और उनके भी महल ऐसे थे कि कवि को लगता है कि उन्हें स्वयं विश्वकर्मा ने बनाया हो। वहाँ बड़ी संख्या में गुलाम भी थे जो बिकने के लिए तैयार रहते थे। वहाँ दासियाँ और नौकर-चाकर भी बहुतेरे थे। हिंदू-मुसलमान एक साथ रहते थे, हालाँकि राज्य की सुविधा की दृष्टि से भेदभाव थे। इसके बावजूद "कहीं बांग दी जा रही है, कहीं वेद-पाठ है, कहीं बिस्मिल्लाह है, कहीं बलि है। कहीं ओझा है, कहीं खोजा है। कहीं नकल (रात्रि-व्रत) है, कहीं रोजा है, कहीं ताम्रपत्र है और कहीं कूजा है।" कहीं मुसलमानों के द्वारा जोर-जबरदस्ती किए जाने का भी वर्णन है। ऐसा लगता है व्यवसाय काफी विकसित था। ऐसा वर्णन है कि "दोपहर में भीड़ लगती है। पृथ्वी मंडल की समस्त वस्तुएं बिकने आती हैं। व्यापारी क्षण में (यानी कम समय में) अपनी सारी चीज़ें बेच लेते हैं और जो खरीदना होता है, खरीद लेते हैं। लेकिन जौनपुर के प्रसंग में वर्णित समाज का यह ढाँचा मिथिला में भी था। "मैथिल समाज सामंतवादी आधार पर ही टिका हुआ था और मध्यकालीन सामंतवादी समाज के सारे दोष वहाँ विराजमान थे। समाज में मूलतः दो वर्गों के लोग थे और बेगार की प्रथा थी।...वास्तविकता यह थी कि मध्ययुग में ब्राह्मण बड़े-बड़े सामंत थे और वे जमीन दान देकर अपने अधीन छोटे-छोटे सामंत रखते थे।" (राधा कृष्ण चौधरी) उस समय तक जाति-प्रथा मिथिला में और भी मज़बूत हो गयी थी जिसका खास कारण था वहाँ राजा हरि सिंह देव के समय (सन 1324) से पंजी की प्रथा का प्रचलित होना। प्रो.चौधरी लिखते हैं कि "जातीय शुद्धि के नाम पर अथवा अपने पद को और ऊपर उठाने के निमित्त एक-एक व्यक्ति ने पच्चीस-पच्चीस विवाह करने शुरू कर दिए और इस तरह "बिकौआ" की प्रथा चल पड़ी। इस तरह पंजी प्रथा ने जाति-व्यवस्था और विवाह को और विकृत ही बनाया। विद्या और ज्ञान की भूमि होने के बावजूद मिथिला में भी धन ही सामाजिक

प्रतिष्ठा का मुख्य आधार था। जहाँ पच्चीस विवाह एक पुरुष करता था वहाँ स्त्रियों की दुर्दशा का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

लिखनावली में विद्यापति ने सामाजिक स्थिति का वर्णन किया है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि राज्य से जुड़े लोगों में विलासिता व्याप्त थी और जनता में दरिद्रता। **कीर्तिलता** के एक कथन के उल्लेख से बताया जा चुका है कि राजा कभी-कभी दरिद्रों को दान दिया करते थे। "दान" सम्पन्नता और दरिद्रता की परस्पर विरोधी जीवन-स्थितियों के होने का प्रमाण है। समाज में उन लोगों का सम्मान बहुत था जो राज-दरबार से सम्पृक्त होते थे। गरीबों की हालत बहुत खराब थी। दासों को तो प्रतिदिन एक वक्त का आहार ही मिलता था। किसानों की हालत कुछ बेहतर थी। लेकिन किसी-किसी किसान को बैल बंधक रखना पड़ता था। समाज में सूदखोर महाजन थे, जो किसानों को कर्ज़ देकर फसल कटने के समय दो गुना वसूल कर लेते थे।

ज़ाहिर है कि विद्यापति-युगीन समाज वर्ग-विभाजित था। राजा और सामंत प्रभुत्व में थे। व्यापारी और महाजन भी सुखी-सम्पन्न थे। किसान, खेत मजदूर और दास शोषित वर्ग के अंग थे। सामाजिक विषमता और अंतर्विरोध का यह मुख्य रूप था। समाज में जात-पाँत थी ही। अन्य सामाजिक तबकों की स्थिति का उल्लेख पहले हो चुका है। यह सामाजिक स्थिति है, जो विद्यापति को प्रेरित और प्रभावित करती है, और अनेक रचनाओं में वे इसका चित्रण करते हैं। ध्यान देने की बात है कि यथार्थ-चित्रण से एक तरफ साहित्य की महिमा बढ़ती है तो दूसरी तरफ समाज को समझने का स्रोत प्राप्त होता है।

3.2.3 इतिहास

साहित्य के आधार पर इतिहास लिखने की पद्धति अपने देश में हाल में ही अपनाई गई है। लेकिन वास्तविकता यह है कि प्राचीन भारत का इतिहास भी पहले साहित्यिक कृतियों के आधार पर ही लिखा गया। बाद में इतिहास-लेखन के अन्य साधन उपलब्ध हुए तो साहित्य को आधार बनाने की प्रवृत्ति घट गई। अब फिर से इतिहास-लेखन में साहित्य को आधार बनाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिस साहित्य में यथार्थ-चित्रण की प्रवृत्ति मिलती है, वही साहित्य खास तौर से इतिहास-लेखन का आधार बनता है। विद्यापति की कृतियों में **कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली** आदि में इतिहास संबंधी सामग्री मिलती है। लेकिन इन कृतियों की इतिहास संबंधी सामग्री में कितनी ऐतिहासिकता है, इसकी जाँच करना आवश्यक होता है। **कीर्तिलता, कीर्तिपताका, लिखनावली** में जो कथा या जो तथ्य वर्णित हैं, उनसे ऐतिहासिकता का पता चलता है। राजा कीर्ति सिंह और शिव सिंह ओइन वंश के थे, यह उल्लेख कथा को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। यह वंश मिथिला में आज भी उपलब्ध है। दिल्ली के तुर्क बादशाह फिरोज़शाह मिथिला के भोगीस राय को भाई की तरह मानते थे। इससे भी कथा में ऐतिहासिकता आ जाती है। विद्यापति प्रायः फिरोज़शाह तुगलक और उसके कुछ बाद लोदी वंश के समय में भी थे। इसलिए वे स्वयं मिथिला की ऐतिहासिक कथा के प्रमाण बन गए लगते हैं।

कीर्तिपताका में मिथिला के राजा गणेश्वर सिंह और असलान का युद्ध फिर असलान के खिलाफ लड़ने के लिए कीर्ति सिंह के द्वारा सुलतान की मदद लेना ऐतिहासिक घटनाएं हैं। इसी तरह, **कीर्तिपताका** में राजा शिव सिंह और सुलतान का युद्ध भी कथा को ऐतिहासिकता प्रदान करता है। मिथिला के इतिहास से जुड़ी ये घटनाएं यद्यपि मध्यकालीन भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से कुछ भिन्न लगती हैं, फिर भी मध्यकाल के इतिहास को समग्रता प्रदान करने की दृष्टि से **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की कथा का ऐतिहासिक महत्व है।

यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कर्णाट वंश के अंतिम शासक हरिसिंह देव ने तीर भुक्ति राज्य ओइनवार वंश को सौंपा था। यही हरिसिंह देव हैं जिन्होंने तेरहवीं सदी में मिथिला में ब्राह्मणों के लिए पंजी का निर्माण कराया। **कीर्तिलता** की कथा बताती है कि कैसे कीर्ति सिंह राजा बने। विद्यापति ने भृंग-भृंगी संवाद के रूप में लिखित कथा में भृंगी से प्रश्न करवाया कि राजा कीर्ति सिंह किस वंश के थे और वे स्वयं कौन थे! इसी प्रश्न के उत्तर के रूप में **कीर्तिलता** की रचना हुई है। विद्यापति के बारे में ऐतिहासिक रूप से स्वीकृत है कि वे राजा शिवसिंह के दरबार में रहते थे। उनकी पदावली में भी बार-बार राजा शिवसिंह और उनकी रानी लखिमा देवी का जिक्र आता है, जिससे विद्यापति और राजा शिव सिंह के संबंध की ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि मध्यकालीन भारत का इतिहास - राजनीति, सामाजिक या सांस्कृतिक - जिसने भी लिखा है, उसने मिथिला और विद्यापति की उपेक्षा की है। इसलिए ऐसे इतिहासकार **विद्यापति** और **कीर्तिलता** की ऐतिहासिकता के प्रमाण नहीं बन पाते। जब इतिहास-लेखन में क्षेत्रीय इतिहास का महत्व बढ़ा, तब ऐतिहासिक दृष्टि से विद्यापति और **कीर्तिलता**, कीर्तिपताका और लिखनावली जैसी उनकी कृतियों का भी महत्व बढ़ा। इस

प्रसंग में प्रो.राधाकृष्ण चौधरी, डॉ. उपेन्द्र ठाकुर आदि के द्वारा मिथिला के इतिहास का अनुसंधान महत्वपूर्ण है। हिंदी के विद्वानों ने इस प्रसंग में जो काम किए हैं, वे भाषा के विकास और उसकी प्रकृति एवं साहित्यिक विवेचन तक सीमित है, वह काम डॉ.नामवर सिंह का हो या डॉ. शिवप्रसाद सिंह का या डॉ.वीरेन्द्र श्रीवास्तव का। इन विद्वानों से पहले डॉ.हरप्रसाद शास्त्री, डॉ.बाबू राम सक्सेना आदि के क़ाम भी भाषावैज्ञानिक ही ज्यादा हैं। हाँ, हिंदी में डॉ.वासुदेवशरण अग्रवाल ने इतिहास की दृष्टि से भी विचार किया है। लेकिन इन सभी विद्वानों ने जिस दौर में काम किया, उस समय विद्यापति के अध्ययन के प्रसंग में मुख्य समस्या थी उनकी कृतियों का प्रामाणिक संस्करण तैयार करके प्रकाशित करना। मैथिली और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान डॉ.उमेश मिश्र के सामने भी मुख्य समस्या यही थी कि कैसे प्रामाणिक पाठ तैयार किया जाए। इन सब सीमाओं के बावजूद सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है कि विद्यापति शिव सिंह के समय थे और **कीर्तिलता** एवं **कीर्तिपताका** की रचना का ऐतिहासिक आधार प्रामाणिक है।

इस अध्ययन से जो प्रमुख बिंदु उभर कर आए हैं उसपर एक दृष्टि डाल ली जाए :

- विद्यापति के युग में राजनीति धार्मिक प्रभाव से मुक्त हुई।
- मिथिला का समाज सामंतवादी था; आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से निचले तबके के लोग राजनीतिक सत्ता के लाभ से वंचित थे। समाज वर्णों, जातियों और वर्गों में विभाजित था।
- **कीर्तिलता, कीर्तिपताका** और **लिखनावली** मध्यकालीन भारत के इतिहास लेखन में महत्वपूर्ण स्रोत बन सकते हैं।

विद्यापति की रचनाओं में उनका युग बोलता है। उनकी भाषा पर भी युग का पूरा प्रभाव है। आदिकाल में अपभ्रंश से मुक्त होने और देसी भाषाओं के उदय की प्रवृत्ति मिलती है। विद्यापति भी इस युग के प्रतिनिधि कवि हैं। अतः उनकी रचनाओं में भी यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है। उनका "देसिल बयना" और "अवहट्ट" इसी प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है। असल में **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** में विद्यापति की भाषा करवट लेती प्रतीत होती है और इस रूप में भाषा के माध्यम से भी कवि पुराने युग से मुक्ति और आने वाले युग के आगमन का संकेत दे रहा था।

3.3 विद्यापति की भाषा

विद्यापति की मातृभाषा और मिथिला की सामाजिक-सांस्कृतिक भाषा भी मैथिली ही थी। यों मिथिला में विद्वानों के बीच संस्कृत की भी प्रतिष्ठा थी। विद्यापति ने अपनी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना पदावली मैथिली में ही रची। मिथिला की विद्वत्परम्परा को मानकर उन्होंने संस्कृत में भी रचना की। लेकिन अवहट्ट में **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की रचना करने के पीछे यही बात प्रेरणा के रूप में काम कर रही होगी कि अपभ्रंश उस समय भी उत्तर भारत के राष्ट्रीय संदर्भ की भाषा थी और विद्यापति का रचनाकार केवल अपने क्षेत्र तक सीमित नहीं था।

3.3.1 जन भाषा का निर्माण

भाषा की दृष्टि से भी विद्यापति संक्रमण-काल में पड़ते हैं। अपभ्रंश का प्रभाव या अपभ्रंश में काव्य रचने की प्रवृत्ति लगभग समाप्त हो रही थी और आधुनिक आर्य भाषाओं का साहित्यिक उदय हो रहा था। भाषा, समाज और काव्य-सृजन के विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया पर गौर करने से यह स्पष्ट होता है कि जब कोई भाषा काव्यात्मक गरिमा पा लेती है और उसका एक परिनिष्ठित रूप शास्त्रीय स्तर पा लेता है तो सामान्य जनता या कहें सामान्य जन-मानस के लिए वह रूप दुरूह होने लगता है। जन-चेतना का प्रवाह आमफहम भाषा के साथ आगे बढ़ता रहता है। सामान्य जन के चेतना-प्रवाह और परिनिष्ठित या रूढ़ काव्य-भाषा का अंतर्विरोध नए दौर के रचनाकारों के द्वारा रुढ़ि को छोड़कर और प्रवाह के आग्रह को स्वीकार करके ही हल किया जाता है। उस ऐतिहासिक सच्चाई का अनुभव उस दौर में भी होता है, जब विद्यापति रचना कर रहे थे। उसे हम निम्नलिखित उदाहरणों से समझें। अपभ्रंश की उपलब्ध पुस्तकों में **अद्दहमाण** (या **अब्दुल रहमान**) का **संदेशरासक** और **विद्यापति** रचित **कीर्तिलता** मुख्य हैं। अद्दहमाण कहते हैं -

> णहु रहइ बुध इकवित्तरेसि
> अबुहत्तणि अबु हई णहु पवेसि।
> जिण मुक्ख ण पंकिय मज्झयार

तिह पुरउ पठिब्बउ सब्ब वार।

अर्थात "बुद्धिमान तो उस काव्य में मन नहीं लगाएंगे और जो अबुध (मूर्ख) हैं, उनका काव्य में प्रवेश कैसा? अर्थात वे उसमें आनंद ही क्यों लेंगे! हाँ, वास्तव में मेरा काव्य उन साधारण जनों के लिए है जो न मूर्ख हैं और न पंडित।"

इस कथन की व्याख्या करें तो स्पष्ट होता है कि काव्य के क्षेत्र में बुद्धिमान तो वे समझे जाते हैं, जो संस्कृत समझते थे, मूर्ख तो अनपढ़ और नासमझ लोग थे जो काव्य नहीं समझते थे। इन दोनों के बीच साधारण जन थे जो संस्कृत तो नहीं जानते थे, लेकिन जन-भाषा में रचित काव्य में रुचि लेते थे। ऐसे ही साधारण जनों के लिए अद्दहमाण ने अपभ्रंश में काव्य-रचना की। यही साधारण जन हैं जिनकी चेतना के प्रवाह के साथ विकसित भाषा रचनात्मकता की नई समस्या को हल करती है। **इसी से मिलती-जुलती बात विद्यापति भी कहते हैं -**

सक्कअ वाणी बुहअण भावइ पाइअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल बयणा सब जन मिट्ठा, तें तैसन जंपउ अवहट्टा।।

अथात "संस्कृत वाणी को बुधजन (पंडित लोग) ही अच्छी तरह समझते हैं, प्राकृत भाषा के रस का मर्म कोई नहीं पाता है। देसी वचन (बोली) सब लोगों को मीठा लगता है, अतः वैसे अवहट्ट का कथन करता हूँ।"

भाषा और समाज के संबंध का संक्रमण यहाँ अच्छी तरह दिखाई पड़ता है। संस्कृत पंडितों तक सीमित रह गई थी और प्राकृत का मर्म तो कोई नहीं समझता था, क्योंकि पंडित तो उसकी उपेक्षा करते थे और आम जनता उसे समझ नहीं पाती थी। बोधगम्यता और आत्मीयता के कारण देसी वचन यानी गाँवों के लोगों की बोली तो सबको मीठी लगती है, । इसलिए विद्यापति अवहट्ट को देसी बोली के साथ मिलाकर उसमें रचना करते हैं। कवि का उद्देश्य रचना को अधिकाधिक प्रेषणीय बनाना है, इसीलिए वह पंडिताऊ भाषा को जनता की बोलचाल की भाषा के नज़दीक ले जाता है। भाषा की संक्रमणशीलता को इस तरह और ठीक से समझा जा सकत। है कि अद्दहमाण की भाषा में बोधगम्यता की प्रवृत्ति होने के बावजूद अयोगात्मकता कम है। उनकी भाषा अपभ्रंश के उस रूप को लेकर चलती है जो "विभक्तिरहित प्रयोगों में या परसर्गों के प्रयोगों में या इसी प्रकार के अन्य प्रयोगों में स्वयम्भू और पुष्पदंत के अधिक निकट है। उसमें इनका विरल प्रयोग ही है, यहाँ तक कि **संदेशरासक** की भाषा को प्राकृताभास समझा जा सकता है। विद्यापति की अवहट्ट भाषा अयोगात्मकता में आधुनिक भारतीय भाषा हिंदी आदि के बहुत निकट आ गई है।" (वीरेन्द्र श्रीवास्तव - कीर्तिलता. पृ.३०) ध्यान दें संदेशरासक की भाषा पूरी तरह प्राकृत नहीं, बल्कि "प्राकृताभास" है यानी अपभ्रंश और प्राकृत का मिश्रण उसमें है और **कीर्तिलता** की भाषा अवहट्ट में देसी भाषा का मिश्रण है। ऐसा इसलिए संभव हो पाया कि इस अवहट्ट का स्वरूप अधिक अयोगात्मक है, जो आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की प्रकृति के निकट है। यह विशेषता केवल **कीर्तिलता** में नहीं, बल्कि **कीर्तिपताका** की भाषा में भी है। योगात्मकता से अयोगात्मकता की ओर या संश्लिष्टता से विश्लिष्टता की ओर भाषा का बढ़ना भाषा के विकास की ऐसी प्रक्रिया है जो भाषा को जनता की दृष्टि से सुगमता और सहजता की ओर ले जाती है। भाषा के विकास की इस प्रक्रिया में वाक्य के सभी अंग एक-दूसरे से अलग होते जाते हैं, शब्दों में सामासिकता की प्रवृत्ति लगातार घटती चली जाती है। यही है अयोगात्मकता या विश्लिष्टता। इससे भाषा में सुगमता आती है। इसके विपरीत, संस्कृत में सामासिकता प्रधान होती है। कभी-कभी तो पूरा वाक्य जुड़कर एक शब्द बन जाता है। इससे भाषा दुर्बोध हो जाती है और संधि एवं समास के नियम ही नहीं, उनके विश्लेषण में जो सिद्ध होता है, वही अर्थ समझ पाता है। भाषा के प्राचीन और आधुनिक रूपों की प्रकृति में यह फर्क वास्तव में गुणात्मक फर्क है। इस दृष्टि से विद्यापति के अवहट्ट की ऐतिहासिक विशेषता समझी जा सकती है।

विद्यापति की अवहट्ट की विशेषताओं को समझने के प्रसंग में उसके स्वरूप पर विचार करना जरूरी है। इस सिलसिले में इतना उल्लेख कर देना भी जरूरी है कि यह समझ गलत है कि संस्कृत के बाद प्राकृत और प्राकृत के बाद अपभ्रंश का विकास एवं प्रचलन हुआ। प्राकृत और अपभ्रंश भी पुरानी भाषाएं हैं। "शब्द सागर" में अपभ्रंश को "प्राकृत का परवर्ती रूप" कहा गया है। लेकिन भाषा के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि "शब्द सागर" की समझ गलत है। अपभ्रंश का पहला उल्लेख आचार्य पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। पतंजलि के महाभाष्य का समय विद्वानों के द्वारा प्रायः 150 ईस्वी पूर्व माना जाता है। इस प्रकार अपभ्रंश का अस्तित्व जनता के बीच एक भाषा के रूप में प्राचीन काल में भी था, भले ही उस समय उसमें साहित्य नहीं रचा जा रहा हो। यों कुछ विद्वान यह समझाना चाहते हैं कि पतंजलि ने "अपभ्रंश" शब्द का प्रयोग भाषा के नाम के अर्थ में नहीं, बल्कि

शब्दों के विकारी रूप के अर्थ में किया है। यदि इस व्याख्या को मान लिया जाए, तब भी यह कहा जा सकता है कि विकार यानी परिवर्तन की प्रक्रिया में अपभ्रंश का स्वरूप जन-भाषा के रूप में विकसित हुआ और आम जनता का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव जब बढ़ा तब उसमें काव्य-सृजन भी होने लगा। इस विकासक्रम में लम्बा समय लगा है।

कीर्तिलता और **कीर्तिपताका** में अवहट्ट का जो रूप मिलता है, उसे डॉ.बाबू राम सक्सेना और शिवनंदन ठाकुर ने **मिथिलापभ्रंश** कहा है। इसका आधार संभवतः यह है कि अवहट्ट पर विद्यापति ने मैथिली का रंग चढ़ाने की कोशिश की है। डॉ. बाबू राम सक्सेना के सम्पादन में 1929 में **कीर्तिलता** का प्रथम प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा किया गया। उसी की भूमिका में डॉ.सक्सैना ने कहा कि विद्यापति की अवहट्ट मध्यकालीन प्राकृत और आधुनिक मैथिली के बीच की चीज़ है। उन्होंने **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की भाषा को अपभ्रष्ट रूप कहकर मैथिली अपभ्रंश करार दिया। लेकिन यह मत विद्वानों के बीच मान्य नहीं है। इस प्रसंग में डॉ.नामवर सिंह का यह कथन विचारणीय है - **कीर्तिलता** की भाषा को **वर्ण रत्नाकर** की भाषा के सम्मुख रखकर देखने से स्पष्ट होता है कि **वर्ण रत्नाकर** में बंगलापन अधिक है (भले ही वह अनुलेखन पद्धति के कारण आ गया हो) और **कीर्तिलता** में मैथिली-भोजपुरी-अवधी आदि के आरंभिक बीज। (हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवर सिंह प्रथम संस्करण, पृ.58-59) कहने का मतलब यह कि विद्यापति की अवहट्ट पर मध्यदेश और पूरब की तत्कालीन बोलियों का मिश्रित प्रभाव दिखाई पड़ता है। इसपर केवल मैथिली का प्रभाव नहीं है। वास्तविकता यह है कि **कीर्तिलता** की भाषा पर संस्कृत का भी प्रभाव है।

डॉ. शिव प्रसाद सिंह की भी मान्यता है कि विद्यापति की अवहट्ट को मैथिली अपभ्रंश या मिथिलापभ्रंश कहना ठीक नहीं है। डॉ.सिंह का कथन इस प्रकार है - "कीर्तिलता की भाषा पर मैथिली का रंग अवश्य है, परंतु उसके मूल में शौरसेनी की प्रवृत्तियाँ हैं, इसे कौन अस्वीकार कर सकता है।"

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और महापंडित राहुल सांकृत्यायन के विचारों का भी सहारा लेते हुए डॉ.शिव प्रसाद सिंह का निष्कर्ष यह है - **इन तमाम तर्क-वितर्कों और वाद-विवाद को मिटा देने के लिए यह उचित जान पड़ता है कि इस भाषा को परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ट नाम उत्तरी भारत की संक्रान्तिकालीन भाषा का एकमात्र उपयुक्त नाम हो सकता है।**

3.3.2 भाषागत विशेषताएँ

अवहट्ट में **कीर्तिलता** की रचना करने के प्रसंग में विद्यापति का जो भाषागत दृष्टिकोण रहा है, उसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उनके सामने सामान्य जन के लिए भाषा को बोधगम्य बनाना था, इसीलिए अवहट्ट को भी उन्होंने "देसिल बयना" यानी मैथिली का संस्पर्श अच्छी तरह दिया है। वे संस्कृत के भी निष्णात विद्वान थे, इसलिए संस्कृत का भी प्रभाव उनकी अवहट्ट पर है। **कीर्तिलता** का प्रारंभ तो संस्कृत छंद से ही किया गया है। उसके पीछे शायद यह प्रवृत्ति काम कर रही होगी कि विद्वानों के बीच प्रतिष्ठा के लिए संस्कृत-ज्ञान का परिचय देना जरूरी है। लेकिन उनकी संस्कृत ऐसी है कि संस्कृत का साधारण ज्ञान रखने वाला भी उसे समझ सकता है। भाषा को सरलता की ओर ले जाने की प्रवृत्ति यहाँ भी रही है। राजा कीर्ति सिंह के जीवन-प्रसंग के आधार पर रचे गए काव्य का नाम **कीर्तिलता** रखते हुए विद्यापति का ध्यान कहाँ था, यह निम्नलिखित प्रारंभिक पंक्तियों से ही स्पष्ट हो जाता है -

तिहुअण खेत्तहि कांइ तनु कित्तिवल्लि पसरेइ।
अक्खर खंभारम्भ जउ मंचा बंधि न देइ।।

अर्थात यदि अक्षर रूपी खम्भे को आरंभ में (काव्य को) बाँध न दिया जाए तो त्रिभुवन के क्षेत्र में उसकी कीर्ति की लता कैसे पसरे?

गाँव में किसान शाक-सब्जी की लता के फैलने के लिए बाँस-बल्ली से मंच का निर्माण करते हैं। विद्यापति ने अपने काव्य की लता के पसरने के लिए भाषा का मंच खड़ा किया और इसके लिए वे अक्षर-अक्षर पर ध्यान देते हैं। विद्यापति की भाषा-चेतना इस पद के विश्लेषण से भी स्पष्ट होती है। संस्कृत कीर्ति यहाँ "कित्ति" के रूप में और संस्कृत "प्रसरति" अथवा "प्रसरित" या "प्रसरेती" यहाँ "पसरेइ" के रूप में है ही। अक्षर तो अक्खर के रूप में है ही। ध्यान खींचता है "खम्भारंभ" शब्द। स्तम्भ "खम्भ" बन गया है, "आरंभ" तत्सम रूप में ही मौजूद है। संस्कृत के विद्वान तत्सम और तद्भव में संधि नहीं मानते, लेकिन विद्यापति ने व्याकरण के नियम की उपेक्षा करके "खंभारंभ" शब्द

बनाकर भाषा के विकास को नई गति दी है। एक नया आनंद आता है यह देखकर कि विद्यापति ने अपने नाम का भी अवहट्ट रूप बना दिया, जब वे अपनी भाषा के नए रूप पर गर्व करते हैं -

बालचंद विज्जावइ भासा दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा।
सो परमेसर सेहर सोइइ, इणच्चइ णाअर मन मोहइ।।

विद्यापति "विज्जावइ" हो गए हैं, जब कि ऐसा करना जरूरी नहीं था। दूसरी पंक्ति में "शेखर" "सेहर" बन गया है और निश्चय "णिच्चइ" के रूप में आया है। नागर णाअर हो गया है। विद्यापति के इस तरह के प्रयोगों का अध्ययन भारतीय आर्यभाषाओं के आपसी संबंध और आधुनिक आर्यभाषा के विकास के एक महत्वपूर्ण मध्यकालीन पड़ाव का ज्ञान देता है। इस दृष्टि से विद्यापति की "देसिल बयना" मिश्रित अवहट्ट भाषा का ऐतिहासिक महत्व है। **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** का महत्व इस दृष्टि से भी बहुत अधिक है। यह ध्यान देने लायक है कि मैथिली कवि विद्यापति, जिनके बारे में कभी यह बहस थी कि वे मैथिली कवि हैं या बंगाली, वे ही **कीर्तिलता** और **कीर्तिपताका** की भाषा के माध्यम से हिंदी भाषा के विकासक्रम को समझने का आधार प्रस्तुत करते हैं और उससे मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा और आधुनिक भारतीय आर्यभाषा का संबंध समझ में आता है।

विद्यापति की अवहट्ट का भाषागत पाट या यह कहें कि अक्षर का ठाठ (मंच) इतना विस्तृत है कि उसमें राजस्थानी का भी प्रवेश हो गया है। राजस्थानी में मूर्द्धन्य "ण" के प्रयोग का बाहुल्य रहता है। विद्यापति के अवहट्ट में बाहुल्य तो नहीं, लेकिन अनेक शब्दों में "ण" को जगह मिल गयी है, जो पूर्वी प्रयोग नहीं है, मैथिली या हिंदी में तो यह प्रवृत्ति कतई नहीं है। "णिच्चइ", "णाअर" आदि पश्चिमी प्रयोग के प्रभाव के सबूत हैं।

संस्कृत, मैथिली और अवहट्ट का मिश्रण **कीर्तिलता** की भाषा में अनेक पदों में मिलता है। लेकिन निम्नलिखित पंक्तियों में उपर्युक्त मिश्रण का विलक्षण दृष्टांत मिलता है -

मध्याहन करि वेला संमर्द साज, सकल पृथ्वी चक्र करो वस्तु
बिकाए आए राज मानुसकरी पीसि वर आगे आंग डगर
आनक तिलक आनका लाग पात्रहूतह परस्त्रीक बलआ माँग।
ब्राह्मणक यज्ञोपवीत चांडाल का आ गल ।
वेश्यट्टिन पयोधरे जतिहि क हृदय चूर ।
धन संचरे धोल हाथि हति बापर चूरि जाथि।
आवर्त्त विवर्त्त रोलहो नगर नहि नर समुद्दओ।।

यहाँ मध्याह्न, वेला, सकल, पृथ्वीचक्र, वस्तु, परस्त्री, ब्राह्मण, यज्ञोपवीत, चांडाल, वेश्या, आवर्त्त, विवर्त्त आदि शब्द तत्सम हैं। लेकिन इन्हें अन्य स्रोतों से आए शब्दों के साथ वाक्य में इस प्रकार गुम्फित किया गया है कि इनका तत्सम होना पाठकों को महसूस नहीं होता। एक तो ये शब्द संस्कृत होते हुए भी प्रचलित शब्द हैं, दूसरे भाषा में क्रिया रूपों के प्रयोग के कारण सुगमता आ गई है। "बिकाए आए" क्रिया युग्म मैथिली और हिंदी के मेल से बने हैं। "बिकाए" मैथिली है, जिसका अर्थ "बिकने के लिए" और "आए" तो खड़ी बोली की क्रिया "आना" का भूतकालिक रूप है। ये विलक्षण रचनात्मक भाषा प्रयोग का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। "आनक तिलक" में "आनक" ठेठ मैथिली प्रयोग है जिसका अर्थ है - अन्य का। इस पद में "का" के लिए मैथिली "क" का प्रयोग अनेक जगह है।

कीर्तिलता की भाषा में मैथिली के प्रवेश या प्रभाव का एक उदाहरण ध्यान देने योग्य है -

हिन्दू तुलुक मितल वास
एकक धम्मे ओकाक हास।
कतहु बाँग, कतहु वेद
कतहु विसमिल कतहु छेद
कतहु ओझा कतहु खोजा
कतहु नकत कतहु रोजा
कतहु तम्बारू कतहु कूजा
कतहु नीमाज कतहु पूजा
कतहु तुलुका बल कर
बाट जाएते बेगार धर।।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(आदि काव्य, भक्ति काव्य एवं रीति काव्य)

खंड

2

भक्ति काव्य-1 (निर्गुण काव्य)

इकाई 5
कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता

इकाई 6
कबीर का काव्य शिल्प

इकाई 7
सूफी मत और जायसी का पदमावत

इकाई 8
पदमावत में लोक परंपरा और लोक जीवन

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

खंड परिचय : भक्तिकाव्य-1 (निर्गुण काव्य)

खंड 1 में आप आदिकाव्य के अन्तर्गत चंदवरदाई कृत पृथ्वीराज रासो और विद्यापति कृत पदावली का अध्ययन कर चुके हैं। प्रस्तुत खंड-2 में आप भक्ति काल के दो प्रमुख कवि कबीर और जायसी का अध्ययन करने जा रहे हैं।

इकाई संख्या 5 **'कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता'** में कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से विचार विमर्श आरंभ किया गया है। इस इकाई में इस सवाल को समाने रखा गया है कि कबीर को मध्यकालीन समाज के एक रचनाकार प्रतिनिधि के रूप में कैसे देखा जाए। इसके बाद इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि कबीर पर पूर्ववर्ती धर्म साधना तथा सांस्कृतिक परम्परा का प्रभाव किस रूप में पड़ा है। कबीर अपने युग के प्रमुख चिंतक और रचनाकार के रूप में उभरे। मध्यकाल में कबीर के महत्व का मूल्यांकन करने के साथ-साथ इस इकाई में कबीर साहित्य की प्रासंगिकता पर भी विचार किया गया है।

इकाई 6 **'कबीर का काव्य शिल्प'** में कबीर की कविता के विभिन्न पदों पर विचार किया गया है। कबीर व्यंग्य के महान कवि हैं। उनकी भाषा व्यंग्य से धारदार बनती है। कबीर की कविता की भाषा के इस पक्ष पर विचार करने के साथ-साथ उनकी कविता में अभिव्यक्त भाव सौंदर्य और कलात्मक सौंदर्य का विवेचन किया गया है।

इकाई 7 **'सूफी मत और जायसी का पदमावत'** में भारत में सूफी मत के उद्भव और जायसी के साथ इसके संबंध की पड़ताल की गई है। इस इकाई में इस पक्ष पर विचार किया गया है कि मलिक मुहम्मद जायसी को केवेल कवि कहा जाए या सूफी कवि। इस परिप्रेक्ष्य में जायसी की कविता और खासकर पदमावत का मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 8 **'पदमावत में लोक परंपरा और लोक जीवन'** में भारतीय काव्य परंपरा में फारसी काव्य परंपरा के प्रभाव और कविता में आए बदलाव की चर्चा की गई है। इसी प्रसंग में हिंदी प्रेमाख्यान काव्यों का भी अवलोकन किया गया है। जायसी प्रेम के कवि हैं। उन्होंने इस प्रेम की विशद व्यंजना पदमा +वत में की है। पदमावत एक लोककथा होने के साथ-साथ एक प्रबंध काव्य भी है। इसमें कथानक रूढ़ियों का प्रयोग किया गया है। इकाई के अंत में जायसी की भाषा पर विचार किया गया है। उन्होंने पदमावत में अवधी भाषा की सर्जनात्मक प्रयोग किया है।

इकाई 5 कबीर की विचार चेतना और प्रासंगिकता

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
5.3 आज के संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन
5.4 कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव
5.5 कबीर का दर्शन
  5.5.1 ब्रह्म
  5.5.2 जीव
  5.5.3 माया
  5.5.4 जगत
  5.5.5 मोक्ष
  5.5.6 कबीर के राम
  5.5.7 भक्ति
5.6 सारांश
5.7 अभ्यास/प्रश्न

5.0 उद्देश्य

क्ति काव्य-I (निर्गुण काव्य) खंड की यह पहली इकाई है। इसे पढ़ने के बाद आप:

- कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से परिचित हो सकेंगे;
- आज के संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन कर सकेंगे;
- कबीर पर सिद्धों और नाथों के प्रभाव को परख सकेंगे; और
- कबीर के दर्शन के विविध पक्षों का अध्ययन कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

बीर के काव्य के मूल्यांकन से संबंधित विभिन्न पक्षों पर इस इकाई के अंतर्गत विचार किया गया है। पहली मस्या तो यही है कि कबीर को मध्यकालीन समाज के एक प्रतिनिधि रचनाकार के रूप में कैसे देखा जाय? री समस्या यह है कि कबीर तथा अन्य संत कवियों पर पूर्ववर्ती धर्म साधना तथा सांस्कृतिक परम्परा का क्या ई प्रभाव है या नहीं? तीसरा प्रश्न यह है कि कबीर अपने युग में नये विचारों के वाहक, अग्रणी चिंतक तथा नाकार के रूप में किस प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे? चौथा प्रश्न यह है कि आज कबीर साहित्य की ई सार्थकता तथा प्रासंगिकता है या नहीं?

के अतिरिक्त कबीर की विचारधारा और उनके दर्शन को लेकर अनेक प्रकार की भ्रांतियां फैली हैं। अत: के दर्शनपक्ष को ठोस रूप में प्रस्तुत किया गया है और यह बताया गया है कि वे न तो गोरखनाथ के ुयायी थे और न शंकराचार्य के। उनका अपना स्वतंत्र दर्शन था।

5.2 कबीर साहित्य के मूल्यांकन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सी भी रचनाकार की विचारधारा अथवा विचारचेतना का उद्भव और क्रमिक विकास किसी विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति के कारण ही होता है। कबीर की विचारचेतना और उसकी प्रासंगिकता का अध्ययन करने के लिए यह श्यक है कि उसे प्रचलित तत्कालीन परिस्थितियों के ठोस संदर्भ में देखा जाए और इस बात की छानबीन की

जाय कि उक्त परिस्थिति ने उनकी सोचसमझ, उनकी अनुभव प्रक्रिया और उनके संज्ञान को किस प्रकार प्रभावित किया। यद्यपि मध्ययुग की धार्मिक और दार्शनिक प्रणालियाँ सामंतवाद की सीमाओं में जकड़ी थीं किंतु इससे यह निष्कर्ष यांत्रिक रूप से निकालना सर्वथा भ्रांत होगा कि कबीर के विचार अथवा मध्ययुग के सभी विचार सामंती शासकों के हितों के पृष्ठपोषक थे। सामंती विचारधारा की सीमाओं तथा उस युग की ऐतिहासिक बाध्यताओं की जकड़बंदी के कारण कबीर की विचारधारा की भी सीमाएँ हैं, जिनके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की असंगतियों की झलक कबीर में भी उल्लेखनीय स्पष्टता के साथ दिखायी देती है।

कबीर नाथपंथी योगी परिवार में पले-बढ़े थे। ये नाथपंथी न तो हिन्दू माने जाते थे, न मुसलमान। 'कबीर' नामक पुस्तक में हज़ारी प्रसाद द्विवेदी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि "जोगी जाति का संबंध नाथपंथ से है। जान पड़ता है, कबीर के वंश में भी नाथपंथी संस्कार पूरी मात्रा में थे। यदि नाथपंथी सिद्धातों की जानकारी न हो तो कबीर की वाणियों को समझ सकना भी मुश्किल है।" गोरखनाथ के समय से ही नाथपंथी लोग हिन्दुओं और मुसलमानों के बाह्याचार, धार्मिक पाखंड, जातपाँत की कट्टरता, सामाजिक रूढ़िवाद और धार्मिक अंधविश्वासों के विरुद्ध भारत के पश्चिमी, उत्तरी और पूर्वी भागों में अपना आंदोलन चला रहे थे। नाथपंथियों में गृहस्थ लोग भी शामिल थे, पर आंदोलन का नेतृत्व मुख्यत: वैरागियों और फकीरों के हाथ में था। वे स्वेच्छा से गरीबी का, सादगी का और सांसारिक सुखों से विरक्त संतों का जीवन जीते थे। एक आंदोलन के रूप में नाथपंथियों की यह जीवनशैली सामंती विलासिता, ऐश्वर्य और मदांधता के खिलाफ एक प्रकार के प्रोटेस्ट या विरोध की अभिव्यक्ति थी। सामंतवाद के खिलाफ यह विरोध, सामंती शासकवर्ग के रहनसहन के तौरतरीकों, उनकी शाहखर्ची और ऐशो आराम के पीछे दीवाने रहने की उनकी आदतों के खिलाफ विरोध के रूप में प्रकट होता था। सांसारिकता को तिलांजलि देने की यह भावना, वैराग्य की यह प्रवृत्ति दरअसल उनकी विरोध भावना की ही आध्यात्मिक अभिव्यक्ति थी। दिल्ली सल्तनत के शासकों के काल में अर्थात् चौदहवीं पन्द्रहवीं सदियों में भूराजस्व की वसूली के क्रम में किसानों पर जिस प्रकार के जुल्म होते थे, उनके विरोध में लाखों किसान अपने गाँव छोड़कर, ज़मीन, घर-बार छोड़कर भाग जाते थे और शहरों के दस्तकारों-कारीगरों की टोली में शामिल हो जाते थे। यहाँ मध्ययुग के इतिहासकारों द्वारा इस संदर्भ में प्रस्तुत किये गये तथ्यों और निष्कर्षों को विस्तार से रखने की गुंजाइश न होने के कारण सिर्फ इतना बताना आवश्यक है कि किसानों पर जुल्म ढाने में हिन्दू और मुसलमान भूस्वामी समान रूप से हिस्सा लेते थे।

पलट कर विगत इतिहास के इन अध्यायों का गहराई से अध्ययन करने से ही पता चलता है कि सांसारिक सुखों से वैराग्य की भावना, जीवन की क्षणभंगुरता के बोध, जगत को काल का चबेना कहने की प्रवृत्ति, मानवीय समानता की पुकार, हृदय की शुद्धता, धार्मिक रूढ़िवाद के खंडन तथा निर्गुण ब्रह्म से सच्ची प्रीति (सहज समाधि) के पीछे मूलत: देहातों और शहरों के गरीबों की सामंतवाद-विरोधी चेतना ही व्यापक रूप में काम कर रही थी। सिद्धों, नाथों, संतों और सूफ़ियों के साहित्य को इसी ऐतिहासिक संदर्भ में ठीक से समझा जा सकता है। मध्ययुगीन साहित्य के रहस्यवाद को समझने की कुंजी भी यह ऐतिहासिक प्रक्रिया ही प्रदान करती है, न कि तात्विक चिंतन-प्रक्रिया। कबीर के रहस्यवाद और एकेश्वरवाद को दर्शन की कसौटी पर परखना सर्वथा गलत है। संतों या निरगुनिया कवियों के काव्य को समझने के लिए वैदिक परंपरा का चौखटा अपर्याप्त है। श्रमण परंपरा तथा सूफ़ी आंदोलन ने संत साहित्य की अंतर्वस्तु और उसकी वैचारिक चेतना के निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभायी थी। इसके साथ ही महाराष्ट्र के संतों में ज्ञानदेव और नामदेव ने भी हिन्दी की निरगुनिया काव्यधारा के प्रवर्त्तक कबीर को बड़ी गहराई से प्रभावित किया था। इतिहासकार प्रोफेसर इरफान हबीब के एक लेख (**'मध्ययुग में लोकप्रिय एकेश्वरवाद का ऐतिहासिक विन्यास'**) में कबीर के तथा अन्य निरगुनिया संतों के एकेश्वरवाद का विवेचन ऐतिहासिक संदर्भ में किया गया है। प्रोफेसर इरफान हबीब संतकाव्य आंदोलन के एकेश्वरवाद के एक "नाटकीय पहलू" अर्थात् नामदेव, कबीर, रैदास, नानक, दादू आदि की जातियों (रंगसाज, जुलाहा, चमार, खत्री, धुनिया) का उल्लेख करते हुए यह बताते हैं कि ये उत्पीड़ित और दलित सामाजिक तबकों से आये थे; इनका एकेश्वरवाद समाज की निचली जातियों की आवाज़ बनकर प्रगट हुआ था। कबीर के एकेश्वरवाद के संबंध में वे कहते हैं:

"वास्तव में कबीर ऐसे एकेश्वरवाद की स्थापना करते हैं, जिसमें ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण तो है परन्तु सारे धार्मिक अनुष्ठानों को नकारा गया है और इस तरह वह कट्टर इस्लाम से बहुत आगे निकल गया है। कबीर के लिए ईश्वर से एकाकार होने का अर्थ मनुष्यों का एक होना है और इसलिए वहाँ शुद्धता और छुआछूत की प्रथा को सम्पूर्ण रूप से, स्पष्ट शब्दों में नकारा गया है तथा सब तरह के अनुष्ठानों को अस्वीकार किया गया है।" (सांप्रदायिकता और संस्कृति के सवाल, पृ० 23)

कबीर का एकेश्वरवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न एक विचारधारा है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीवात्मा की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। अद्वैत वेदान्त का शंकराचार्य द्वारा प्रस्तुत विवेचन शास्त्रीय पुरोहितवाद का ही ऐसा संस्करण था जो पुरानी ढहती हुई सामाजिक व्यवस्था, ब्राह्मणवादी प्रभुत्व और जातपात के भेदभाव को नयी परिस्थितियों में बचाये रखना चाहता था। शंकराचार्य के नेतृत्व में नये सिरे से सारे हिन्दुस्तान में मठों और मंदिरों की प्रतिष्ठा हुई। सामंती राजाओं और भूस्वामियों ने दान तथा संरक्षण के द्वारा इस शास्त्रीय पुरोहितवाद, बाह्य आचारों, यज्ञों और मंदिरों को प्रोत्साहित कर बौद्धों, जैनों, शैवों, शाक्तों और अवैदिक श्रमण परंपराओं को परास्त करने के लिए शंकर के अद्वैतवाद को अपना नवीन घोषणापत्र बना लिया।

कबीर समेत भक्ति आंदोलन के सभी प्रारंभिक रचनाकारों का साहित्य अपने आप में एक शुद्ध धार्मिक आंदोलन की अभिव्यक्ति न होकर तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की टकराहटों और असंगतियों की आदर्शवादी अभिव्यक्ति है। भारतीय दर्शन के इतिहास के प्रसिद्ध व्याख्याता श्री के० दामोदरन की पुस्तक "भारतीय चिंतन परम्परा" में भक्ति आंदोलन नाम से एक स्वतंत्र अध्याय है। हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य को सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इसका अध्ययन करना चाहिए। उनकी पुस्तक के उल्लिखित अध्याय का यह अंश उपर्युक्त संदर्भ में पठनीय है :

"भक्ति आंदोलन के रचनाकारों ने सांस्कृतिक क्षेत्र में राष्ट्रीय नवजागरण का रूप धारण किया; सामाजिक विषयवस्तु में वे जातिप्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यंत महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे। इस आंदोलन ने भारत में विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों के उदय को नया बल प्रदान किया, साथ ही राष्ट्रीय भाषाओं और उनके साहित्य की अभिवृद्धि का मार्ग भी प्रशस्त किया। व्यापारी और दस्तकार, सामंती उत्पीड़न का मुकाबला करने के लिए, इस आंदोलन से प्रेरणा प्राप्त करते थे। यह सिद्धान्त कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य - फिर वे ऊँची जाति के हों अथवा नीची जाति के - समान हैं, इस आन्दोलन का ऐसा केंद्रबिंदु बन गया जिसने पुरोहित वर्ग और जाति प्रथा के आंतक के विरुद्ध संघर्ष करने वाले आम जनता के व्यापक हिस्तों को अपने चारों और एकजुट किया।" (वही, पृ० 327)

उदीयमान व्यापारी पूंजीवाद के एकदम शुरुआती समय अर्थात् चौदहवीं-पन्द्रहवीं सदी में मनुष्य की समानता और समस्त जनता की एकता पर जोर दिया जाना ऐतिहासिक आवश्यकता के अनुरूप एक ऐसा बोध और आह्वान था जो जातपाँत और धार्मिक भेदभाव पर आधारित तुच्छ सामाजिक विभाजनों को समाप्त करना चाहता था, चूंकि ये विभाजन घरेलू राष्ट्रीय बाजार के विकास के रास्ते में बाधा उत्पन्न करते थे, आर्थिक संबंधों में हो रहे परिवर्तनों को रोकते थे और व्यक्ति के गुणों तथा योग्यताओं को अनदेखा करते थे। उदीयमान व्यापारी पूंजीवाद की आवश्यकताओं की अभिव्यक्ति की दृष्टि से धार्मिक वेशभूषा और आध्यात्मिक तर्क-वितर्क के चोगे में प्रारंभिक भक्ति आंदोलन स्वतंत्रता, खासतौर पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और जातपाँत के श्रेणीक्रम से सामाजिक मुक्ति की ऐतिहासिक आकांक्षाओं के एक विराट जनजागरण का अग्रदूत बनकर प्रकट हुआ था। किंतु उसकी सीमाएं थीं। तभी यह आंदोलन सत्रहवीं सदी आते-आते शास्त्रीय पुरोहितवाद के द्वारा जीत लिया गया और इसपर सवर्ण हिन्दू समाज का रूढ़िवाद हावी हो गया। तुलसीदास अपनी रचनाओं में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक प्रवर्त्तकों की जिस भाषा में भर्त्सना करते हैं, खिल्ली उड़ाते हैं और वैदिक-पौराणिक संस्कृति के मानमूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा करते हैं, उससे भी उपर्युक्त निष्कर्ष को स्पष्ट रूप में समझने में मदद मिलती है। तुलसीदास से संबंधित पाठ में भक्तिकाल की ऐतिहासिक परिणतियों का यह परिप्रेक्ष्य विस्तार से प्रस्तुत किया गया है।

यहाँ आपके मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा कि जनजागरण का यह विराट आंदोलन विफल क्यों हो गया? इस प्रश्न का बहुत अच्छा उत्तर श्री के. दामोदरन ने दिया है। उनका कहना है कि "भक्तिकाल की अपनी सीमाएँ थीं। यह सच है कि सामूहिक प्रार्थनाओं, नृत्यों और संकीर्तनों से संतों का व्यक्तित्व जनता की सृजनात्मक क्षमता को प्रेरणा प्रदान कर रहा था। उनके व्यक्तित्व ने जनता में एक नई चेतना जगायी और क्रियाशीलता के लिए विशाल जनसमुदाय में नई स्फूर्ति पैदा की। उसने सामंतवाद के अंतर्गत फैले जातिवादी और धार्मिक अलगाव को भी खत्म किया। किंतु धर्म के लिए प्रेरणा मूलतः संवेदनात्मक अधिक होती है, तर्क करने अथवा युक्तिपूर्वक सोचने का अवसर कम मिलता है। अतः धार्मिक भावना न तो सामाजिक समस्याओं के तर्कसंगत विश्लेषण के लिए सक्षम है, न ही इन समस्याओं का युक्तियुक्त समाधान ढूँढ निकालने में वह अधिक सफल होती है। भक्ति आंदोलन ने आम जनता में जागृति तो पैदा की किंतु वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मौजूद असंगतियों के वास्तविक कारणों को समझने और मानव के दुखों और पीड़ाओं के नूतन समाधान प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुआ। यही एक मुख्य कारण है कि इस आंदोलन की परिणति, जिसने सामंती उत्पीड़न और पुरोहिती रूढ़िवाद के विरुद्ध जनता को संयुक्त किया था, अन्ततः घोर संकीर्णतावाद में हुई। सिक्ख धर्म की विकासप्रक्रिया इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।" (वही, पृष्ठ 335-36)

इसकी एक परिणति तुलसीदास में हुई, दूसरी परिणति सिक्खों के सांप्रदायिक रूढ़िवाद में हुई और तीसरी परिणति रीतिकाल में राधाकृष्ण के बहाने परकीया स्त्री के शृंगारवर्णन, नायक-नायिका भेद और सामंती संरक्षण में रचित दरबारी साहित्य के रूप में हुई।

सामाजिक-आर्थिक इतिहास में झांक कर श्री के० दामोदरन ने यह भी बताया कि **"यदि यह आंदोलन सदा के लिए सामाजिक असमानताओं और जातिप्रथा से उत्पन्न अन्यायों को खत्म नहीं कर सका, तो संभवतः इसका मुख्य कारण यह था कि कारीगर, व्यापारी और दस्तकार, जो इस आंदोलन के प्रधान आर्थिक आधार थे, अब भी कमजोर और असंगठित थे।"** (वही, पृष्ठ 337)

इतिहासकार इरफान हबीब की यह मान्यता है कि इससे पहले कि हिन्दुस्तान के अंदर धीमी गति से उदित होने वाला व्यापारी पूंजीवाद सामंतवाद पर विजय पाता, विज्ञान, तर्कशीलता तथा प्रौद्योगिकी के क्षेत्रों में अपना समुचित विकास कर हिन्दुस्तान को प्रगति की नई मंजिल पर पहुँचाता, मुगल शासन के उत्कर्ष काल में ही उसकी अवनति शुरू हो गई। अकबर के शासन के दौरान कट्टरपंथी इस्लाम और कट्टरपंथी हिन्दुत्व के झंडे के नीचे प्रौद्योगिकी, ज्ञानोन्मेष और लौकिक जीवन के प्रति तर्कशील दृष्टिकोणों को आगे ले चलने वाली ताकतों को पीछे हटना पड़ा। इतिहास की संक्रमणशील अवस्था के इसी दौर में अर्थात् सत्रहवीं सदी में यूरोप का व्यापारी पूंजीवाद आ धमका जिसके पास विज्ञान की अभ्युदयशील नई शक्ति थी और देशदेशान्तर पर प्रभुत्व हासिल करने वाले समुद्री बेड़े भी। मुगल शासन का अधिकृत इतिहास लिखने वाले अबुल फजल के हवालों से भी इन्हीं तथ्यों की पुष्टि होती है।

भक्तिकाल के अंतिम दौर में उसकी रूढ़िवादी परिणति और शास्त्रीय पुरोहितवाद की निर्विवाद पुनः प्रतिष्ठा को समझने के लिए इतिहास के इस आधारभूत नियम पर गौर करना आवश्यक है कि भक्ति आंदोलन के प्रारंभ से ही उसके अंदर परस्पर विरोधी दो प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं। एक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व सरहपा, गोरखनाथ, ज्ञानेश्वर, नामदेव, बाबा शेख फरीद आदि की विरासत को संशोधित-परिष्कृत करने वाले संत काव्यधारा के रचनाकार कर रहे थे।, दूसरी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व अद्वैत वेदान्त के व्याख्याताओं में रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि के विभिन्न संप्रदाय कर रहे थे।

भक्ति आंदोलन के इस द्वन्द्व अथवा अंतर्विरोध पर अनेक समालोचकों ने नये सिरे से विचार किया है। हिन्दी समालोचना में लम्बे अरसे तक यह समझा जाता रहा कि मध्ययुग के इतिहास और भक्तिकालीन साहित्य के भीतर अंतर्निहित अंतर्विरोध की व्याख्या की कुंजी हिन्दुत्व और इस्लाम के संघर्ष में मिलती है। इस दृष्टिकोण को श्यामसुंदर दास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी आदि ने पल्लवित किया था। लम्बे समय से बद्धमूल इस धारणा का खंडन करने और नयी दृष्टि से सोचने की प्रेरणा सबसे पहले डॉ. रामविलास शर्मा की ओर से आई। "आचार्य शुक्ल और हिन्दी आलोचना" नामक पुस्तक में उन्होंने मध्यकाल के हिन्दू सामंतों, पांडों, पुरोहितों आदि की भूमिका का प्रश्न उठाकर व्याख्या का नया सूत्र उपलब्ध कराया :
"जो लोग इस्लाम और हिन्दू धर्म की टक्कर में मध्यकालीन समाज की आशा-निराशा का स्रोत ढूँढते हैं वे उस समय के साहित्यिक आंदोलनों के सामाजिक आधार का सही-सही पता नहीं लगा सकते।" (वही, पृष्ठ 86, संस्करण 1955)

डॉ. रामविलास शर्मा से पहले भक्तिकाल के उद्भव की व्याख्या के संदर्भ में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के सांप्रदायिक आग्रह को खारिज करते हुए एक लम्बा निबंध 'भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकास' शीर्षक से लिखा था और मध्ययुग के लोकजीवन के भीतर की उस शक्ति की ओर इशारा किया था जो उसे **"स्वाभाविक विकास की ओर ठेले लिये जा रही थी।"** (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 15)

भक्तिकालीन भारतीय समाज के भीतर उभर रहे मूलभूत अंतर्विरोध की खोज करते हुए डॉ० नामवर सिंह ने "दूसरी परम्परा की खोज" में जो निष्कर्ष निकाला है, वह डॉ० राम विलास शर्मा और हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा बताये गये सूत्रों का ही नया रूपान्तर है। नामवर सिंह का कहना है : **"मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व है, न कि इस्लाम और हिन्दूधर्म का संघर्ष।"** (वही, पृष्ठ 77) अपनी इस स्थापना के निहितार्थ को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह प्रख्यात मार्क्सवादी इतिहासकार जॉन इरविन के एक लेख 'भारतीय सभ्यता और संस्कृति के भीतर वर्ग संघर्ष' (द क्लास स्ट्रगल इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर, द माडर्न क्वार्टर्ली, जिल्द 1, संख्या 2, लंदन, मार्च 1946) से एक बड़ा उद्धरण देते हैं। इस उद्धरण

पर गौर करना आवश्यक है। वह इस प्रकार है : "ऐसे समय आते रहे हैं जब आर्य लोग अपनी आत्मसात कर लेने की प्रवृत्ति को खो देते रहे हैं और परिणाम यह होता था कि ब्राह्मणवादी निरंकुशता पहले से ही आर्थिक दृष्टि से दलित जनता पर निष्ठुरतापूर्वक लाद दी जाती थी। ऐसी परिस्थिति में संकट अनिवार्य था। दलित जनशक्तियाँ रूढ़िवाद के स्तर के नीचे वेग से संगठित होने लगती थीं और एक खुले विद्रोह की भूमिका तैयार हो जाती थी। बौद्ध धर्म का प्रारंभिक इतिहास, वस्तुतः ऐसा ही था जिसने ब्राह्मणवादी कर्मकांड के विरुद्ध जनव्यापी विद्रोह का रूप धारण कर लिया था।" जॉन इरविन के उक्त लेख का दूसरा उद्धरण भी गौर करने लायक है जो भक्तिकाल के प्रारंभिक रचनाकारों, मुख्यतः संतों और वैष्णवों के साहित्य पर प्रकाश डालता है : "ये संप्रदाय ब्राह्मण धर्म की अनुदारता के विरुद्ध व्यापक जनविद्रोह के रूप में जनता द्वारा अपनाये गये। ये आंदोलन रहस्यवादी प्रकृति के थे और व्यक्ति को जाति तथा रूढ़ियों की परवाह किये बगैर अपने ढंग से पूर्णता प्राप्त करने का आह्वान करके ब्राह्मणों के पुरोहितवाद को सीधे चुनौती दे रहे थे। इस प्रकार लोकसंस्कृति वह मुख्य माध्यम बन गई जिसके द्वारा यह धार्मिक विद्रोह जनता में फैल गया और कालक्रम से उन आंदोलनों के समान ही, लोक संस्कृति, उच्चवर्गीय आचार संहिता की अवज्ञा का साधन बन गई। इसका परिधान हमेशा एक समृद्ध मानववाद रहा जिसमें जीवन की पूर्ण स्वीकृति और ऐन्द्रिक उपभोग का भाव निहित था और इस प्रकार यह भावना तपस्या और उपासना पर बल देने वाले कट्टरपंथ के सर्वथा विपरीत थी।" ('दूसरी परंपरा की खोज' में उद्धृत, पृष्ठ 77-78) जान इरविन के निष्कर्ष का यह अंश संतों और वैष्णवों की बानियों तथा पदों के सारतत्व पर अपना काल्पनिक आग्रह चस्पाँ कर देता है। अतः उल्लिखित रेखांकित वाक्यांश से सहमत होना मुश्किल है। नामवर सिंह ने इस पहलू को अनदेखा कर दिया है। सारे संत और वैष्णव रचनाकार लौकिक ज़ीवन और ऐंद्रिक उपभोग का तिरस्कार करते हैं। जान इरविन संभवतः संतों के साहित्य से पूरी तरह परिचित न थे, इसलिए यह गलती हुई है।

अगर आप इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच अंतर्विरोध को कुंजी बनाकर भक्ति साहित्य की व्याख्या करेंगे तो फिर यह आपकी विवशता होगी कि आप कबीर को इस्लाम का या हिन्दुत्व का प्रवक्ता मानें, जबकि कबीर न तो इस्लाम का प्रतिनिधित्व करते हैं और न हिन्दुत्व का। इस प्रकार की गलती अनेक समालोचकों ने की है। डॉ. धर्मवीर की अभी-अभी प्रकाशित पुस्तक 'कबीर के आलोचक' में इसी समस्या का विशद विवेचन किया गया है। अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की 1916 में प्रकाशित पुस्तक 'कबीर वचनावली' में कबीर तथा कबीर पंथ को हिन्दू धर्म की एक शाखा वैष्णव मत के अंतर्गत परिगणित किया गया है। इस निष्कर्ष पर तीखी टिप्पणी करते हुए डॉ. धर्मवीर कहते है : "हरिऔधजी का कबीर के दर्शन के बारे में यह निचोड़ तब है जब वे अच्छी तरह से जानते हैं कि कबीर ने अवतारवाद, देववाद, वर्णाश्रम धर्म, मूर्तिपूजा, कर्मकांड, व्रत-उपवास और तीर्थयात्रा का जमकर खंडन किया है। कबीर ने इन धार्मिक बातों का विरोध करने में किसी संदेह की गुंजाइश नहीं छोड़ी। यदि कबीर तब भी वैष्णव धर्म के हैं तो क्या हरिऔध जी का कोई भी रामानन्दी वैष्णव इन बातों में से किसी एक बात का भी कबीर की तरह खंडन कर सकता है?" (वही पृष्ठ 27)। कबीर और संतमत का अनुशीलन करने वाले हिन्दी के बड़े-बड़े विद्वानों ने कितनी भ्रांति फैलायी है, कितना भयंकर गड़बड़झाला किया है इसका उदाहरण हरिऔध जी का यह निष्कर्ष भी है कि कबीर द्वारा अवतारवाद और मूर्तिपूजा का खंडन मूलतः "प्राचीन आर्य धर्म का अवलम्बन" मात्र है तथा "कबीर साहब अंत में वेदान्त धर्मावलम्बी हो गये थे।" (कबीर वचनावली, पृष्ठ 53-54 तथा पृष्ठ 85) डॉ. धर्मवीर कबीर को आर्यधर्म, वैदिक परम्परा और इस्लाम का विरोधी सिद्ध करते हैं। उनकी मान्यता है : "वे साफ-साफ कहते हैं कि मैं हिन्दू नहीं हूँ, कोई मेरे मत की हिन्दू व्याख्या न करे, मेरा वेदों से विरोध है, हिन्दू धर्म के अवतारों को मैं नहीं मानता, लेकिन इसके बाद भी अयोध्या सिंह द्वारा इस पुस्तक में बार-बार हिन्दू लिखा गया है। अयोध्या सिंह की यही ब्राह्मणी दृष्टि इस बात के लिए जिम्मेदार है कि दलित समाज के धर्म की अलग पहचान नहीं बनने दी जाती। उनका अपना धर्म अलग है, उस धर्म की अलग परिभाषा है, लेकिन हिन्दू लेखक इसे जबरन अपने में मिलाना चाहते हैं। इस प्रकार दलितों द्वारा किये गये धार्मिक विद्रोह के सारे इतिहास को नाममात्र को और ऊपर-ऊपर से हिन्दुओं द्वारा अपने में समा लेने की गुप्त प्रक्रिया ही कबीर के पृथक धर्म की स्थापना में अड़चन और फलस्वरूप असफलता है। यह तो कोई बात नहीं हुई कि चूँकि कबीर ईश्वर को मानते हैं और हिन्दू भी ईश्वर को मानते हैं, इसलिए कबीर हिन्दू सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे तो ईसाइयों और मुसलमानों को हिन्दू कहना पड़ जाएगा।" (वही पृष्ठ 40) डॉ. धर्मवीर की इस पुस्तक में आचार्य शुक्ल के इस मत का भी खंडन किया गया है कि कबीर, रैदास, दादू आदि संतों की बानियों में "ज्ञान का जो थोड़ा-बहुत अवयव है, वह भारतीय वेदान्त का है।" (जायसी ग्रंथावली, पृष्ठ 120)।

श्यामसुंदरदास, रामचंद्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी, माता प्रसाद गुप्त आदि कबीर के विद्रोही तेवर के प्रशंसक नहीं माने जाते। पर हजारी प्रसाद द्विवेदी तो कबीर के बहुत बड़े प्रशंसक माने जाते हैं। डॉ. धर्मवीर कबीर की विचारधारा की सही-सही समझ और पहचान के मामले में हिन्दी आलोचना के गड़बड़झाले में हजारी प्रसाद द्विवेदी के योगदान को अचूक ढंग से उद्घाटित करते हुए कहते हैं :

"जो कबीर कहते हैं डॉ. द्विवेदी उस बात को उसी तरह से नहीं लेते। वे इसमें अपनी ब्राह्मणी नमकमिर्च लगाते हैं। कबीर को आरपार देखने का एक साफ कबीरी दर्पण है। लेकिन वे उस कबीरी दर्पण को हटाकर ब्राह्मणी दर्पण से कबीर को देखना चाहते हैं। फलत: उनके लिए कबीर एकदम दुर्बोध हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में कबीर स्पष्ट शब्दों में वेद का विरोध करते हैं। लेकिन डॉ. द्विवेदी को यह सिद्ध करना है कि वे वेद मत के समर्थक थे, कबीर पुराण और मूर्तिपूजा के विरोधी हैं लेकिन डॉ. द्विवेदी को यह सिद्ध करना है कि कबीर का दर्शन पुराणों से ही निकला है। कबीर रामानन्द को अपना गुरु नहीं मानते लेकिन डॉ. द्विवेदी को कबीर से ज्यादा इस जनश्रुति को प्रश्रय देना है कि कबीर के गुरु रामानन्द थे। यदि डॉ. द्विवेदी वेद, पुराण और रामानन्द के चश्मों के बिना कबीर को समझने का प्रयत्न करते तो उनके लिए कबीर दुर्बोध नहीं रह जाते।" (वही पृष्ठ 77) डॉ. द्विवेदी वैदिक-पौराणिक रस्सों, चश्मों, चौखटों से बंधे हैं, अत: वे कबीर के वेद-विरोधी विस्फोट को "वैदिक और पौराणिक व्याख्या के बर्तनों में संभालना चाह रहे थे।" (वही, पृष्ठ 77)।

हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक "कबीर" से डॉ. धर्मवीर ने अनेक ऐसे उदाहरण देकर यह बताया है कि द्विवेदी जी में भी वैदिक-पौराणिक संस्कृति का चौखटा कितनी गहराई के साथ बद्धमूल है। उदाहरण के लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस निष्कर्ष को लिया जा सकता है - "चाहे कबीर साहब हों अथवा पन्द्रवीं सदी के दूसरे निर्गुणवादी, उन सबके मार्ग-दर्शक गुप्त रूप से पुराण ही हैं।" (कबीर, पृष्ठ 117)

हिन्दी आलोचना में बद्धमूल वैदिक-पौराणिक विचार-दृष्टि से लिपटे मूल्यांकनों का मकड़जाल कबीर साहित्य की समालोचना पर भी फैला हुआ है। इससे मुक्त होकर ही कबीर को सही ढंग से समझा जा सकता है।

5.3 आज के संदर्भ में कबीर का मूल्यांकन

अतीत के अनेक रचनाकारों का कृतित्व साहित्यिक इतिहास और सांस्कृतिक संग्रहालय का मृत अंश बन चुका है। पर कबीर का साहित्य इस प्रकार का अप्रासंगिक और निष्प्राण साहित्य नहीं है। आज की विचारधारात्मक उठापटक और सामाजिक वितंडावाद के बीच अनेक बार कबीर की बानियों के हवाले दिये जाते हैं; उनकी उक्तियों की सार्थकता बतायी जाती है और उन्हें आज के सवर्ण हिन्दूवादी आग्रहों तथा मुस्लिम कट्टरपंथ से लड़ने के लिए बुलावा दिया जाता है।

आपको संभवत: यह भी मालूम होगा कि विगत साहित्यिक विरासत के मूल्यांकन, भक्तिकाल के मूलभूत अंतर्विरोधों की परीक्षा तथा साहित्य में रहस्यवाद की भूमिका को लेकर पिछले पचास वर्षों की हिन्दी समालोचना में जितने विवाद हुए हैं, सारे विवादों के केंद्र में कबीर ही रहे हैं। उनके साहित्य पर आचार्य शुक्ल की टिप्पणियों को लेकर भी कम बहस नहीं रही है। यहाँ तक कि पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नाम से एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिख दी। इसके बावजूद अभी तक विवाद थमा नहीं है। अभी पिछले अरसे में ही नामवर सिंह ने "दूसरी परम्परा की खोज" नामक पुस्तक में कबीर की पुन: प्रतिष्ठा के क्रम में मार्क्सवादी साहित्य समीक्षा को खंगालने का एक विचारोत्तेजक प्रयास किया है।

दरअसल अतीत के क्लासिक साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में आज की समालोचना के सामने दोहरी समस्या है - उस विशेष कालखंड में उक्त साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका तथा आज के युग में उक्त साहित्य की सार्थकता। विगत युग की क्लासिक कृतियों के तत्कालीन संपूर्ण संदर्भों में अर्थवत्ता के हर आयाम का निचोड़ प्रस्तुत करने का दायित्व आलोचना के आगे एक चुनौती की तरह होता है। इसी तरह आज उक्त कृतियों को अपने युगबोध और वर्तमान यथार्थ के अंतर्विरोधों के हर आयाम के आलोक में पढ़ना होगा, तभी हम क्लासिक साहित्य की विगत अर्थवत्ता और वर्तमान सार्थकता के बीच संबंध कायम कर पायेंगे। आलोचना के आगे यह दूसरी चुनौती है।

'कबीर वाणी' नामक एक पुस्तक का अभी-अभी प्रकाशन हुआ है। इसके संकलनकर्त्ता संपादक हैं उर्दू के प्रसिद्ध प्रगतिशील शायर अली सरदार जाफरी। इस पुस्तक की भूमिका में सरदार जाफरी ने उल्लिखित दोनों संदर्भों में अपना विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि कबीर की बानियों में "दिखावटी धर्म से विद्रोह और वास्तविक

धर्म के प्रचार का क्रांतिकारी पहलू यह था कि उसने मध्ययुग के मनुष्य को आत्मप्रतिष्ठा, आत्मसम्मान और आत्मविश्वास दिया और मनुष्य को मनुष्य से प्रेम करना सिखाया। संतों और सूफियों के पास उतनी ताकत तो थी नहीं कि वे उस अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ सकते जिनका केंद्र शाही दरबार और अमीरों के महल थे। इसलिए उन्होंने उनकी तरफ से बड़े तिरस्कार के साथ मुँह फेर लिया और संतोष और धीरज का उपदेश दिया। संतोष का अर्थ वैराग्य नहीं था बल्कि बादशाहों, दरबारियों, और अमीरों से विमुख होकर व्यापार और शारीरिक श्रम से रोजी कमाना था जिसका आदर्श कबीर ने पेश किया था। उस युग में व्यापार को राजसेवा के मुकाबले में तुच्छ समझा जाता था। इसलिए व्यापार और शिल्प की आमदनी पर संतोष करना और ईश्वर का उपकार मानते हुए जीवन व्यतीत करना ही सबसे बड़ा संतोष था।'' (कबीर वाणी, पृष्ठ 34)

विगत युग में कबीर के कृतित्व का सारतत्व प्रस्तुत करने के बाद सरदार जाफरी ने आज के युग-संदर्भ में अपना मंतव्य इस प्रकार रखा है :

"हमें आज भी कबीर के नेतृत्व की जरूरत है, उस रोशनी की जरूरत है जो इस संत के दिल से पैदा हुई थी। आज दुनिया आजाद हो रही है। विज्ञान की असाधारण प्रगति ने मनुष्य का प्रभुत्व बढ़ा दिया है। उद्योगों ने उसके बाहुबल में वृद्धि कर दी है। मनुष्य सितारों पर कमंदें फेंक रहा है। फिर भी वह तुच्छ है, संकटग्रस्त है, दुःखी है। वह रंगों में बंटा हुआ है, जातियों में विभाजित है। उसके बीच धर्मों की दीवारें खड़ी हुई हैं। सांप्रदायिक द्वेष है, वर्ग संघर्ष की तलवारें खिंची हुई है।'' (वही, पृष्ठ 35)

जातियों, धर्मों, वर्गों आदि में विभाजित समाज की संकटग्रस्तता के समय कबीर का साहित्य प्रासंगिक हो जाता है, चूँकि मध्ययुगीन समाज की लगभग ऐसी ही चुनौतियों और उथलपुथल के बीच उन्होंने महान ऐतिहासिक भूमिका निभायी थी। कबीर युगसंधि के उस काल में उत्पन्न हुए थे जब भिन्न-भिन्न धर्मसाधनाओं और सामाजिक विचार-प्रवृत्तियों के बीच अंतहीन टकराहट का सिलसिला शुरू हो गया था। हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर युगसंधि के ऐसे ही चौराहे पर उत्पन्न हुए थे। 'वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे। वे हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे। वे साधु होकर भी योगी (अगृहस्थ) नहीं थे। वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे। ये योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान के नृसिंहावतार की मानो प्रतिमूर्ति थे।'' (हिन्दी साहित्य : उसका उद्भव और विकास, पृष्ठ 77) कबीर के संबंध में हजारी प्रसाद द्विवेदी के निम्नलिखित उद्धरण की अक्सर चर्चा की जाती है: ''कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिंदु पर खड़े थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है, दूसरी ओर मुसलमानत्व; जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा; जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग; जहाँ एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना; उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये मार्गों के गुणदोष उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।'' (वही, पृष्ठ 77-78)

कबीर ने शास्त्रीय ग्रंथों और पोथियों के ज्ञान को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था, चूँकि यह पुराना ज्ञान मनुष्य-मनुष्य के बीच स्वाभाविक प्रेमपूर्ण संबंध के रास्ते में अवरोध बन गया था। सारे धार्मिक मतवादों, साधनापद्धतियों, उपासनामार्गों, कर्मकांडों, और ब्राह्याचारों का खंडन कर आत्मचेतना, आत्मतत्व, अंतः साक्षात्कार, मनुष्य की आत्मा की निर्मलता और मानवीय सद्भाव की सहजता को नये लोकधर्म के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए वे संघर्ष चला रहे थे। जनसाधारण की भाषा में वे नयी विचारधारा का प्रचार कर रहे थे। अंहकार से मुक्ति, सदाचार के पालन और इन्सानी रिश्ते में आपसी प्यार की नयी नैतिकता का वे पाठ पढ़ा रहे थे। डॉ. रामकुमार वर्मा की दृष्टि में "कबीर ने धर्म और जीवन में कोई भेद नहीं रहने दिया। जीवन की सात्विक अभिव्यक्ति ही धर्म का सोपान है। जिस धर्म के लिए जीवन की स्वाभाविक और सात्विक गति एवं मति में परिवर्तन करना पड़े, उसे हम धर्म की संज्ञा नहीं दे सकते।'' (हिन्दी साहित्य (द्वितीय खंड) संपादक धीरेन्द्र वर्मा एंव ब्रजेश्वर वर्मा - पृष्ठ 212)। नये मानववाद की स्थापना के लिए यह अद्भुत प्रकार का आंदोलन था। सभी धर्मों, सभी पंथों, सभी मत-मतान्तरों को खारिज कर वे एक तत्व पर जोर दे रहे थे, जिसे कुछ विद्वान एकेश्वरवाद की संज्ञा देते हैं, कुछ विद्वान अद्वैतवाद के नाम से अभिहित करते हैं और कुछ लोग निर्गुणवाद कहते हैं। यह अनुभव पर आधारित नया ज्ञान था - अतः अनेक विद्वान कबीर के मत को ज्ञानमार्ग की भी संज्ञा देते हैं। एक तत्व पर शास्त्रीय ग्रंथों, धार्मिक आडम्बरों और मनुष्य के अंहकार के कारण पर्दा पड़ा हुआ है। पुराने ज्ञान और आडम्बर और अहंकार से मुक्त होकर ही उस एक तत्व को पाया जा सकता है :

हरि है खांड रेतु महि बिखरी, हाथी चुनी न जाई।
कहि कबीर गुरि भली बुझाई, कीटी होई कै खाई।।

हरि तो खांड की तरह है जो संसार रूपी रेत में बिखरा हुआ, फैला हुआ, मौजूद है। अंहकार और मद से उन्मत मन रूपी हाथी उसे चुन नहीं सकता। कबीर का कहना है कि गुरु ने उन्हें भलीभांति समझाबुझा दिया है कि अपनी सहज और सूक्ष्म शक्ति से कीट की तरह अथवा चींटी की तरह उस खांड को पाया जा सकता है। मैं यही कर रहा हूँ।

हरि, ईश्वर, राम, गोविन्द आदि उस परम तत्व के ही प्रतीक हैं। कबीर के यहाँ ईश्वरतत्व और मानवप्रेम दोनों अभिन्न हैं। उसे पिता रूप में, माँ के रूप में, मित्र के रूप में, पति रूप में, प्रेयसी के रूप में - सभी प्रकार के मानवीय रिश्तों द्वारा सहज ही पाया जा सकता है।

जातिप्रथा और वर्णाश्रम व्यवस्था पर जितनी चोट कबीर ने की थी, उतनी मध्ययुग में किसी ने भी न की थी। कबीर की बानियों की तात्विक मीमांसा के क्रम में प्रायः सभी समालोचकों ने यह सिद्ध किया है कि कबीर ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। इन विद्वानों ने यह भी सिद्ध किया है कि कबीर निर्गुण ईश्वर, अज्ञात परमसत्ता या सृष्टि के रचयिता ब्रह्म के अस्तित्व में विश्वास करते हैं पर श्री कबीर मंदिर बड़हरा के संत अभिलाष दास इन मान्यताओं का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि कबीर ब्रह्मवाद नहीं मानते बल्कि जीवात्मा को ही एक मात्र परम तत्व के रूप में स्वीकार करते हैं। कबीर के पदों की व्याख्या का सर्वथा नया वैचारिक परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हुए श्री अभिलाष दास ने अपना अलग निष्कर्ष निकाला है :

"यह चेतन जीव ही परम तत्व है। सारी कला-कल्पनाएँ, सारे ज्ञान-विज्ञान इसी के हैं। जीव ही ईश्वर-ब्रह्म, देवी-देवता तथा भूतप्रेत की कल्पना करने वाला तथा वेद, बाइबिल, कुरान आदि शास्त्रों का रचने वाला है। अतः जीव ही सर्वोपरि है। सद्गुरु पहली ही रमैनी में कहते हैं 'एक जीव कित कहूँ बखानी।' अर्थात् एक जीव ही सत्य है, मैं विशेष वर्णन करके क्या कहूँ।" (कबीर - व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ 106)

विश्वविद्यालयों के हिन्दी जगत तथा हिन्दी समालोचना क्षेत्र के विद्वानों के बीच कबीर के दर्शन और उनकी विचारधारा पर नये सिरे से विवेचन-विश्लेषण की आवश्यकता महसूस की जा रही है क्योंकि ब्राह्मणवादी चिंतनप्रणाली से कबीर की बानियों की सुसंगत व्याख्या हो नहीं पा रही। परन्तु अभिलाष दास की व्याख्याएँ कबीर के अभिप्रायों को कहीं अधिक सहज तथा सुसंगत रूप में पेश करती हैं। इन व्याख्याओं से यह भी स्पष्ट होता है कि कबीर अगम, अगोचर, परोक्ष, निर्गुण के समर्थक न होकर इहलौकिकता और जीववाद के समर्थक थे। उदाहरण के लिए अभिलाष दास निम्नलिखित साखी की जो व्याख्या करते हैं, उस पर गौर कीजिए :

साँच कहौं तो है नहीं, झूठहि लागु पियारि।
मो शिर ढारे ढेंकुली, सींचे और कि क्यारि।।

अर्थात् यदि सच्ची-सच्ची कहूँ तो कहना पड़ेगा कि परमात्मा है ही नहीं। पर लोग यह नहीं मानते और झूठी बात ही उन्हें पसंद आती हैं; झूठी बातें ही उन्हें प्रिय लगती हैं। लोग मेरे सिर पर ढेंकुली ढारते हैं और दूसरे की क्यारी सींचते हैं अर्थात् अनुयायी मेरा कहलाते हैं और परिपोषण दूसरे मतों का करते हैं।

इसी तरह निम्नलिखित पद की व्याख्या पर ध्यान दीजिए -

अलख निरंजन लखै न कोई। जेहि बंधे बँधा सब लोई।
जेहि झूठे सब बाँधु अयाना। झूठा वचन साँच कै माना।।

अर्थात् अलक्षित परब्रह्म को किसी ने देखा नहीं। पर अचरज की बात है कि परब्रह्म परमेश्वर की अवधारणा से सब लोग बंध गये हैं। जिस झूठ की मान्यता में सब अज्ञानी बंधे हैं, उस झूठे वचन को उन्होंने सच्चा करके मान रखा है।

यहाँ मैंने कबीर साहित्य के अध्ययन की इस नई दिशा की ओर संकेत मात्र किया है। विस्तृत जानकारी के लिए अभिलाष दास कृत "बीजक पारख प्रबोधिनी व्याख्या" और "कबीर दर्शन" नामक पुस्तकों का गंभीरता से

अध्ययन आवश्यक है। व्याख्या, आस्वादन, वैचारिक विश्लेषण और मूल्यांकन की दृष्टि से हिन्दी समालोचना किस तरह ब्राह्मणवादी आग्रहों और कसौटियों से ग्रस्त है, यह 'कबीर के आलोचक' नामक पुस्तक के लेखक डॉ. धर्मवीर दिखला चुके हैं। अत: वैदिक-पौराणिक सांस्कृतिक दृष्टि पर पुनर्विचार की प्रक्रिया में कबीर एक जटिल समस्या बनकर आ खड़े हुए है मानो आज भी कह रहे हों -

"यह जग अंधा मैं केहि समझावौं। घर की वस्तु नजर नहिं आवत, दियना बारि के ढूँढ़त अंधा।"

इधर समकालीन कवियों-कलाकारों के बीच कबीर पथप्रदर्शक बनकर आ धमके हैं। अभी पिछले दिनों भीष्म साहनी द्वारा लिखित नाटक 'कबिरा खड़ा बाजार में' की, रंगमंच पर एम.के. रैना ने नाट्य-प्रस्तुति की थी। केदारनाथ सिंह के नये कवितासंग्रह में 'उत्तर-कबीर' नाम से एक लम्बी कविता है जो आज के यथार्थ की विडंबनाओं को उलटबाँसी की शैली में प्रस्तुत करती है।

कथ्य और सांकेतिक व्यंजनाओं के कारण कबीर की बानियां आज के पाठकों को समकालीन जीवन के बदले हुए संदर्भों में उतनी ही झकझोरती हैं, जितना मध्यकालीन यथार्थबोध के संदर्भों में। इसीलिए कबीर के साहित्य पर कालदेवता का वश नहीं चलता, चूंकि धूल झाड़कर हर चुनौती के मौके पर वह बहस के अखाड़े में मुस्तैद होकर खड़ा हो जाता है।

5.4 कबीर पर सिद्धों और नाथों का प्रभाव

कबीर की बानियों की काव्यात्मक बुनावट पर तथा उनकी विचारधारा पर सिद्ध साहित्य, नाथपंथी योगियों के साहित्य तथा मराठी संत कवियों में ज्ञानेश्वर तथा नामदेव के साहित्य का गहरा प्रभाव है। कबीर ही नहीं संपूर्ण संत साहित्य आठवीं-नौवीं सदी से चली आ रही विभिन्न अवैदिक साधना पद्धतियों से काफी-कुछ ग्रहण करता है, पर अपनी विचारधारा का भी स्वतंत्र रूप में विकास करता है। इसलिए यह भ्रम हम-सबको नहीं होना चाहिए कि कबीर की विचारधारा नाथपंथ की नकल मात्र है। उसका अपना स्वतंत्र स्वरूप है। यद्यपि कबीर बौद्धों से भी बहुत-कुछ लेते हैं, योगियों और तांत्रिकों से भी, पर कबीर न तो बौद्ध हैं, न हठयोगी, न नाथपंथी। पन्द्रहवीं सदी की ठोस सामाजिक वास्तविकताओं और वैचारिक चुनौतियों के बरक्स कबीर की विचारधारा क्रमश: और उत्तरोत्तर विकसित होती है। बौद्ध धर्म का जब ह्रास हुआ तो आठवीं-नौवीं सदी तक आते-आते वह तंत्र-मंत्र की साधना में बदल गया और उसके अपने बाह्याचार तथा कर्मकांड भी बन गये। वज्रयान और महायान नामक शाखाओं में विभक्त बौद्ध भिक्षुओं के साधना-संबंधी पदों में काया योग, सहज शून्य की अवस्था तथा समाधि जन्य भावदशाओं का वर्णन मिलता है। इसी साहित्य को 84 सिद्धों का साहित्य कहा जाता है। हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में सिद्ध साहित्य के **"पदों की योजना इस प्रकार की है कि ऊपर से उससे कुत्सित लोक-विरुद्ध अर्थ प्रकट हो, या परस्पर विरोधी अनर्थक बातें प्रतीत हों, किंतु साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी प्राप्त होने पर साधनात्मक विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाए।"** (हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृष्ठ 15) इन्हीं रचनाओं को उलटबांसियों की संज्ञा दी जाती है। कबीर ने भी ऐसी उलटबाँसियों की रचना की है। इन्हें कूट पद या अन्योक्ति शैली के पद मानने में हिन्दी के विद्वानों को कोई कठिनाई नहीं रही है। नाथपंथी जोगियों में खासकर मछेंदरनाथ और गोरखनाथ के भी ऐसे कूट पद मिलते हैं। उलटबाँसी की यह काव्यपरम्परा निरगुनिया संतों की बानियों में अपने परिपक्व और समृद्ध रूप में देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए कबीर का निम्नलिखित पद देखा जा सकता है:

एक अचंभौ देखा रे भाई।
ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।।टेक।।
पहिलै पूत पिछै भई माई, चेला कै गुर लागै पाई।
जल की मछरी तरवरि ब्याई, कूता कौ लै गई बिलाई।
बैलहि डारि गोंनि घरि आई, घोरै चढ़ि भैंस चरावन जाई।
तलि करि साखा उपरि करि मूल, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर या पद कौं बूझै, ताकौं तीनिउँ त्रिभुवन सूझै।।

कबीर कहते हैं कि हे भाई, मैंने एक अचंभा देखा कि सिंह खड़ा होकर गाय चरा रहा है। पहले पुत्र हुआ, पीछे माता हुई। गुरु शिष्य के पैर छूता है। जल में विचरने वाली मछली पेड़ के ऊपर बच्चा देती है। बिल्ली कुत्ते का शिकार कर उठा ले जाती है। अनाज की थैली बैल को बाहर छोड़कर घर वापस आ गई। भैंस घोड़े पर

बैठकर उसे चराने जा रही है। पेड़ की शाखा जमीन के अंदर नीचे है और जड़ ऊपर की तरफ है। फूल डालों और टहनियों में नहीं लगते बल्कि जड़ों में खिले हुए हैं। कबीरदास कहते हैं कि जो इस रहस्य को समझता है, उसे तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है। इस पद का यह ऊपरी अर्थ है, पर उलटबाँसी के रूप में इसकी व्यंजना भिन्न है। कबीर कहते हैं कि जीव ने इन्द्रियों को वशीभूत कर लिया है (सिंह गाय को चरा रहा है)। सिद्धि प्राप्त कर लेने के बाद आत्मतत्व स्वंय जीवात्मा तक पहुँच जाता है (गुरु स्वयं शिष्य के पैर छूता है)। मूलाधार में स्थित कुंडलिनी उत्थित होकर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरंध्र अर्थात् गगनमंडल में पहुँचकर ज्ञान को जन्म देती है - अर्थ यह कि विषयोन्मुख बहिर्मुख प्रवृत्ति अंतर्मुख प्रवृत्ति के नियंत्रण में आ जाती है (बिल्ली कुत्ते को दबोच लेती है)। साधक की सिद्धावस्था में मन (अनाज की थैली, गोंनी) अविवेक (बैल) को चैतन्य (घर) की ओर ले जाता है। सिद्धावस्था में इन्द्रियों (घोड़े) की सवारी निग्रहवृत्ति (भैंस) द्वारा हो जाती है अर्थात् इन्द्रियाँ निग्रहवृत्ति के नियंत्रण में आ जाती है। मनुष्य के शरीर की रचना ही ऐसी है कि मूल, जड़ (मस्तिष्क, ब्रह्मरंध्र) ऊपर रहता है और शाखाएँ (नाड़ी मंडल) नीचे। साधना की सिद्धावस्था में शरीर के मूल अर्थात् चैतन्य में, ब्रह्मरंध्र में, मस्तिष्क में आनन्द के फूल खिल उठते हैं। कबीर कहते हैं कि सिद्धावस्था के इस रहस्य को जो जान लेता है, उसे तीनों लोकों के ज्ञान का साक्षात्कार हो जाता है। मूल शब्द में श्लेष है और संपूर्ण पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

आपने ध्यान दिया होगा कि इस पद में किस तरह उलटा-पुलटा बयान किया गया है। आपने इस बात पर भी गौर किया होगा कि कहना कुछ चाहते हैं, पर कहते कुछ और ही हैं। ऊटपटांग ढंग से वर्णन की इस कला में मूल मंतव्य ढँका हुआ रहता है यानी मुख्य आशय पारिभाषिक पदों और प्रतीकों के व्यंजना व्यापार द्वारा ही प्रकट होता है। सुषुम्ना, नाड़ी मंडल, ब्रह्मरंध्र, साधना, सिद्धावस्था, विषयासक्ति, इन्द्रियाँ, आनन्द, आत्मतत्त्व जैसे पारिभाषिक पद तांत्रिकों, योगियों, सिद्धों, नाथों और संतों में समान रूप से प्रचलित थे। ये सभी सम्प्रदाय इनका समान अर्थ करते थे। अत: साधना संबंधी शब्दों को कुछ प्रतीकों के साथ संयुक्त करके नये अर्थ की व्यंजना के लिए इस्तेमाल में लाया जाता था। उलटबाँसी की यह शैली सरहपाद, गोरखनाथ और कबीर में समान रूप से मिलती है। कबीर तथा अन्य संतों ने सहज समाधि के आनन्द के क्षणों की अभिव्यक्ति में कुछ नयी उद्भावनाएँ भी कीं जो नाथों और सिद्धों के पदों में नहीं मिलती हैं। **'अनभै साँचा'** अर्थात् सहज सच्चे अनुभव-ज्ञान की कसौटी भी मूलत: निरगुनिया संत कवियों ने ही विकसित की। परम तत्त्व से एकाकार होने की साधना की अभिव्यक्ति के लिए स्त्री-पुरुष प्रेम, पिता-पुत्र प्रेम, माँ-बेटे के प्रेम के रूपक के अलावा दास्य भाव की प्रेमभक्ति के साँचे का भी उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त साधक की तुलना शूर से करते हुए युद्ध के रूपकों में भी साधना के कठिन मार्ग को बतलाया गया है :

जब बजै जुझाउर बाजा, तब कायर उठि-उठि भाजा।
कोई सूर लड़ै मैदानां, जिन मारि किया घमसांनां।।
जहँ बाँधि सकल हथियारा, गुर ग्यांन कौ खड्ग सम्हारा।
जब बस कियौ पांचौ थाना, तब राम भया मिहर बांना।।
(पदसंख्या 205, कबीर वाड.मय, खंड 2, पृष्ठ 259)

जातिप्रथा, सामाजिक भेदभाव, धार्मिक कर्मकांड, मूर्तिपूजा, बाह्याचार, छुआछूत, यज्ञ, वेद-पुराण, पंडित-पुरोहित आदि की तीखी आलोचना यद्यपि सिद्धों और नाथों की बानियों में भी मिलती है, पर एक व्यवस्थित वैचारिक साँचे में कबीर ने वैदिक-पौराणिक संस्कृति के सभी पहलुओं पर आक्रमण की नई अभिव्यक्ति-प्रणाली का प्रवर्त्तन किया, जिसे बाद में परवर्ती संतों तथा कबीरपंथी रचनाकारों ने और भी समृद्ध किया। दलीलों की एक अनुभवगम्य सहज लोकशैली का विकास मध्यकालीन संतकाव्य की सर्वोपरि विशेषता है। यद्यपि बाद में निर्गुण के खंडन के लिए सूरदास के भ्रमरगीत में और तुलसीदास के रामचरितमानस में भी इस शैली का अपने ढंग से विकास किया गया। पर सीधी मार करनेवाली जुबान और तर्कशक्ति का जैसा अक्खड़पन संतों की बानियों में मिलता है, वैसा अन्यों की रचनाओं में फिर उपलब्ध न हो सका। इस प्रसंग में यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन की गुंजाइश नहीं है। कबीर की भाषा की व्यंग्यशक्ति पर चर्चा के क्रम में विस्तार से आप इसका अध्ययन कर पायेंगे।

हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामकुमार वर्मा आदि विद्वानों की मान्यता है कि कबीर आदि संत कवियों पर सिद्धों का उतना ही प्रभाव पड़ा जितना नाथपंथ के माध्यम से आ सकता था। इन विद्वानों ने नाथों और संतों के साहित्य को आमने सामने रखकर यह प्रमाणित किया है कि दोनों के बीच बड़ा गहरा संबंध है; यह संबंध प्रत्यक्ष भी है और प्रगाढ़ भी। रामकुमार वर्मा की यह टिप्पणी उल्लेखनीय है: "नाथ संप्रदाय की आचार निष्ठा, विवेक

सम्पन्नता, अंधविश्वासों को तोड़ने की उग्रता एवं परम्परागत कर्मकांडों की निरर्थकता संत संप्रदाय में सीधी चली आई। अनेक प्रसंगों में उनकी अभिव्यक्ति में साम्य है।'' (हिन्दी साहित्य, द्वितीय खंड, संपादक : धीरेन्द्र वर्मा, प्रकाशक : भारतीय हिन्दी परिषद, प्रयाग, पृष्ठ 204) जिस उल्लिखित पुस्तक में एक अध्याय के तौर पर संतकाव्य की यह विवेचना प्रकाशित हुई है, मेरा सुझाव है, इसे आप सब लोग ध्यान से अवश्य ही पढ़ें। आपकी सुविधा के लिए रामकुमार वर्मा द्वारा लिखित इस विवेचना का एक और भी अंश प्रस्तुत कर रहा हूँ :

''यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि संतकाव्य में प्राचीन वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गई है। यदि इस दृष्टिकोण से संतकाव्य पर विचार किया जाए तो ज्ञात होगा कि इसका दृष्टिकोण बौद्ध धर्म के दृष्टिकोण के अनुरूप ही है जो शताब्दियों तक वैदिक धर्म से संघर्ष करता रहा। यदि बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास देखा जाए तो स्पष्ट हो जाएगा कि संतकाव्य बौद्ध साहित्य की परम्परा से ही अनुप्राणित हुआ होगा। बौद्ध साहित्य से वैपुल्यवाद या महायान का विकास हुआ, महायान में मंत्रयान, मंत्रयान से वज्रयान या तांत्रिक बौद्ध धर्म में परिणत हुआ। इसी वज्रयान की प्रक्रिया में नाथ संप्रदाय का विकास हुआ और नाथ संप्रदाय के प्रेरणामूलक तत्वों को ग्रहण कर संत संप्रदाय अवतरित हुआ। यह देखा जा सकता है कि इस विकास की प्रक्रिया में बौद्ध धर्म से लेकर नाथ संप्रदाय तक जो जो जीवन के तत्व मनोभावों के धरातल पर उभर सके उन सबका समाहार संत संप्रदाय में हुआ। बौद्ध धर्म के शून्यवाद से लेकर नाथ संप्रदाय के योग तक तथा वज्रयान के सिद्धों की 'संधा भाषा' की उलटबाँसियों से लेकर नाथ संप्रदाय की अवधूत भावना तक संतकाव्य में सभी विचार-सरणियाँ पोषित हो सकीं। बौद्ध धर्म से प्रेरित इस विचारधारा के विकास से ही यह संभव हुआ कि संतकाव्य समस्त वैदिक परम्परा के उन कर्मकांडों का विरोध कर सका जो कालान्तर में वैष्णव धर्म में भक्ति के साधन थे। इसीलिए अवतार, मूर्ति, तीर्थ, व्रत, माला आदि संत संप्रदाय को ग्राह्य नहीं हो सके, जो कर्मकांड के प्रतीक बने हुए थे। दूसरी ओर शून्य, कायातीर्थ, सहज समाधि, योग जिसके अंतर्गत इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियाँ, षटचक्र, सहस्र दल कमल, चन्द्र और सूर्य तथा जीवन की स्वाभाविक और अन्तः करणजनित श्रद्धा और रागात्मिका वृत्ति की प्रधानता संतकाव्य में हो सकी।'' (वही, पृष्ठ 189-190)

श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित कबीर ग्रंथावली पढ़ें या पारसनाथ तिवारी द्वारा संपादित कबीर साहित्य का अध्ययन करें, आपको पता चलेगा कि कबीर के सैकड़ों पद अवधूतों अर्थात् नाथपंथी योगियों को संबोधित हैं। दरअसल कबीर ने इन अवधूतों की साधनापद्धति का भी खंडन किया। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार कबीर के जो पद संतों को संबोधित हैं, वे मूलत: कबीर के दृष्टिकोण या उनकी स्थापनाओं का स्पष्टीकरण करने के उद्देश्य से रचे गये हैं; परन्तु जो पद अवधूतों को संबोधित हैं वे मूलत: नाथपंथियों के हठयोग का खंडन करने के उद्देश्य से रचे गये हैं। (कबीर, पृष्ठ 78) कबीर नाथपंथियों के हठयोग की विभिन्न क्रियाओं के द्वारा प्राप्त शून्य भाव को मदिरा के नशे में धुत मानसिक दशा के समान अस्थायी मानते हैं; वे तो सहज समाधि को ही शाश्वत मानते हैं। इसी तरह अनहद नाद बजने की स्थिति को योगी परम सत्य मानता है, पर कबीर इसे नहीं मानते। वे पूछते हैं

''बाजै जंत्र नाद-धुनि हुई, जो बजावै सो औरे कोई।
बाजी नाचै कौतिग देखा, जो नचावै सो किनहुँ न देखा।।
(कबीर ग्रंथावली, संपादक श्यामसुंदरदास, पृष्ठ 230-31)

जो इस अनहद नाद को बजाता है, जो बाजीगर को नचाता है - उस परम तत्व से एकाकार होने पर कबीर की दृष्टि है। जबकि योगी योगक्रिया द्वारा अनहद नाद बजने की स्थिति को ही भ्रमवश परमसुख मान बैठे हैं। गोरखपंथी जोगियों को ही कबीर ने अवधूत के रूप में संबोधित किया है। ये लोग कनफटा योगी भी कहलाते थे। ये लोग कान में छेद कर कुंडल धारण करते थे (या अब भी कुछ ऐसे जोगी हैं) जिसे मुद्रा कहते थे, उसके साथ काली सींग की सीटी गले में होती थी, जिसे शृंगी नाद कहते थे। इनके हाथ में नारियल का खप्पर होता था, वस्त्र गेरुआ, सिर पर जटाएँ, शरीर पर भभूत और ललाट पर त्रिपुंड। कबीरदास इन अवधूतों के बाह्य आचार को देखकर कहते हैं कि ये असली योगी नहीं हो सकते, चूँकि मन में मुद्रा नहीं है, मन में खप्पर और सींगी भी नहीं है; मन के भीतर आसन और मन का जपतप भी नहीं है (कबीर ग्रंथावली, पदसंख्या 206)।

अनेक विद्वानों ने कबीर की साखियों, रमैनियों और पदों के क्रमिक विकास का अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला है कि नाथपंथियों के हठयोग से उनका मोह भंग हो गया था। एक ऐसा भी वक्त आया जब वे स्वतंत्र मार्ग की तलाश करने लगे। डॉ. मोती सिंह ने 'कबीर की भक्ति, आस्था और साधना' शीर्षक लेख में यही निष्कर्ष निकाला है। उनकी स्थापना है कि ''कबीर का सुझाव जिस रूप में भक्तिवाद की ओर बढ़ा उसमें अनिवार्य था कि बाह्य क्रियाबहुल योगमार्ग उन्हें हेय प्रतीत हो।'' (कबीर, संपादन विजयेंद्र स्नातक, पृष्ठ 135) अपनी इस स्थापना की सोदाहरण विवेचना के उद्देश्य से डॉ. मोती सिंह ने कबीर के पद ''संतो सहज समाधि भली'' को उद्धृत किया है। जब से सांई से मिलन हुआ, सुरति शाश्वत हो गई; इस सहज समाधि में न तो आँख मूँदते

हैं, न कान छिदवाते हैं बल्कि खुले नैन से हँस-हँस देखते हैं और सुंदर रूप को बस निहारते ही रहते हैं। उन्मनी की यह दशा ही परम सुख है। ऐसा प्रतीत होता है कि गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले जनसाधारण से हठयोगी कट से गये थे; उनके आतंक, चमत्कार, करामात, वेशभूषा और बाह्याचार के कारण आम जनता पर नाथपंथी योगियों का अच्छा असर नहीं पड़ता था। अत: कबीर ने हठयोग के अंतर्गत माने जाने वाले पिपीलिका मार्ग को त्यागकर विहंगम मार्ग को अपनाया। जब इस घर के अंदर ही परमसुख उपलब्ध है, आत्मसाक्षात्कार हो सकता है, तो फिर प्राणायाम द्वारा कुंडलिनी के जागरण की जरूरत ही क्या है। यही तो पिपीलिका मार्ग था जो कठिन यौगिक साधना द्वारा जीभ को उलटकर तालु से सटाने की अनिवार्यता बताता था। इससे कहीं बेहतर तो विहंगम मार्ग था जिसमें प्राणायाम के बिना भी मन उच्च अवस्था को प्राप्त हो जाता है और उस दशा में मनुष्य की बाह्य भौतिक सत्ता के सभी तत्व लुप्त हो जाते हैं, मन समाधि की अवस्था में पहुँचकर इन विषयों से अलग हो जाता है। यही तो परमपद है, चरम आनंद की अवस्था, जहाँ बिना सरोवर के ही आनन्द की तरंगें उठा करती हैं और आत्मा चकवे की तरह जल के न होते हुए भी किलोल करती रहती है (सूखे सरवर उठै हिलोर, बिनु जल चकवा करत किलोर)। सहज समाधि की इस अवस्था के अपने स्वतंत्र मार्ग की ओर बढ़कर कबीर ने प्रेमभक्ति के सर्वथा नये स्वरूप की कल्पना की। इस तरह ज्ञान, योग और भक्ति तीनों की सम्मिलन भूमि पर कबीर ने अपने अलग प्रकार के पंथ और साधना मार्ग का विकास किया।

कबीर की भक्ति वही नहीं है जो वैष्णवों की है। कबीर संबंधी समालोचना के गड़बड़झाले में इस प्रकार की भ्रांति खूब फैली। अनेक विद्वान यह मानने लगे कि कबीर योगमार्ग छोड़कर दक्षिण भारत के मंदिरों के आलवाड़ भक्तों, रामानुजाचार्य, स्वामी रामानन्द आदि के द्वारा प्रवर्तित भक्ति मार्ग के अनुयायी बन गये थे। इस घट के अंदर ही सिरजनहार है, इस घट के अंदर ही आनन्दलोक है, इस घट के अंदर ही आत्मरूप परमतत्व है, अत: सहज समाधि द्वारा उससे तादात्म्य हो सकता है, उसे प्रेम और भक्ति से पाया जा सकता है - सहज समाधि की इस पद्धति की यदि आप वैष्णव उपासना पद्धति से तुलना कर देखेंगे तो पता चलेगा कि कबीर का मार्ग सर्वथा भिन्न मार्ग है। सुरति-निरति की इस सहज अवस्था का कोई भी संकेत वैष्णव भक्ति में दिखायी नहीं पड़ता। स्त्री-पुरुष संबंध, पति-पत्नी संबंध, माँ और बेटे का संबंध - ये सारे संबंध कबीर के यहाँ प्रेमाभिव्यक्ति के प्रतीक मात्र हैं।

हठयोगियों और वैष्णवों से भिन्न इन संतों के मुख्य लक्षण बतलाते हुए कबीर ने चार बातों का उल्लेख किया था - किसी से भी बैर न रखना (निर्वैरता), किसी भी चीज की कामना न करना (निहकामता), परमतत्व रूपी स्वामी से प्रेम (साईं सेती नेह) और विषय-वासना का त्याग (विषया सूँ न्यारा) -

कबीर निरवैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषया सूँ न्यारा रहे, संतनि का अंग एह।।
(कबीर ग्रंथावली, साखी - 1, पृष्ठ 85)

5.5 कबीर का दर्शन

कबीर के काव्य में परम तत्व, जीव, माया, सृष्टि आदि पर विचार अवश्य ही व्यक्त किये गये हैं, पर ये विचार एक संत के अनुभव-प्रसूत ज्ञानकण हैं। इन्हें दर्शन की एक सुसंगत व्यवस्था के रूप में देखना उचित नहीं है। इसके अतिरिक्त एक और भी समस्या है। कबीर को लम्बी आयु मिली थी। कहते हैं वे 120 वर्ष तक जीते रहे। अगर इसे जनश्रुति मानकर टाल भी दें तो इतना अनुमान करना सहज है कि कम से कम 75-80 वर्ष तक की उम्र उन्होंने अवश्य ही पायी होगी। एक जोगी, फकीर, संत, साधु और भक्त के रूप में उन्होंने अनेक स्थानों की यात्रा की थी, भाँति-भाँति के लोगों से मिले थे; तरह-तरह के धर्मशास्त्रियों, चिंतकों, भक्तों, ज्ञानियों आदि से वे टकराये थे। इसी लम्बी प्रक्रिया में कबीर के विचारों का भी निरन्तर परिष्कार हुआ होगा; निरन्तर परिवर्तन, संशोधन और आत्मशोधन के सिलसिले से इन्कार नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में कबीर दास द्वारा रचित प्रारंभिक बानियों की विचार-दृष्टि और प्रौढ़ावस्था में रचित बानियों की विचार-दृष्टि में तालमेल बिठा पाना मुश्किल होगा। कबीर की बानियों में दिखायी पड़ने वाले विरोधाभासों और परस्पर विरोधी दृष्टिकोणों को हिन्दी के विद्वानों ने प्राय: नजरअंदाज किया है। इससे भ्रांतियां बढ़ी हैं। वस्तुत: कबीर साहित्य में दिखने वाली असंगतियों का कारण भी यही है कि अपने प्रारंभिक विचारों का अतिक्रमण कर वे निरन्तर विकसित होते रहे हैं।

चूँकि ऐतिहासिक तिथिक्रम से उनकी रचनाओं का संकलन न हुआ है, न हो सकता है, अत: दार्शनिक प्रणाली के रूप में कबीर की विचार-व्यवस्था को ढूँढ निकालना लगभग असंभव कार्य है।

कबीर अद्वैतवादी हैं। एकेश्वरवादी हैं। द्वैताद्वैत समतत्ववादी हैं। ब्रह्मवादी हैं। नाथपंथी हैं। सूफ़ी हैं। पता नहीं, इस तरह की कितनी धारणाएँ हैं। कबीर के संबंध में इस प्रकार की आलोचनात्मक अराजकता के मूल में हरेक आलोचक का निजी पूर्वाग्रह सक्रिय रहा है। डॉ. रामचंद्र तिवारी ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है- "वास्तविकता यह है कि कबीर के दार्शनिक विचारों के संबंध में निर्णय करते समय प्रत्येक विचारक किसी न किसी पूर्वाग्रह से प्रेरित रहा है। मोहसिन फानी ने जब कबीर को 'मूवाहिद' (एकेश्वरवादी) कहा था तो उसका निर्णय इस्लाम की धर्मभावना से प्रभावित था। बाबू श्यामसुंदरदास ने जब कबीर को 'ब्रह्मवादी' या 'अद्वैतवादी' कहा था तो वे यह मानकर चल रहे थे कि निर्गुण संतधारा शंकराचार्य के अद्वैतवाद से किसी न किसी रूप में प्रेरित और प्रभावित है। डॉ. बड़थ्वाल ने जब कबीर को अद्वैतवादी कहा था तो वे पूरी निर्गुण संत-परंपरा में व्याप्त विचारों को वेदांत के पुराने मतों के अंतर्गत व्यवस्थित करना चाहते थे। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जब कबीर को द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्ववादी कहा तो वे नाथपंथी योगियों के सिद्धांतों को पृष्ठभूमि में रखकर कबीर की तुलना कर रहे थे। इसी प्रकार जिन विद्वानों ने कबीर को स्वतंत्र विचारक माना है, वे कबीर की प्रतिभा से प्रभावित होने के साथ ही यह मानकर चले हैं कि कबीर परंपरागत शास्त्रीय चिंतन के कायल नहीं थे।" (कबीर मीमांसा, पृष्ठ 112-113)

कबीर को किसी विशिष्ट धार्मिक साधना के मतपोषक या किसी एक दार्शनिक धारा के समर्थक के रूप में देखने के आग्रह को छोड़कर सीधे-सीधे विभिन्न विषयों पर उनके विचार को समझने का प्रयत्न ज्यादा आवश्यक है। अत: सबसे पहले ब्रह्म पर उनके विचार को हम देखें। इसके बाद अन्य विषय क्रमानुसार आयेंगे।

5.5.1 ब्रह्म

कबीर के काव्य में ब्रह्म एक है। उसका कोई रूप, कोई आकार, कोई व्यक्तित्व नहीं है। वह रूपातीत, गुणातीत है। वह न तो सगुण है, न निर्गुण - दोनों से परे है। वह इस जगत, इस सृष्टि के अणु-परमाणु में व्याप्त है। उसे किसी मूर्ति, किसी देवालय, किसी तीर्थ में नहीं पाया जा सकता। वह हमारे शरीर के अंदर, घट के अंदर, पिंड के अंदर, हमारी प्रत्येक साँस में विद्यमान है। वह अवतार ग्रहण नहीं करता। संसार की प्रत्येक वस्तु में वह छुपा है, अंतर्निहित है। उसका न तो वर्णन हो सकता है, और न उसकी कल्पना की जा सकती है। उसे सिर्फ अनुभव द्वारा पाया जा सकता है - गूंगे के गुड़ के समान। उसके अनेक नाम हैं - राम, गोविन्द, हरि, केशव, करीम, रहीम, खुदा, अल्लाह, निरंजन, अलख आदि। नाम की भिन्नताओं के बावजूद परम तत्व तो एक ही है। उसे न तो वर्गों में बाँटा जा सकता है, न धर्मों में, न जातियों में। उसकी प्राप्ति भक्ति से, प्रेम से, आत्मानुभूति से हो सकती है। योग के अंतर्गत उसकी प्राप्ति सहज समाधि से भी हो सकती है (साधो सहज समाधि भली)। इस साधना में मार्गदर्शन सिर्फ गुरु ही कर सकता है। साधक को परमात्मा से मिलाने की क्षमता के कारण गुरु का स्थान परमात्मा से भी ऊँचा है।

जिन विद्वानों ने यह मान लिया है कि कबीर के ब्रह्म शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त वाले ब्रह्म हैं, अर्थात संपूर्ण जगत में ब्रह्म परिव्याप्त है, उन्हें कबीर के इन पदों पर ध्यान देना चाहिए। कबीर पूछते हैं -

पंडित शोधि कहो समुझाई, जाते आवागमन नशाई।
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष, कहु कौन दिशा बसे भाई।।
उत्तर कि दक्खिन पूरब कि पच्छिम, स्वर्ग पताल कि माहीं।
बिना गोपाल ठौर नहिं कतहूँ, नर्क जात धौं काहीं।।

जब गोपाल के अतिरिक्त और कहीं कुछ ठौर बाकी ही नहीं बचा तो फिर पंडित, जरा खोज करके बताओ, कि ऐसी स्थिति में नरक फिर कहाँ है? मुक्ति किस दिशा में बसती है? ये अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष आदि कहाँ किस दिशा में बसे हुए हैं?

इस तरह स्पष्ट है कि कुछ पदों में कबीर ब्रह्म की सर्वव्यापकता, जगत से ब्रह्म की अनन्यता तथा ब्रह्म और जीव में एकात्म अभिन्नता को स्वीकार नहीं करते। तत्वमसि का उपदेश देने वाले अद्वैत ब्रह्मवाद का वे अनेक स्थलों पर खंडन करते हैं। इससे पता चलता है कि दर्शन के स्तर पर कबीर के काव्य मे असंगतियाँ और विरोधाभास भी हैं।

5.5.2 जीव

कबीर जीव और ब्रह्म के पृथक अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। अनेक पदों में यह संकेत दिया गया है कि माया के खेल के कारण दोनों अलग हो गये हैं। यह माया ही है जो अविद्या, मोहपाश, विषयासक्ति आदि के द्वारा जीव पर अज्ञान का पर्दा डाल देती है। कबीर कहते हैं "जे सोऊँ तौ दोइ जणाँ, जे जागूँ तौ एक।'' रात्रि के अँधेरे में, अर्थात्, अज्ञान के वश में होने के कारण ब्रह्म और जीव अलग-अलग प्रतीत होते हैं। अगर ज्ञान हो जाए तो 'इस घट अंतर सिरजनहार' को पाया जा सकता है। ज्ञानोदय की दशा में जीवात्मा ब्रह्म का अंश हो जाती है - 'कहु कबीर इहु राम कौ अंसु।' अज्ञान की दशा में यह जीव 'हद का जीवन' (सीमाबद्ध) होता है पर ज्ञानोदय की दशा में 'बेहद का जीव' (असीम में अनुरक्त) होता है। इसी हद के जीव को, सांसारिकता और विषयासक्ति में लीन जीव को संबोधित करते हैं - "जागि रे जीव जागि रे।'

5.5.3 माया

माया ब्रह्म की ही सृष्टि है। उसकी दो शक्तियाँ हैं - आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति से वह सत्य को ढँक देती है और विक्षेप शक्ति से भ्रांति उत्पन्न करती है। उस युग की विभिन्न धर्मसाधनाओं में माया की अवधारणा किसी न किसी रूप में प्रचलित थी। कबीर इससे मुक्त न हो सके। वे उसे ठगिनी, पापिनी, मोहिनी, सर्पिणी आदि की संज्ञा देते हैं। परम तत्व के साक्षात्कार में माया को बहुत बड़ी बाधा बताते हैं। वे माया के ध्वंस और विनाश की बात नहीं करते बल्कि उसे वश में करने, उस पर नियंत्रण करने, उस पर विजय प्राप्त करने की बात करते हैं। वे मानते हैं कि माया संतों की दासी/चेरी बन जाती है - 'कबीर माया दासी संत की, ऊभी देइ असीस।' कबीर काव्य में माया निरंजन की शक्ति है - ब्रह्मांड में जो माया है, पिंड में वही कुंडलिनी है। कुंडलिनी को ही माया माना गया, आद्याशक्ति माना गया। माया रूपी नागिन की फुफकार ही प्रणवध्वनि है। कबीर के पदों में प्रणव की महिमा खूब गायी गयी है।

5.5.4 जगत

संतकाव्यधारा में तथा कबीर की बानियों में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, उसे जगत, गोचर जगत की संज्ञा दी गई है। यह चंचल है, गतिशील है, अस्थिर है, क्षणिक है, नश्वर है। माया ने ही इस जगत की रचना की है, इसीलिए यह जगत भ्रांतिजनक है। धन, वैभव, आडम्बर, सुखभोग, संपत्ति, पद, अधिकार - ये सब जगत के ही रूप हैं। पर चाहे राजा हो, रंक हो, फकीर हो - सबको जाना है। सभी क्षणभंगुर हैं, मरणशील हैं। यह संसार दिन की हाट है जो सांझ होते ही उठ जायेगी। जगत की निस्सारता और क्षणभंगुरता के बारे में कबीर की अनेक साखियाँ और पद हैं।

क्षणभंगुरता का संवेदनशील चित्र प्रस्तुत करने में कबीर की बानियों को बड़ी सफलता मिली। ऐसे ही एक पद में कबीर पूछते हैं - इस झूठे तन पर गर्व क्यों करते हो? मरने के बाद परिवार वाले इस शरीर को क्षणभर भी घर में रखने को तैयार नहीं होते। जिस शरीर को - जिस पिंड को खीर, खांड और घी से संवारा, उसी शरीर को प्राण निकल जाने के बाद निकृष्ट समझकर जला दिया जाता है। जिस शरीर पर सुरुचि-अभिरुचि के साथ पगड़ी बांधी जाती थी, उसे मृत्यु के बाद कौए अपनी चोंच से खोद-खोद कर खाते हैं। हड्डियाँ सूखी लकड़ी के समान जलती हैं और केश तृण के ढेर के समान जल जाते हैं। कबीर कहते हैं यम का डंडा लगने पर भी लोग मोह नहीं त्यागते -

झूठे तन को क्या गरबावै।
मरै तौ पल भरि रहन न पावै।।
खीर खांड घृत पिंड संवारा, प्राण गए लै बाहरि जारा।
जिहिं सिरि रचि रचि बांधत पागा, सो सिरु चंचु संवारहिं कागा।
हाड़ जरै जैसे लकड़ी झूरी, केस जरै जैसे त्रिन कै कूरी।
कहै कबीर नर अजहुं न जागै, जम का डंड मूंड महिं लागै।।

इस जगत की सृष्टि के संबंध में कबीर की मान्यता का विवेचन करते हुए अक्सर सांख्य, अद्वैत वेदान्त, शैव दर्शन, तंत्रसाधना और योग दर्शन के प्रभाव की चर्चा की जाती है। कुछेक बानियों में अल्लाह के नूर से सारे

संसार की सृष्टि का उल्लेख होने के कारण कबीर पर इस्लाम के प्रभाव का भी उल्लेख किया जाता है। कबीर ने इस संसार की सृष्टि का स्वरूप समझाते हुए सत्व, रज, तम - इन तीन गुणों अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति का जिक किया है; आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी नामक पंचतत्वों की भी बात की है। सांख्य दर्शन में इन तत्वों को अनश्वर माना गया है जबकि कबीर की बानियों में इन तत्वों को भी नश्वर माना गया है, (नहीं ब्रह्माण्डि, पिंडि पुनि नाहीं पंचतत्व भी नाहीं)। इस प्रसंग में कबीर के दर्शन पर 'कबीर मीमांसा' नामक पुस्तक के लेखक डॉ. रामचंद्र तिवारी का निष्कर्ष यथोचित प्रतीत होता है कि "सांख्य की शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी कबीर ने सांख्य की दृष्टि से संसार को नहीं देखा है।" (पृष्ठ 128) यही स्थिति अन्य दर्शनों की भी है। कबीर ने न तो अद्वैत दर्शन की दृष्टि से संसार को देखा है, न शैव, शाक्त, तंत्र और योग की दृष्टि से। कबीर की शब्दावली में इन दर्शनों के पारिभाषिक शब्दों की उपस्थिति के कारण ही भ्रांति होती है।

5.5.5 मोक्ष

कबीर इस मायाकृत संसार में आसक्ति नहीं रखते। अतः प्रवृत्तिमार्गी नहीं माने जा सकते। उन्हें आम तौर पर निवृत्तिमार्गी माना जाता है। मोक्ष की धारणा एक विचार-रूढ़ि के रूप में प्राचीन काल से ही चली आ रही थी। कबीर इस धारणा के सर्वग्रासी आंतक से मुक्त न थे। कबीर ने भी उस विचार-रूढ़ि के अनुसार मोक्ष को जीवन-मरण के चक्र, इस संसार में बार-बार आवागमन के चक्र से छुटकारे के अर्थ में ही ग्रहण किया है। प्राचीन विचार-रूढ़ि यह भी रही है कि जीव जीवन-मरण के बंधन से मुक्त होकर भवसागर तर जाता है और वैकुंठ लोक में पहुँच जाता है। पर कबीर इस वैकुंठ लोक में विश्वास नहीं करते। कबीर किसी भी ऐसे वैकुंठ लोक के अस्तित्व का खंडन करते हैं। वे पूछते हैं - राम, मुझे तार कर, मेरा उद्धार कर आप मुझे कहाँ ले जाओगे? वह वैकुंठ कहाँ है? (राम मोहि तारि कहाँ लै जइहौ?) कबीर की दृष्टि में सांसारिक विषय-वासनाओं से विमुख होना ही जीव की मुक्ति है, जीव का मोक्ष है (कबीर जीवन मृतक है, रहै, तजै जगत की आस)।

5.5.6 कबीर के राम

कबीर की बानियों में जिस राम का बार-बार उल्लेख होता है, वह दशरथपुत्र राम नहीं, बल्कि निर्गुण-निराकार परम सत्ता के अर्थ में 'राम' के अस्तित्व को स्वीकारा गया है। कबीर ने भी राम की भक्ति की है और तुलसी ने भी। एक निरगुनिया और दूसरे सगुनिया। दोनों की रामभक्ति के सारतत्व में काफी अंतर है। अलौकिक-अगोचर परम सत्ता के लिए कबीर की बानियों में सिर्फ राम का ही उल्लेख नहीं हुआ है, बल्कि हरि, गोविन्द, निरंजन, केशव, नारायण, माधव, मुकुन्द, विश्वंभर, बीठुला, मुरारि, करीम, रहीम आदि का भी नाम लिया गया है। सदियों से चले आ रहे वैचारिक संस्कारों को व्यक्त करने वाले पारिभाषिक पदों को स्वीकार करने और उनके प्रयोगों द्वारा से ही नयी बात कहने की कबीर की विवशता के कारण अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं।

लेकिन यदि कबीर की बानियों में आये ऐसे प्रसंगों पर ठीक से ध्यान दें तो पता चलेगा कि वे जिस राम की उपासना करते हैं, वह अविगत है, परम तत्व है और वेद-पुराण आदि उसका मर्म नहीं जानते (अविगत की गति लखी न जाइ। चारि वेद जाके सुमृत पुरानां, नौ व्याकरणां मरम न जाना)। न तो उसकी रूप रेखा है, न कोई वर्ण; वह निर्भय, निराकार, अलख-निरंजन, वर्ण-अवर्ण से परे, सृष्टि और लय से परे है। वह लोक और वेद दोनों से परे है। प्राचीन काल से चली आ रही नेति-नेति शैली - अर्थात् वह यह भी नहीं है, वह भी नहीं है - कबीर की बानियों में बार-बार मिलती है।

कबीर की कविताओं में निरूपित यह सर्वव्यापी अगोचर परम तत्व ही सृष्टि का कर्त्ता है। 'बीजक' की एक रमैनी में उन्होंने यह बताया है कि परमात्मा ने स्वंय कुंभकार की भाँति सृष्टि की है। 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संगृहीत एक पद में वे इस परम तत्व को बाजीगर बताते हैं। कबीर के निर्गुण राम कृपालु हैं, भक्तों के लिए करुणानिधान हैं, दुखभंजन और प्रतिपालक हैं।

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी यह स्वीकार किया है कि "कबीर तात्त्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं थे और उनके 'निर्गुण राम में और वेदान्तियों के पारिभाषिक 'निर्गुण ब्रह्म' में मौलिक भेद है।" (कबीर, पृष्ठ 116)

5.5.7 भक्ति

कबीर निर्गुण-निराकार, अरूप-अगोचर परम सत्ता या राम के भक्त थे। प्रश्न यह है कि अरूप और निर्गुण भगवान भक्ति का विषय कैसे हो सकता है? भगवद्विषयक प्रेम को ही भक्ति कहते हैं। भक्ति के लिए अपने

उपास्य के प्रति अनन्य भावना होनी चाहिए, बिना शर्त उत्सर्ग की भावना, आत्मसमर्पण। कबीर की बानियों में यह अनन्य भावना इस सीमा तक है कि वे कहते हैं - हे गुसाईं! मैं तो तुम्हारा गुलाम हूँ, मुझे बेच दो। सारा तन-मन-धन तेरा है और तेरे लिए ही है। राम ही गाहक और राम ही सौदागर है। कबीर तो तनमनधन न्योछावर कर अपने को, अपने राम पर कुर्बान कर चुके हैं -

मैं गुलाम मोहिं बेचि गुसाई।
तन-मन-धन मेरा रामजीक ताई।
आनि कबीरा हाटि उतारा,
सोइ गाहक सोइ बेंचनि हारा।
बेचैं राम तो राखै कौन,
राखै राम तो बेचै कौन।

कबीर के पदों में अनन्य प्रेमभावना की अभिव्यक्ति रतिशृंगार के रूपकों के माध्यम से भी हुई है - तलफै बिन बालम मोर जिया। अथवा एक अन्य पद में - मैं अबला पिउ पिउ करूँ निर्गुण मेरा पीव।

नाथपंथियों के प्रभाव से मुक्त होने के बाद कबीर ने भक्ति और प्रीति के दाम्पत्य वाले रूपकों में प्रेम की अनन्यता की तो व्यंजना की है, उसके अतिरिक्त 'सहज समाधि' का एक नया रागात्मक क्षेत्र भी चुना जो जोगियों की समाधि से भिन्न प्रेमपगी सुरति-निरति थी। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की सृजनात्मकता प्रौढ़ परिपक्व रूप में जीवन के अंतिम समय में नया रूप ग्रहण कर रही थी। इस दृष्टि से 'साधो सहज समाधि भली' जैसे पद रागात्मक व्यंजना की दृष्टि से भी अनूठे और रचनाशिल्प की दृष्टि से भी नयी उद्भावना के प्रमाण हैं। इसी पद में "जहँ-जहँ डोलों सोई परिकरमा'' तथा "खुले नैन पहिचानौं हँसि-हँसि, सुंदर रूप निहारों'' जैसी सुंदर अभिव्यक्तियाँ हैं। कबीर ने नाथपंथियों के प्रभावों का अतिक्रमण कर जब अपना स्वतंत्र विकास किया, तभी प्रेम के बादल की वर्षा से उनकी आत्मा का अंतर्तम भीग गया। प्रेम और भक्ति से आर्द्र सैकड़ों पद हैं जो उनके जीवनकाल के अंतिम दिनों की रचना प्रतीत होते हैं। इन्हीं पदों में भक्ति का नया स्वरूप उभरता है। इस भक्ति को रहस्यवादियों के साधनात्मक रहस्यवाद से भिन्न रूप में देखना और समझना चाहिए। कबीर की भक्ति वैष्णवों की नवधा शक्ति से भी भिन्न है। उपास्य के रूप का संकेत प्रतीकात्मक मात्र होने से नवधा भक्ति से उसका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। रामकुमार वर्मा ने धीरेंद्र वर्मा और ब्रजेश्वर वर्मा द्वारा संपादित हिन्दी साहित्य' के दूसरे खंड में संतकाव्य का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। वर्मा जी कबीर की भक्ति के विभिन्न अवयवों का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि उससे निम्नलिखित आवश्यकताओं की पूर्ति हुई-

"ब्रह्म को रूप और गुण में सीमित न करते हुए उसे प्रतीकों द्वारा मानसिक धरातल पर लाने में सफलता, प्रेम के माध्यम से आडम्बर और कर्मकांड की आवश्यकता दूर करना, अशिक्षित और अर्धशिक्षित जनता के हृदय में ब्रह्म की अनुभूति उत्पन्न करने के लिए विविध संबंधों की अवतारणा और गुरु, राजा, पिता, माता, स्वामी, मित्र और पति के रूपकों के सहारे उससे नैकट्य स्थापित करना, सूफी मत के प्रेमतत्व और वैष्णव धर्म के भक्ति तत्व को मिलकार हिन्दू और मूसलमानों के बीच सांप्रदायिकता दूर करना, विश्वव्यापी प्रेम से विश्वधर्म की स्थापना करना जिसमें वर्गभेद और जातिभेद के लिए कोई स्थान नहीं है और इस प्रेम के माध्यम से आत्मसमर्पण की भावनाओं को जागरित करना जिसमें पति-पत्नी के प्रेम की पूर्णता से रहस्यवाद की व्यावहारिक परम्परा का सूत्रपात हो।'' (वही, पृष्ठ 215)

इस तरह स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति में सभी मनुष्यों के लिए समानता की भावना है। इसमें किसी भी बाह्याचार या धार्मिक कर्मकांड को स्थान नहीं दिया गया है। यह भक्ति ईश्वर के दरबार में सबकी समानता और एकता की पक्षधर है।

5.6 सारांश

इस इकाई में आपने कबीर की विचारचेतना और प्रासंगिकता का अध्ययन किया। किसी भी रचनाकार की विचार चेतना का उद्भव और विकास किसी विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति के कारण ही होता है। कबीर अपने युग के प्रगतिशील विचारक और समाज सुधारक थे। उन्होंने किसी भी विचारधारा या दर्शन का अंधानुकरण नहीं किया।

वे वैदिक संस्कृति के चौखटे के बाहर के यथार्थवादी स्रष्टा रचनाकार थे। कबीर समेत भक्ति-आंदोलन के सभी प्रारंभिक रचनाकारों का साहित्य अपने आप में शुद्ध धार्मिक आंदोलन की अभिव्यक्ति न होकर तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक यथार्थ की टकराहटों और असंगतियों की आदर्शवादी अभिव्यक्ति है। कबीर ने शास्त्रीय ग्रंथों और पोथियों के ज्ञान को पूर्णतः अस्वीकार कर दिया था। कबीर ने 'प्रेमभक्ति' के सर्वथा नए स्वरूप की कल्पना की। इस तरह ज्ञान, योग और भक्ति, इन तीनों की सम्मिलिन भूमि पर कबीर ने अपने अलग प्रकार के पंथ और साधना मार्ग का विकास किया। कबीर की भक्ति में सभी मनुष्यों के लिए समानता की भावना है। इसमें किसी भी बाह्याचार या धार्मिक कर्मकाण्ड को स्थान नहीं दिया गया है। कबीर के यहां ईश्वर तत्व और मानव प्रेम दोनों अभिन्न हैं। कबीर का साहित्य आज भीं प्रासंगिक है। जातियों, धर्मों, वर्गों, आदि में विभाजित समाज की संकटग्रस्तता के समय कबीर का साहित्य प्रासंगिक हो जाता है। कथ्य और सांकेतिक व्यंजनाओं के कारण कबीर की बानियां आज के पाठकों को समकालीन जीवन के बदले हुए संदर्भों में उतनी ही झकझोरती हैं, जितनी मध्यकालीन यथार्थबोध के संदर्भों में।

5.7 अभ्यास/प्रश्न

1. कबीर के काव्य को लेकर फैली भ्रांतियों को संक्षेप में प्रस्तुत कर उनका समुचित खंडन प्रस्तुत कीजिए।
2. मध्य युग के प्रगतिशील रचनाकार के रूप में कबीर का मूल्यांकन कीजिए।
3. संतकाव्यधारा के प्रतिनिधि के रूप में कबीर के काव्य पर सिद्धों तथा नाथों के प्रभाव की विवेचना प्रस्तुत कीजिए।
4. कबीर के दर्शन के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालिए।
5. क्या कबीर अद्वैतवादी थे? उनकी विचारधारा का सारसंक्षेप प्रस्तुत कीजिए।

इकाई 6 कबीर का काव्य शिल्प

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 कबीर की भाषा के विभिन्न रूप
6.3 कबीर की भाषा में व्यंग्य
6.4 कबीर के काव्य में भाव सौंदर्य और कलात्मक सौष्ठव
6.5 सारांश
6.6 अभ्यास/प्रश्न

6.0 उद्देश्य

विचारधारा के स्तर पर कबीर से परिचित होने के बाद कवि कबीर से परिचित होना भी आवश्यक है। इस इकाई में हम कबीर की कविता की मुख्य विशेषताएँ जानने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कबीर की कविता की भाषा के विविध रूपों का विश्लेषण कर सकेंगे;
- जान सकेंगे कि कबीर व्यंग्य के महान कवि हैं; और
- कबीर के काव्य के भावसौंदर्य और कलात्मक उत्कर्ष की व्याख्या कर सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

इस इकाई में कबीर की काव्यभाषा, उनकी काव्यकला तथा सृजनात्मक सामर्थ्य पर विचार किया गया है। भक्ति काल के प्रारंभ में काव्यभाषा के रूप में अभी न तो खड़ी बोली का पूर्ण विकास हुआ था और न अवधी तथा ब्रजभाषा का। कबीर की भाषा को लेकर भी विद्वानों के बीच गहरा मतभेद है। क्या कबीर की बानियों को धार्मिक साधना के अंतर्गत लिखे गये सांप्रदायिक साहित्य की संज्ञा दे दी जाय? इस प्रश्न पर भी आलोचकों में मतभेद है। अत: कबीर की कला और उनकी बानियों के भावसौंदर्य पर समुचित ढंग से विचार किया गया है। इसी क्रम में कबीर का मूल्यांकन भी सर्वथा नयी दृष्टि से किया गया है।

6.2 कबीर की भाषा के विभिन्न रूप

कबीर के अपने हाथों लिखी उनकी बानियों की हस्तलिखित पोथी अभी तक किसी को भी प्राप्त नहीं हुई है। कबीर की बानियों को उनके शिष्यों ने तथा कबीरपंथी संतों ने ही लिखित रूप प्रदान किया है। यहाँ तक कि राजस्थान के कबीरपंथियों के यहाँ एक तरह का पाठ मिलता है, तो काशी-गोरखपुर आदि पूर्वी अंचलों के कबीरपंथियों के यहाँ दूसरी तरह का पाठ मिलता है। पंजाब में 'गुरु ग्रंथ साहिब' के अंतर्गत भी कबीर की बानियाँ संगृहीत हैं। अत: कबीर साहित्य की तीसरी पाठ-परम्परा ने कबीर की भाषा के संबंध में विद्वानों के बीच मतभेद बढ़ाया ही है। कबीर की बानियों के ये तीनों प्रकार के पाठ सोलहवीं-सत्रहवीं सदी की हस्तलिखित पोथियों पर आधारित हैं। कबीर के जीवनकाल में संगृहीत किसी भी हस्तलिखित पोथी के अभाव के कारण प्राय: सभी पाठ अनुमानों पर निर्भर हैं। कबीर ग्रंथावली के रूप में डॉ. माता प्रसाद गुप्त और डॉ. पारस नाथ तिवारी द्वारा अलग-अलग ढंग से संपादित पुस्तकें उपलब्ध हैं। ये तीनों ग्रंथ प्राय: दादूपंथी एवं निरंजनी पंथी संतों की

राजस्थानी परम्परा पर निर्भर हैं। 'संत कबीर' नाम से संकलित डॉ. रामकुमार वर्मा का पाठ पंजाबी पाठ परम्परा पर निर्भर है। बाबू श्यामसुंदरदास द्वारा संपादित 'कबीर ग्रंथावली' का पाठ भी पंजाबी परम्परा पर निर्भर करता है क्योंकि उन्होंने भी 'गुरु ग्रंथ साहिब' में संकलित कबीर की बानियों की भाषा संरचना को पाठ निर्धारण का आधार बनाया है। इधर ही डॉ. शुकदेव सिंह द्वारा संपादित 'बीजक' का प्रकाशन हुआ है। इसमें अवधी-भोजपुरी अथवा पूर्वी प्रदेश की पाठ परम्परा को भाषा संरचना की दृष्टि से निर्णायक महत्व प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त कबीर बानियों के ऐसे ग्रंथ भी हैं जिनमें खड़ी बोली को भाषा संरचना की दृष्टि से प्रमुखता प्रदान की गई है।

इससे स्पष्ट है कि कबीर की बानियों में सिर्फ शब्दभंडार की दृष्टि से ही नहीं, उच्चारणभेद, वाक्यगठन, सर्वनाम तथा क्रियापदों के प्रयोगों के लिहाज से भी कहीं पंजाबी भाषा के लक्षण प्रकट होते हैं तो कहीं राजस्थानी भाषा के, कहीं अवधी-भोजपुरी के तो कहीं खड़ी बोली के। मध्ययुग में प्राप्त उल्लिखित चार बोलियों की अलग-अलग प्रकार की भाषा संरचनाओं के मिश्रित प्रयोगों से कबीर की भाषा के संबंध में निर्णय की जटिलता से बचने के लिए सुगम उपाय यह निकाला गया कि उसे 'सधुक्कड़ी भाषा' कहा जाए। दरअसल आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा ही इस प्रवृत्ति का आरंभ किया गया था। 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में उनकी शंकाओं और ऊहापोह को स्पष्ट रूप में आप देख सकते हैं :

"उनकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी-पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।" (पृष्ठ 75)

इस उद्धरण से यह भी पता चलता है कि आचार्य शुक्ल कबीर की भाषा के संबंध में प्रचलित विवाद को सिर्फ पंजाबी, अवधी-भोजपुरी, खड़ी बोली तक ही सीमित नहीं रखते। ब्रजभाषा का उल्लेख कर वे इस पेचीदा समस्या को और भी उलझा देते हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस समस्या के समाधान के बजाय एक नया पहलू जोड़ देते हैं। उनका कहना है कि "साखियों की भाषा में खड़ी का जितना व्यवहार मिलता है, उतना सबदी में नहीं। उसमें ब्रजी के शब्द कुछ अधिक मिलते हैं। रमैनी में पूर्वी रूप बराबर दिखाई देते हैं; जैसे - कोई-कोई या कोऊ-कोऊ के स्थान पर केऊ-केऊ। इस प्रकार विचार करने से यह कहा जा सकता है कि कबीर की तीन प्रकार की कृतियों में स्थूल रूप से हिन्दी की तीन उपभाषाओं की स्पष्ट और निश्चित प्रवृत्ति मिल जाती है।" (हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग-1, पृष्ठ 152)

1993 में प्रकाशित 'कबीर वाङ्मय' (तीन खंडों में) के संपादक डॉ. जयदेव सिंह और डॉ. वासुदेव सिंह ने कबीर की भाषा के स्वरूप पर नये ढंग से विचार किया है। चूँकि रमैनी के पाठालोचन में डॉ. शुकदेव सिंह इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कबीर की भाषा का मूल ढाँचा अवधी-भोजपुरी पर अवलम्बित है, अत: कबीर वाङ्मय के संपादक-द्वय का कहना है कि साखियों और पदों में पंजाबी तथा राजस्थानी के अधिक प्रयोग असंगत प्रतीत होते हैं। इसे वे कबीर की स्वाभाविक भाषा भी नहीं मानते। इन दोनों संपादकों की स्थापना से कबीर साहित्य के विद्यार्थी के नाते आपका परिचित होना आवश्यक है। स्थापना इस प्रकार है -

"वस्तुत: कबीर की भाषा के संबंध में अंतिम निर्णय टेढ़ी खीर है। अनुमान के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि संत कबीर के जीवन का अधिकांश काशी में बीता, उनके भाषागत संस्कार अध्ययन की अपेक्षा श्रवण से बने, उन्होंने विभिन्न स्थानों की यात्रा की तथा वे अनेक प्रकार के साधुसंतों के संपर्क में आये, अत: उनकी भाषा का मूल आधार पूर्वी रहा होगा, जिसमें अन्य बोलियों और भाषाओं के लोकप्रचलित शब्द अनायास ही आ गये होंगे।" (कबीर वाङ्मय, खंड-1, पृष्ठ 16)

कबीर की भाषा के पारिभाषिक शब्द

कबीर की कविता के तीन रूप हैं- साखी, सबद और रमैनी। इन तीनों प्रकार की बानियों में मध्यकालीन धर्मसाधनाओं, भारतीय दर्शन, इस्लाम तथा सूफीमत के पारिभाषिक शब्दों की भरमार है। अनेक स्थलों पर कबीर की बानियों के अर्थ ग्रहण में इन शब्दों की वजह से आम पाठकों को बहुत कठिनाई का अनुभव होता है। यहाँ तक कि मध्यकालीन साहित्य के विशेषज्ञ विद्वानों का भी दिमाग चकराने लगता है। इसीलिए आप देखेंगे कि कबीर के साहित्य पर प्रकाशित आलोचनाग्रंथों या कबीर बानियों का पाठालोचन करने वाले ग्रंथों के अंत में पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले परिशिष्ट जोड़े गये हैं। बौद्ध, जैन, योग, तंत्र, शैव, शाक्त और सूफी मतों से संबंधित अनेक ऐसे शब्दों के अर्थों को लेकर भी विद्वानों के बीच विवाद छिड़ा हुआ है। अत: एक ही साखी या पद के अनेक प्रकार से अर्थ किये जाते हैं, उनके अभिप्रायों को लेकर माथापच्ची करनी पड़ती है। उदाहरण के लिए अनहद नाद, सुरति-निरति, उन्मनी, कुंडलिनी, इड़ा-पिंगला, गगन गुफा, सहज समाधि, गगनघटा, निरंजन,

खसम, सुधारस, शून्य, पिंड, अंड, घट, हंसा, अच्छर, शब्द, गर्भत्रास जैसे सैकड़ों शब्दों की एक तालिका बनायी जा सकती है। नाथपंथी योगियों की धर्मसाधना से संबंधित शास्त्रीय ग्रंथों में इन शब्दों के निश्चित परिभाषिक अर्थ हैं। कबीर की बानियों में इन शब्दों के प्रायः वही अर्थ हैं। इसी तरह सूफी मत और इस्लाम से संबंधित शब्दों में वजूद, ग़ैब, दीदार, इश्क, नूर, अल्लाह, खुदा, करीम, काबा, बुत, पीर, मुरीद, रब, मुरसिद, रोजा, नमाज, कलमा, बिहिश्त, बन्दा, मस्तान, आदि पर गौर किया जा सकता है। इनके अर्थ भी सूफी धर्मसाधना की विभिन्न परंपराओं द्वारा निश्चित कर दिये गये हैं। कबीर इनका उपयोग भी प्रायः उन्हीं अर्थों में करते हैं।

पर उलटबाँसियों, रूपकों, अन्योक्तियों में इन पारिभाषिक शब्दों का तात्विक अभिप्राय नयी अर्थभंगिमा ग्रहण कर लेता है चूँकि लक्षणा तथा व्यंजना की सहायता से कृतिकार का तात्पर्य वाच्यार्थ तक सीमित नहीं रहता है। यद्यपि सिद्धों और नाथों ने भी उलटबाँसियों, रूपकों तथा अन्योक्तियों में इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग दोहरे अर्थों में किये हैं, पर इन प्रयोगों में वाच्यार्थ की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रेम और भक्ति का संदर्भ देकर कबीर ने पारिभाषिक शब्दों के अभिप्रायों को मध्ययुग की सामाजिक आवश्यकताओं के संदर्भ में नयी प्राणवत्ता दे दी है।

विभिन्न धर्मसाधनाओं के पारिभाषिक पदों के अतिरिक्त जुलाहों, बुनकरों, व्यापारियों तथा खेतिहर आबादी के विभिन्न धंधों से संबंधित पेशेवर शब्दावली का उपयोग भी कबीर की बानियों में बहुतायत से मिलता है।

धर्मसाधना, दर्शन, काव्यपरम्परा, कृषि, व्यापार, दस्तकारी और हाट बाजार - इन सभी स्रोतों से लिये गये शब्दों के बाहुल्य ने कबीर की बानियों में ताजगी, सादगी, जिंदादिली और सजीव व्यंजकता का संचार कर दिया है। सामाजिक तथा धार्मिक विवाद से जुड़े प्रश्नों पर कबीर की भाषा सीधी चोट करने, विरोधियों को मर्माहत करने और भेद की बात को धारदार ढंग से खोलकर रखने की अद्‌भुत सामर्थ्य का परिचय देती है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह स्थापना लोकोक्ति का रूप ले चुकी है :

"भाषा पर कबीर का जबर्दस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में कहना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा दिया - बन गया तो सीधे सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है।" (कबीर, पृष्ठ 170)

कबीर की भाषा की शक्ति

कबीर की भाषा पर अपनी टिप्पणी के क्रम में आचार्य द्विवेदी ने एक अन्य स्थल पर यह भी कहा है कि "कबीर की भाषा से ज्यादा साफ और जोरदार भाषा की संभावना भी नहीं है।" (वही, पृष्ठ 174) आखिर भाषा के ये गुण कबीर में आये कहाँ से? जाहिर है आप यह भी जानना चाहेंगे कि जब वे पढ़े लिखे नहीं थे तो फिर युग-युग तक जीवित रहने वाला यह क्लासिक साहित्य उन्होंने रचा कैसे? जिस साखी में कबीर ने 'मसि कागद छुवों नहीं/कलम गहों नहिं हाथ' जैसी अभिव्यक्ति की है, उसी में उनका यह भी वक्तव्य है - "कबीर मुखहि जनाई बात।" इस वक्तव्य को यदि आप संतों की काव्यसृजन प्रक्रिया की कुंजी बनायें तो बहुत सारी बातें स्पष्ट हो जायेंगी। मसलन यह बात स्पष्ट होगी कि उस युग के सामाजिक और धार्मिक विवादों ने संतों और दलित-उत्पीड़ित जनता के बीच सवाल-जवाब, बहस और ज्ञानोदय की एक नई वाचिक परम्परा का सूत्रपात किया था। इस परंपरा को गढ़ने और विकसित करने में लोकायत, सांख्य, जैन, सिद्ध और नाथों के अलावा सूफियों का बहुत बड़ा योगदान था। ब्राह्मणवाद और वैदिक संस्कृति के विरुद्ध संघर्ष में शास्त्रीय ग्रंथों को नकारने तथा अनुभव के आधार पर नई तर्कव्यवस्था निर्मित करने में भ्रमणशील श्रमणों की पहली युक्ति यही होती थी कि पोथियों और शास्त्रों को छोड़ो, जब तक इनसे छुटकारा नहीं पाते तब तक तुम ज्ञान का साक्षात्कार नहीं कर सकते। "पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोई" जैसे अनेक उक्तियाँ इसी तथ्य की पुष्टि करती हैं। आत्म-तत्व, परम सत्य और प्रेम जिस शिखर पर अवस्थित हैं, वहाँ पहुँचने का रास्ता फिसलन भरा है। यहाँ तक कि चींटी भी उस रास्ते को पार न कर फिसल कर गिर पड़ती है। पर इन मूर्ख पंडितों को तो देखो, जो वहाँ पहुँचने के लिए बैलों पर अपनी ज्ञानगठरी लाद कर चल पड़े हैं :

कबिरा का घर सिखर पर, जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका, पंडित लादे बैल।।

अपने जीवनानुभव के साक्ष्य पर आधारित तर्कों से कबीर पंडित को, मुल्ला को, धार्मिक मठाधीशों को, योगियों और अवधूतों को निरुत्तर कर देते हैं; जातिप्रथा के समर्थकों की बोलती बंद कर देते हैं; धार्मिक कर्मकांड और बाह्य आडम्बरों की धज्जियाँ उड़ा देते हैं। दरअसल यह सब शब्द चयन, कथनभंगिमा और भाषा की व्यंजनाशक्ति का कमाल न होकर सामाजिक दृष्टि से प्रासंगिक नई तर्कप्रणाली की शक्ति है जो कबीर की बानियों में प्रखरता, ओज और नई स्फूर्ति उत्पन्न करती है। आजीविका के लिए मेहनत-मशक्कत करने वालों की यह स्पन्दनशील वाग्धारा है जिसका आवेग परजीवी समाज की शास्त्रबद्ध रूढ़िवादिता की चट्टान पर निरंतर आघात कर रहा है। वस्तुत: उस युग के संदर्भ में यह भाषा नहीं, बल्कि जन-जन की भाखा है - भाखा बहता नीर।

कबीर की काव्यभाषा की शक्ति का मूल्यांकन शास्त्रीय मानदंडों के आधार पर करना व्यर्थ है। यद्यपि इस काव्यभाषा में अनेक स्थलों पर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत-प्रशंसा, काव्यलिंग जैसे अलंकारों के चमत्कार और उनकी छटा मिल जायगी, पर कृतिकार के कवित्व की आत्मा अलंकार सौंदर्य में अंतर्निहित नहीं है। सारभूत सत्यों को चुभने वाली मार्मिक उक्तियों में ढालने की यह कला सपाट-बयानी को भी सजीव और विचारोत्तेजक बना देती है।

विभिन्न प्रकार के श्रोतासमूहों को संबोधित कबीर की बानियों के तेवर और मिजाज से उनकी काव्यभाषा में विविधता आई है। बातचीत-बहस, समझाने-बुझाने और तर्क-वितर्क करने वाली सीधी-सादी भाषा भी चोट और व्यंग्य के कारण धारदार हो गई है। पर भक्ति और प्रेम की व्यंजना करने वाली बानियों में अजीब सी मिठास, निजी एकान्त साधना की तल्लीनता और घनीभूत रसमयता है। उलटबाँसियों में उलटीपुलटी कथनभंगिमा और अनेकार्थी प्रतीक-योजना कहीं-कहीं धक्कामार चमत्कारप्रियता का आस्वाद प्रदान करती है, कहीं बौद्धिक दुरूहता के आवरण में रहस्य के उद्घाटन के लिए आमंत्रित करती है। प्रचलित शब्दों के वाच्यार्थों पर निर्भर रहकर कबीर की उलटबाँसियों को नहीं समझा जा सकता। इसके लिए सिद्धों और नाथपंथियों की साधना संबंधी शब्दावली के निश्चित पारिभाषिक अर्थों तथा प्रतीकयोजना के अभिप्रायों को जानना आवश्यक होता है। इसीलिए इन रचनाओं के प्रसंग में यह कहा जाता है कि ये 'संधा भाषा' में रचित हैं अर्थात् रहस्य से आवृत्त अभिप्रायों को व्यंजित करने वाली भाषा में। कबीर की बानियों में व्यवहृत 'संधा भाषा' की प्रणाली सिद्धों और नाथों की 'संधा भाषा' जैसी ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्र-ज्ञानी पंडितों की परीक्षा लेने तथा उनके ज्ञानदर्प को चुनौती देने के उद्देश्य से उन्होंने अनेक उलटबाँसियों की रचना की थी। उदाहरण के लिए आप इस पद को देख सकते हैं :

ऐसा अद्भूत मेरे गुरु कथा, मैं रहा उमेषै।
मूसा हस्ती सौं लड़ै, कोई बिरला पेषै।।
मूसा पैठा बाँबि मैं, लारै साँपिनि धाई।
उलटि मूसै साँपिनि गिली, यहु अचरज भाई।।
चींटी परबत उखारिया, लै राख्यौ चौड़ै।
मुर्गी मिनकी सों लड़ै, झल पांनी दौड़ै।।
सुरही चूपै बछतलि, बछा दूध उतारै।
ऐसा नवल गुँनी भया, सार दूलहिं मारै।।
भील लुका बन बीझ मैं ससा सर मारै।
कहैं कबीर ताहि गुर करौं, जो या पदहिं बिचारै।।

इस उलटबाँसी द्वारा मूलत: यह कहने का प्रयत्न किया गया है कि सामान्य जीव यद्यपि विषयों के वश में रहता है पर जो सिद्ध साधक होता है वह विषयों पर नियंत्रण कर लेता है। कबीर कहते हैं - मेरे गुर ने एक अद्भुत सत्य का कथन किया; मैं अचरज में पड़ गया (उमेषै)। अचरज की बात यह है कि चूहा हाथी से लड़ पड़ा (अर्थात् साधक माया को पछाड़ बैठा)। इस घटना को कोई बिरला ही जान पाया है। साधक (चूहा) विषयों (बाँबी) में पैठ गया और विषय रूपी सर्पिणी उसके पीछे पड़ गई। किंतु अचरज की घटना तो यह है कि चूहे ने पलट कर साँप को निगल लिया अर्थात् साधक विषयों को वशीभूत कर लेता है। साधक की अंत:वृत्ति (चींटी) ऐसी होती है कि वह विषय रूपी पर्वत को उखाड़ फेंकती है और उसे गड्ढे में फेंक देती है। साधक (मुर्गी) वासना (बिल्ली) से लड़ पड़ता है और विषयासक्ति की अग्नि भक्ति के जलाशय का रूप ले लेती है। गाय बछड़े के नीचे भाग को मुँह से चूसती है अर्थात् भक्ति से आत्मतत्व की प्राप्ति होती है और आत्मतत्व बोध (बछड़ा) से आनन्द (दूध) की सृष्टि होती है। साधक का चित्त (नेवला) ऐसा गुणी हो गया है कि वह वासना से उन्मत्त सिंह को मार डालता है। मोह रूपी शिकारी डर के मारे सघन वन में छिप जाता है और साधक (खरगोश) उस पर ज्ञान के बाण से प्रहार करता है। कबीर का कहना है कि जो इस पद के अर्थ को समझ कर बता देगा, उसे मैं

अपने गुरु के रूप में स्वीकार कर लूँगा। कबीर पंथी संत आज भी राग रामकली में खँजड़ी पर इस उलटबाँसी को गाकर पंडितों को चुनौती देते हैं।

इस पद से आप समझ गये होंगे कि उलटबाँसी क्या चीज़ है। आपने देखा कि उलटीपुलटी भाषा में गुत्थी रखने, किसी सत्य को पहेली के रूप में पेश करने और असंभव घटनाओं की अतिरंजित कल्पनाओं के प्रतीकात्मक अर्थ व्यंजित करने के उद्देश्य से रचित बानियों की भाषा को 'संधा भाषा' की संज्ञा दी गई थी।

कबीर को संधा भाषा में रचित उलटबाँसियों की यह परम्परा सिद्धों और नाथों से मिली थी। उदाहरण के लिए सिद्धों की बानियों के संग्रह 'चर्यापद' तथा गोरखनाथ की बानियों के संग्रह 'गोरखबानी' को आप देख सकते हैं। सिद्ध डिंडिपा कहते है बैल ब्याता है, गाय बांझ रहती है और बछड़ा तीनों समय दुहा जाता है। इसी तरह गोरखनाथ एक पद में कहते हैं जल में आग लगी, मछली पर्वत पर चढ़ गई और खरगोश जल में रहता है। ये सारे शब्द प्रतीक हैं जो सातवीं-आठवीं सदी से ही योगियों की साधना में अन्य अर्थ की व्यंजना के लिए उपयोग में लाये जाते रहे हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक पुस्तक के एक अध्याय "योग परक रूपक और उलटबाँसियाँ" में ऐसे शब्दों की तालिका प्रस्तुत की है। मेरा परामर्श है कि आप लोग इसे अवश्य पढ़ें। इसी अध्याय में बताया गया है कि बौद्ध साहित्य के एक वक्तव्य के आधार पर सहज यान और वज्र यान के साधकों ने 'संधा भाषा' पद का प्रयोग किया था। महामहोपाध्याय पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य की यह मान्यता है कि संधा भाषा मूलतः संस्कृत 'संधाय' शब्द का अपभ्रष्ट रूप है जिसका अर्थ होता है अभिप्राय युक्त भाषा। परन्तु हिन्दी के अनेक विद्वानों ने इसका रूप बदल कर 'संध्या भाषा' कर दिया और गोधूलि बेला जैसी स्थिति के अर्थ में - अथवा अंधेरे और प्रकाश के बीच की अस्पष्ट स्थिति के अर्थ में इसे प्रचारित कर दिया।

6.3 कबीर की भाषा में व्यंग्य

जनसाधारण को धर्मान्ध बनाने वाले पंडित और मुल्ला से कबीर सार्वजनिक रूप से प्रश्न पूछते हैं। कबीर के प्रश्नों की तर्कशक्ति में गहरा व्यंग्य छुपा रहता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद रमैनी से उद्धत है -

पढ़ि-पढ़ि पंडित करू चतुराई, निज मुक्ति मोहिं कहु समुझाई।
कहँ बस पुरुष कहाँ सो गाऊँ, पंडित मोहिं सुनावहु नाऊँ।
चारि वेद ब्रह्मे निज ठाना, मुक्तिक मर्म उनहुँ नहिं जाना।
दान-पुन्य उन बहुत बखाना, अपने मरन की खबरि न जाना।
एक नाम है अगम गँभीरा, तहवाँ स्थिर दास कबीरा।।
चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई न ठहराय।
आवागमन की गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय।।

हे पंडित! तुम शास्त्र पढ़-पढ़ कर चतुराई करते फिरते हो और लोगों के बीच मुक्ति के विषय में उपदेश झाड़ते हो। जरा मुझे भी तो समझाओ कि तुमने मुक्ति का स्वयं क्या अनुभव किया है? लोगों को तो यह बताते हो कि मुक्ति परम पुरुष से मिलन है - लेकिन मुझे यह तो बताओ कि वह परम पुरुष कहाँ वास करता है? उसका गाँव कहाँ है? उस परम पुरुष का नाम क्या है?

(जब पंडित चुप लगा जाता है तो कबीर फिर कहते हैं :) तुम बताते रहते हो कि ब्रह्म ने चारों वेदों की रचना की। पर क्या वे भी मुक्ति का मर्म जान पाये? तुम कहते हो कि मुक्ति के लिए ब्रह्मा ने दान-पुण्य का बार-बार बखान किया है। पर मैं पूछता हूँ कि क्या उन्हें भी अपनी मृत्यु की खबर थी? क्या उन्हें पता था कि मृत्यु के बाद क्या होता है? कबीर तो सिर्फ एक तत्व को जानता है जो कि अगम और गंभीर है। कबीर उस एक तत्व पर अडिग रूप से कायम है - और वह परम तत्व है आत्मतत्व।

इस परम तत्व तक चींटी (मन) भी नहीं पहुंच सकती और न वहाँ बुद्धि (राई) स्थिर होकर रुक सकती है, यह आत्म-रूपी परम तत्व आवागमन से परे है और देशकाल से भी परे है। अज्ञान के बंधन से छुटकारा पाकर ही

आत्मरूपी परम तत्व की अनुभूति हो सकती है यह आत्मानुभूति ही मुक्ति है। कबीर मूर्तिपूजा के खंडन के सिलसिले में टिप्पणी करते हैं-

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पुजूँ पहाड़।
याते वह चक्की भली पीस खाय संसार।।

पत्थर की देवमूर्ति की तुलना में चक्की कहीं बेहतर है जो रोजाना आटा पीसने के काम आती है। इस प्रकार की साखियों में धार्मिक आडम्बर के खंडन से एक सत्य की उद्घोषणा होती है। कबीर यह भी कहते हैं कि देखो तो भला - 'मूरति से दुनिया फल माँगै, अपने हाथ बनाये।' अपने ही हाथों रची गई मूर्ति से दुनिया फल मांगती है, उसकी पूजा-अर्चना करती है। 'साधो देखो जग बौराना' शीर्षक पद में कहा गया - "आतम छोड़ि पषानैं पूजैं तिनका थोथा ज्ञाना। आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।।" निर्जीव पत्थर को लोग परब्रह्म परमेश्वर के रूप में सत्य मान बैठें हैं, जबकि अपने भीतर अवस्थित आत्मचेतना को, आत्मसत्ता को पहचानने-स्वीकारने के लिए तैयार नहीं हैं। मुसलमानों की भी यही स्थिति है

कांकड़ पाथर जोड़ि कै मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।

खुदा सर्वव्यापक है तो फिर जोर से पुकारने का क्या मतलब? क्या वह बहरा है? काजी की कथनी और करनी में अंतर का उल्लेख कर कबीर कहते हैं -

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रम्ह हतै तब दोइ।
चढ़ि मसीति एकै कहै, दरि क्यूँ साँचा होइ।।

जब काजी स्वाद के वशीभूत होकर जीव का वध करता है, उस समय वह ब्रह्म को द्वैत की दृष्टि से देखता है - अर्थात् अपने लिए एक ब्रह्म और जीव के लिए दूसरा ब्रह्म। किंतु मस्जिद पर चढ़कर जब 'ला इलाह इल्लिल्लाह' की घोषणा करते हुए बांग देता है तो वह यह एलान कर रहा होता है कि ब्रह्म एक है। ईश्वर के दरबार में काजी क्या सफाई देगा?

कलियुग के स्वामी-संन्यासी पर व्यंग्य और छींटाकशी के द्वारा उनका चरित्र उद्घाटित किया गया है। कबीर की साखी है -

कलि का स्वामी लोभिया, पीतल धरी खटाइ।
राजदुबारै यों फिरैं, ज्यों हरहाई गाइ।।

कलियुग के दिखावटी साधु लोभी होते हैं जैसे पीतल के बर्तन में पड़ी खटाई। दूसरों के खेत चलने वाली गाय के समान राजदरबारों में लोभवश चक्कर काटते रहते हैं। इसी तरह गोरखपंथी योगियों के बाह्य आडम्बरों पर भी कबीर की दृष्टि पड़ी। उन्होंने पूछा -

मन न रंगाए, रंगाए जोगी कपरा।
आसन मारि मंदिर में बैठे, नाम छाँड़ि पूजन लागे पथरा।
कनवा फड़ाय जोगी जटवा बढ़ौलें, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम ज़राय जोगी होय गैले हिजरा।।
मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले, गीता बाँच के होय गैले लबरा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवजवाँ बाँधल जैबे पकरा।।

यह उल्लेखनीय है कि कबीर सिर्फ हिन्दू-मूस्लिम कर्मकांड का ही भंडाफोड़ नहीं करते बल्कि सिद्धों, जोगियों, शैवों; शाक्तों और जैनियों के साधना-संबंधी झूठे आडम्बरों और बाह्याचारों की भी खिल्ली उड़ाते हैं।

जातिप्रथा के समर्थकों - खासकर ब्राह्मणवादी पंडितों पर कबीर ने गहरा चुभता हुआ व्यंग्य किया था-
जो तुम बाम्हन बाम्हनि जाये। आनबाट तुम काहे न आये?

मध्ययुग के सामाजिक रूढ़िवाद, शास्त्रीय पुरोहितवाद और कथनी-करनी में अंतर बरतने वाले पाखंडी समाज की अनैतिकता पर तर्कबाण बरसाने के क्रम में कबीर के काव्य की व्यंग्यात्मकता गहरी मार करती है। इस दृष्टि से मध्ययुग के सर्वाधिक जागरूक कृतिकार के रूप में वे आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। कबीर के व्यंग्य उनकी युगबोधक चेतना के औजार के रूप में लोकोक्ति का रूप ले चुके हैं।

कबीर की काव्यभाषा का सौंदर्य

कबीर ने अपने जमाने की जीती जागती रोजमर्रा की भाषा में अपनी बानियों की रचना की है। उनकी कविताओं में विभिन्न स्रोतों से शब्दों का चयन किया गया है। एक तरफ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के जन-प्रचलित तथा आवश्यकतानुसार पारिभाषिक शब्द लिये गये हैं, तो दूसरी तरफ अरबी-फारसी स्रोत से आये शब्दों की संख्या भी काफी है। आधुनिक भारतीय भाषाओं का यह अभ्युदय काल है। अतः खड़ी बोली, ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी के उच्चारण तथा शब्दसंगीत ने कबीर की बानियों में अद्‌भुत ढंग की सजीवता का संचार किया है। राम स्वरूप चतुर्वेदी ने कबीर की भाषा की सृजनधर्मी विविधता की ओर इशारा करते हुए ठीक ही कहा है "कबीर में कई तरह के रंग हैं, भाषा के भी और संवेदना के भी। हिन्दी की बहुरूपी प्रकृति उनमें खूब खुली है।" (हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, पृष्ठ 46)

कबीर अपने समय की जिस दलित-पीड़ित जनता को संबोधित कर रहे थे, उसके सगे अनुभवों की निधि से ही शब्द, वाक्यांश, मुहावरे, क्रियापद और चुस्त उक्तियाँ छांटते थे। कबीर समेत सभी मध्यकालीन संतों ने सिद्धों-नाथों की वाचिक परम्परा का परिष्कार किया था। संतों की वाग्धारा की टकसाल से निकलने वाली बानियों पर जनसाधारण के संघर्ष और कष्ट से परिपूर्ण जीवनानुभव की गहरी छाप है। सत्य की आँच में तपी और ढली कबीर की काव्यभाषा में एक ओर यदि दो टूक खरापन है, तो दूसरी ओर उस जमाने की पीड़ित मानवता के लिए करुणा और गहरी आत्मीयता भी। अगर आई.ए. रिचर्ड्स की भाषा में आलोचनात्मक मूल्यांकन के नये मानदंड की दृष्टि से देखें तो पता चलता है कि भाषिक संरचना में कबीर एक तनाव के कम्पन को बनाये रखते हैं। तार्किकता और प्रेम की सहजानुभूति के बीच सेतु भी है और टक्कर भी। कहना चाहिए कि कबीर का सृजनकर्म इसी तनी हुई प्रत्यंचा पर अपनी टंकार प्रतिध्वनित करता है जिससे संभाव्य अर्थों के झरोखे खुलने लगते हैं।

काव्यरूप और छंदविधान

कबीर की बानियों में 14 काव्यरूपों का उपयोग हुआ है। उदाहरण के लिए साखी, सबदी, रमैनी, चौंतीसा, चाँचर, हिंडोली, विप्रमतीसी आदि। ये सभी काव्यरूप सिद्धों और नाथों की काव्यपरम्परा से संत कवियों को प्राप्त हुए थे। यद्यपि ये सभी काव्यरूप लोक गीतों की वाचिक परम्परा में भी उपलब्ध थे, पर जोगियों की बानियों में इनके पदबंध और रूपविन्यास एक निश्चित स्वरूप ग्रहण कर चुके थे। अतः इस्तेमाल में घिसे जा चुके रूपबंधों को कबीर ने अपनी प्रतिभा से और भी क्षमतावान बना दिया। इस संदर्भ में 'साखी' का उल्लेख किया जा सकता है। संस्कृत शब्द साक्षी का ही अपभ्रंश रूप साखी है। सिद्ध साहित्य और नाथ साहित्य में इस काव्यरूप को ज्ञान की आंख माना गया। किसी अद्‌भुत सत्य की प्रतीति कराने के उद्देश्य से प्रायः 'साखी' का ही उपयोग किया गया। कबीर की बानियों में रमैनी एक ऐसा काव्यरूप है जिसमें दोहा और चौपाई छंदों का सम्मिलित प्रयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त चाँचर ऐसा लोकछंद है जो वसन्त ऋतु के मादक परिवेश के अनुकूल माना जाता है। कबीर की बानियों में प्रेमानुभूति तथा आध्यात्मिकता की संवेदना व्यक्त करने के लिए प्रायः चाँचर का प्रयोग किया गया। उनके गेय पदों में हिंडोला, कहरा, बेलि आदि को अपनाया गया है।

छंदों की दृष्टि से दोहा, सोरठा, चौपाई, वीर, अरिल्ल, ताटंक, लावनी, उल्लाला आदि का भरपूर उपयोग कबीर के काव्य में देखा जा सकता है। 'कबीर मीमांसा' नामक अपनी पुस्तक में डॉ. रामचंद्र तिवारी ने यह माना है कि छंदों के प्रयोग में कबीर के यहाँ त्रुटियाँ बहुत हैं। डॉ तिवारी इसका संदर्भ सहित स्पष्टीकरण करते हैं - "छंदों की रचना करते समय भी कबीर ने संगीत को ही महत्व दिया है और इसी कारण छंदों की शास्त्रीय मर्यादा भंग हो गई है।" (वही, पृष्ठ 158)

आज भी उत्तर भारत में योगियों और संतों की रमती हुई टोलियों और उनके पंथों के आश्रमों में बानियों के गायन की परम्परा मौजूद है। राजा भरथरी के गीत गाने वाले जोगी तथा कबीर पंथी संत इस परम्परा की अलग-अलग प्रकार की कड़ियाँ हैं।

गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत कबीर के पद विभिन्न रागों में वर्गीकृत कर प्रस्तुत किये गये हैं। मसलन सिरी रागु, रागु गउड़ी, रागु आसा, रागु गूजरी आदि के संकेत पद के अंत में दे दिये गये हैं। डॉ. रामचंद्र तिवारी का अनुमान है कि कबीर को तत्कालीन वाद्यों की बनावट का ज्ञान था; उनके ध्वनिभेदों से भी वे परिचित थे। दरअसल सांसारिकता के जंजाल में फंसे लोगों की रागद्वेष ग्रंथि को विगलित करने और हृदय की तरलता की मधुर व्यंजना करने में संगीत का उपयोग संतों के द्वारा भी होता रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कबीर की काव्यभाषा संगीत के नाद तत्व से परिपूर्ण है। काव्य भाषा में सौंदर्य की सृष्टि में लोकछंदों तथा संगीत तत्व का यह योग कबीर को अद्वितीयता प्रदान करता है।

6.4 कबीर के काव्य में भावसौंदर्य और कलात्मक सौष्ठव

कबीर को मध्ययुग के क्रांतिकारी समाजसुधारक के रूप में आसानी से स्वीकृति मिल जाती है, पर एक महत् कृतिकार अथवा एक श्रेष्ठ कवि के रूप में उनकी पहचान कायम करने में अनेक प्रकार की मुश्किलें रही हैं। साफ तौर पर दो टूक भाषा में तो किसी ने भी नहीं कहा कि कबीर कवि नहीं है, कि उनकी कविता बेकार है. कि उनकी बानियाँ कलाशून्य हैं। पर अगर-मगर, लेकिन-परन्तु लगाकर तुलसी, सूर और जायसी की तुलना में कबीर को समकक्षता का दर्जा देने से इन्कार किया जाता रहा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में ज्ञानाश्रयी शाखा की रचनाओं को साहित्य मानने से ही इन्कार कर दिया; यद्यपि कबीर को इसके अपवाद के रूप में उल्लिखित कर उनकी प्रतिभा का लोहा मान लिया :

"इस शाखा (ज्ञानाश्रयी) की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं - फुटकल दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है। कबीर आदि दो एक प्रतिभा संपन्न संतों को छोड़ औरों में ज्ञानमार्ग की सुनी-सुनाई बातों का पिष्ट-पेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक भद्दी तुकबंदियों में हैं। भक्तिरस में मग्न करने वाली सरलता भी बहुत कम पायी जाती है। बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा, क्योंकि उसके लिए न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्नश्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्म गौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने इसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयास किया। पाश्चात्यों ने इन्हें जो "धर्मसुधारक" की उपाधि दी है, वह इसी बात को ध्यान में रखकर।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 66)

आचार्य शुक्ल के मूल्यांकनों के चौखटे में दिखाया गया है कि कबीर साधुओं का सत्संग भी करते थे और जुलाहे का काम भी करते थे। कबीर ने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था। वे किसी को भी "ज्ञानी या बड़ा मानने के लिए तैयार नहीं थे।" कबीर ने सूफियों के ढर्रे पर ईश्वर को उपासना ही नहीं प्रेम का भी विषय बनाया, और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया। इस प्रकार, आचार्य शुक्ल के अनुसार - "उन्होंने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियों के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियों के साधनात्मक रहस्यवाद और वैष्णवों के अंहिसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पंथ खड़ा किया। उनकी बानी में ये सब अवयव अवश्य स्पष्ट लक्षित होते हैं।" (वही, पृष्ठ 72)

"यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। उनकी उक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था।" (वही, पृष्ठ 73)

इससे स्पष्ट है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल कबीर की उलटबाँसियों के चमत्कार, गूढ़ ज्ञान तथा सूफियों जैसे ईश्वर प्रेम के कारण उनकी प्रतिभा का लोहा मानते थे वर्ना एक महत् कृतिकार के रूप में मान्यता देने के पक्ष वे नहीं थे। इसके पीछे जो तर्क है, उस पर विचार करना आवश्यक है। अरूप परम सत्ता से प्रेम को व्यक्त करने वाली बानियों में योगमार्ग या हठयोग की शब्दावली भरी है तथा सूफियों की भावसाधना से लिया गया रागात्मक तत्व छाया हुआ है। ये बानियां गूढ़ ज्ञान तथा वैचित्र्य बोध के चमत्कारों के कारण विस्मित-चकित अवश्य करती हैं;

काव्य की मार्मिक संवेदना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये रचनाएँ महत्वहीन हैं। अतः ऐसी रचनाओं में "संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का विकास" न हो सका। ये रचनाएँ धर्मसुधार की दृष्टि से अपनी प्रचारात्मकता और तर्कवितर्क में महत्वपूर्ण हो सकती हैं, पर साहित्यिक सौष्ठव और सांस्कृतिक परंपरा के उन्नयन की दृष्टि से महत्व-शून्य है।

सांस्कृतिक परंपरा के निर्माण में ऊँची जातियों के कुलीनतावादी दृष्टिकोण अर्थात् वैदिक-पौराणिक संस्कृति के आग्रहों से कबीर तथा अन्य निरगुनिया संतों के काव्य के मर्म को समझा नहीं जा सकता। आप लोगों को इस बात की सूचना अवश्य होगी कि हिन्दी समालोचना के क्षेत्र में प्रचलित कबीर-विरोधी दुराग्रहों पर लगातार चर्चा हुई है और उनके खंडन के क्रम में कबीर पर पुनर्विचार संभव हो सका है। इस सिलसिले में रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा किये गये कबीर-काव्य के अंग्रेज़ी भावानुवाद, क्षितिमोहन सेन की कबीर तथा संत साहित्य पर लिखी टिप्पणियों - यानी कुल मिलाकर बंगाल नवजागरण के प्रभाव से नई आलोचना - दृष्टि का विकास हुआ। इस आलोचना-दृष्टि को अत्यंत सक्षम ढंग से 'कबीर' नामक अपनी पुस्तक में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने विस्तार से उजागर किया है।

'कबीर वाणी' नाम से संपादित एक नई पुस्तक में इधर अली सरदार जाफरी ने वही काम किया है जो एक जमाने में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने किया था अर्थात् कबीर के काव्य के मर्म को भावानुवाद के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास। इन भावानुवादों के माध्यम से कबीर की बानियों के भावसौंदर्य और कलात्मक परिष्कार को नये सिरे से समझने में मदद मिलती है। अली सरदार जाफरी द्वारा लिखी गई भूमिका तथा उनके भावानुवादों से मध्ययुग के इस निरगुनिया संत की बानियों की समकालीन अर्थवत्ता अच्छी तरह उद्घाटित होती है। उस युग के संदर्भ में इन कविताओं का तात्कालिक रागबोध और सहज मानववाद भी अच्छी तरह व्यंजित होता है। सौभाग्य की बात है कि कबीर के संबंध में हिन्दी के नये आलोचकों और पाठकों का दृष्टिकोण बदला है। तभी भक्तिकाल के प्रारंभिक उत्थान की काव्यधारा के मूल में स्थित सिद्ध-नाथ परंपरा के साहित्य को भी समझने का प्रयास नये ढंग से हो रहा है, मराठी के ज्ञानेश्वर और नामदेव के साथ हिन्दी संतकवियों के संबंधों पर भी नया प्रकाश पड़ सका है और आख्यानधर्मी प्रबंधत्व से अलग हटकर मुक्तक परंपरा की विभिन्न धाराओं के दौरान हुई नई उद्भावनाओं की व्याख्या की चुनौती को भी गंभीरता से लिया जा रहा है।

कबीर की बानियां एक निश्चित श्रोतासमूह को संबोधित करने के उद्देश्य से रची गयी प्रतीत होती हैं। ये कविताएं पढ़ने के लिए नहीं बल्कि सुनने-सुनाने के लिए रची गयी थीं। अपने युग के अविवेक के विरुद्ध संघर्ष के औजार के रूप में ये बानियां गढ़ी गयी थीं। कहना चाहिए कि साझा लौकिक अनुभवों के मर्म से नयी विवेकशीलता के संचार का यह प्रयत्न उस युग के धार्मिक-सामाजिक विवाद, तर्कवितर्क और वैचारिक आदान-प्रदान का हिस्सा बन गया था। एक ओर शास्त्रीय ज्ञान था, दूसरी ओर अनुभव पर आश्रित यह नया विवेक - जिसे कबीर अपनी बानियों में बार-बार 'ज्ञान' की संज्ञा देते हैं। ज्ञान की इस आँधी के पक्ष में वे एक आंदोलन के प्रणेता हैं - एक ऐसे आंदोलन के सूत्रधार हैं जो हर प्रकार की रूढ़ि से टकरा रहा है, वर्णाश्रम व्यवस्था की जकड़बंदी से टकरा रहा है, वैदिक-पौराणिक संस्कृति की संस्थाओं से टकरा रहा है और साथ ही श्रमजीवी जोगियों और दलित जातियों के पेशेवर समूह के बीच प्रचलित नाथपंथ का संस्कार कर उसे ज्ञानाश्रयी संतकाव्य परम्परा का नया रूप देकर परिष्कृत कर रहा है। कबीर किसी भी सत्य को अपनी विवेक बुद्धि की कसौटी पर परखने के पक्ष में हैं - उनका ज्ञान, पारख ज्ञान है। वे किसी भी कथन को स्वतः प्रमाण नहीं मानते - वेद को भी नहीं, स्मृति को भी नहीं। वे यह नहीं मानते कि वेद ईश्वर रचित हैं बल्कि वे तर्क करते हैं कि ईश्वर स्वयं मनुष्य की कल्पना है, मनुष्य ने उसकी रचना की है। शास्त्रीय पुरोहितवाद से कबीर की यह सीधी टक्कर थी, आमने-सामने की मुठभेड़ जैसी। वे लोक में प्रचलित अंधविश्वासों को भी नहीं मानते थे - अतः बार-बार "लोक तथा वेद" दोनों के विरोध का उल्लेख उनकी बानियों में मिलता है। असली कसौटी वे ज्ञान को बनाते हैं - **"जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ग्यान।"**

ऐसे सैकड़ों पद हैं जो किसी स्थापित मान्यता का खंडन करने के उद्देश्य से प्रश्न पूछने की शैली में रचे गये हैं। ये पद तेवर और मिजाज में अक्खड़पन का परिचय देते हैं। कहना न होगा कि इनमें एक संघर्षशील चिंतक की प्रखरता और व्यंग्यपूर्ण वक्रोक्ति की तल्खी का बड़ा विचित्र सम्मिश्रण है। ये पद कहीं पांड़े को संबोधित हैं, कहीं पंडित को, कहीं काजी को, कहीं मुल्ले को और कहीं हठयोगी अवधूत को। ऐसे ही एक पद को देखें -

पांडे बूझि पियहु तुम पानी।
जिहि मिटिया के घरमहँ बैठे, तामहँ सिस्ट समानी।
छप्पन कोटि जादव जहँ भींजे, मुनिजन सहस अठासी।।
पैग पैग पैगम्बर गाड़े, सो सब सरि भा माँटी।
तेहि मिटिया के भाँड़े पाड़े, बूझि पियहु तुम पानी।।
मच्छ-कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया।
नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु-मानुस सब सरिया।।
हाड़ झरि झरि गूद गरि गरि, दूध कहाँ ते आया।
रो लै पाँड़े जेवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया।।
बेद कितेब छाँड़ि देउ पांड़े, ई सब मन के भरमा।
कहहिं कबीर सुनहु हो पांड़े, ई तुम्हरे हैं करमा।।

पांड़े (कहीं पांड़े जी नहीं कहा जाता), यह तुम्हारी मूर्खता है कि तुम पहले जाति पूछते हो फिर उसके हाथ का पानी पीते हो। तुम जिस मिट्टी के घर में बैठे हो उसमें सारी सृष्टि समायी हुई है। छप्पन करोड़ यादव और अठासी हजार मुनि यहाँ डूब गये और कदम-कदम पर पैगम्बरों की लाशें सड़कर मिट्टी हो गई हैं। ओ पांड़े, ये बर्तन उसी मिट्टी के हैं और तुम जाति पूछकर पानी पीते हो। इस पानी में मगर, कछुए और घड़ियाल बच्चे जनते हैं और उनका रक्त पानी में मिल जाता है। इस नदी के पानी में सारा नरक बहकर आता है और जानवर-इन्सान सब इसमें सड़कर समा जाते हैं। जब हड्डी और गूदा गल जाता है तब दूध बनता है। इस दूध को लेकर पांड़े भोजन करने बैठते हैं लेकिन सारी छुआछूत मिट्टी में मानते हो। ओ पांड़े - वेद और कुरान सबको छोड़ो। ये सब दिल का धोखा हैं। सुनो पांड़े, कबीर कहते हैं कि ये तुम्हारे कर्म हैं जो तुम्हारे सामने आते हैं।

ऐसे पदों में लौकिक वास्तविकता के तर्कों से रूढ़िवादियों को निरुत्तर करने का प्रयत्न किया जाता था। "पांड़े न करसी बाद-बिबादं, या देही बिन सबद न स्वादं।" इस पद के अंत में कबीर अपने निष्कर्ष पर पहुँच कर कहते हैं - "कबीर ग्यान विचारा" अर्थात् यह शरीर मिट्टी का बना है, क्षण भंगुर है। ज्ञान के प्रकाश से इस संसार को देखो।

हठयोगियों अर्थात् नाथपंथी जोगियों के बाह्य आचार और कर्मकांड पर व्यंग्य करते हुए कबीर ने कितनी तल्खी से अपने एक गीत की रचना की थी - "मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।"

मूर्तिपूजा, जातिप्रथा, धार्मिक भेदभाव, अंधविश्वास, कर्मकांड, बाह्याचार, तीर्थाटन आदि के खंडन में कबीर की बानियों की तार्किक प्रखरता कविता को भी जीवंत बनाती है। बोधगम्य और लोकग्राह्य सादृश्य-विधान से भरीपूरी सहज-सरल अभिव्यक्ति इन बानियों की खास विशेषता है।

मोको कहाँ ढूंढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रियाकर्म में, नहीं योग बैराग में,
खोजी होय तो तुरते मिलिहौं, पल भर की तालास में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में।

परम तत्व किसी मंदिर में नहीं, किसी मस्जिद में नहीं, किसी तीर्थ में नहीं बल्कि हमारे इसी घट के अंदर है; इसी पिंड में ब्रह्माण्ड है - इस तात्विक कथन की अभिव्यक्ति के क्रम में प्रगाढ़ मानवीय लौकिक भावना और सहज संवेदना दिखायी देती है। घर-घर दीप जल रहा है - हर व्यक्ति के अंदर भगवान की ज्योति जल रही है - लेकिन अंधी आंखों को दिखाई नहीं देती - 'घर-घर दीपक बरै, लखै नहिं अंध है।' 'रमैनी' के पहले पद में ही 'जीव रूप यक अन्तरवासा, अन्तर ज्योति कीन्ह परगासा।' बताकर कबीर यह कहना चाहते है कि एक अखंड परम ज्योति जीव के भीतर वास करती है - सबके भीतर वही ज्योति प्रकाशमान है। फिर भी वे आत्म तत्व को छोड़कर पाषाण की पूजा करते हैं। "साधो देखो जग बौराना" में इस "अंतिम खबर" के ज्ञान को ही विवेक बताया गया है। प्रतीक, बिम्ब, अलंकार, धर्मसाधनाओं के पारिभाषिक पदों तथा श्रमशील देहाती आबादी के विभिन्न पेशों से संबंधित शब्दावली के उपयोग द्वारा कबीर ने अपने काव्य में अनुभव तथा विवेक पर आधारित विचारतत्व को भी भाव-संवेदना का विषय बनाया है। मध्यकालीन संतकाव्य के अंदर यह मानववादी विचारधारा एक ओर यदि अनुभवाश्रित विवेक पर निर्भर है, तो दूसरी ओर समानता पर आधारित समाज-व्यवस्था की प्रारंभिक कल्पनाओं के बीज भी अपने अंदर समेटे है, तीसरी ओर सामाजिक और वैचारिक रूढ़िवाद के खंडन के

लिए धारदार व्यंजना की शक्ति भी रखती है और चौथी बात यह कि रसपूर्ण प्रेमव्यंजना द्वारा परमतत्व के साक्षात्कार की ज्ञानगंभीर भावसाधना की सामर्थ्य से भी संपन्न है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा अनेक परवर्ती आलोचकों ने यह शंका व्यक्त की थी कि परम तत्व से अथवा उपास्य से अपरिचय के कारण प्रेम कैसे हो सकता है? कबीर ने 'परचा को अंग' के अनेक पदों में मानो इसी आशंका का खंडन किया है। वे कहते हैं :

पिंजर प्रेम प्रकासिया जाग्या जोग अनंत।
संसा छूटा सुख भया मिल्या पियारा कंत।।

कबीर की बानियों में भक्ति को रतिभाव के अंतर्गत ही स्थान मिला है। यह रतिभाव कहीं सखा भाव से है, कहीं प्रियाभाव से, कहीं वत्सलभाव से और कहीं दास्य भाव से है।

'रस गगन गुफा में अजर झरै', 'संतो सहज समाधि भली', 'गगन घटा घटरानी साधो', 'अवधू बेगम देस हमारा', 'कोई प्रेम की पेंग झुलावै', जैसे सैकड़ों पद हैं जिनमें उत्कृष्ट कोटि की काव्य-संवेदना और प्रतीकात्मक व्यंजना का सौंदर्य उपलब्ध है।

यदि वैचारिक तर्क-वितर्क वाले पदों को देखें, मसलन जातपाँत, छुआछूत, धार्मिक मतभेद, मूर्तिपूजा, कर्मकांड आदि से संबंधित कबीर की बानियों के काव्यपक्ष पर विचार करें तो पता चलेगा कि ये सारी कविताएं उस युग के यथार्थ के द्वन्द्व को सारभूत ढंग से उपस्थित करती हैं, अपनी सपाट-बयानी के बावजूद व्यंग्योक्तियों की प्रखरता के कारण लोकचेतना को आंदोलित करने में सकारात्मक भूमिका निभाती रही हैं।

कबीर के एक पद 'अब न बसूँ इहि गाउँ गुसाईं' को उस युग की समाज-व्यवस्था के मूलभूत अंतर्विरोध के संदर्भ में नये सिरे से पढ़ना चाहिए। उस जमाने में अकाल, बाढ़, अनावृष्टि, सूखा आदि के कारण जब गाँव के किसान लगान न चुका पाते थे तो दंड और यातना के डर से हजारों हजार की तादाद में गाँव खाली कर भाग जाते थे। ऐसे किसानों की बेरोजगार फौज कस्बों के दस्तकारों और बुनकरों की जमात में शामिल हो जाती थी। बादशाह और जमींदार इन किसानों के पकड़े जाने पर उन्हें भयंकर से भयंकर सज़ा देते थे और उन्हें जमीन जोतने के लिए फिर उसी गांव में जबर्दस्ती लौटा लाया जाता था। किसानों की इस दर्दनाक हालत के तत्कालीन सामाजिक संदर्भों को अन्योक्ति शैली में, सादृश्य बतलाते हुए निम्नलिखित पद में अंकित किया गया है -

अब न बसूँ इहि गाउँ गुसाईं।
तेरे नेवगी खरे सयांने हो राम।।
नगर एक तहँ जीव धरम हत, बसै जु पंच किसानां।
नैनूं नकटूँ श्रवनूं, रसनूं, इन्द्री कहा न मानैं हो राम।।
गाउँ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।
जोरि जेवरी खेत पसारै, सब मिलि मोकौं मारै हो राम।।
खोटौ महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै।
बुरौ दिवांन दादि नहिं लागै, इक बांधै इक मारै हो राम।।
धरम राइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी।
पांच किसाना भाजि गये हैं, जीव धेर बांध्यौ पारी हो राम।।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ, हरि भजि बांधौ भेरा।
अबकी बेर बकसि बंदे कौं, बहुरि न भौजलि फेरा।।

हे गोस्वामी, हे मालिक! अब मैं इस शरीर रूपी गांव में नहीं रहना चाहता। आपके कारिन्दे अत्यंत सयाने और कठोर हैं। यह शरीर रूपी नगर ऐसा है जिसमें बसने वाला जीव अपने वास्तविक कर्म से - अपने वास्तविक जीवनधर्म से च्युत हो जाता है और उसके अधीनस्थ पांचो किसान (इन्द्रियाँ) उसके अनुशासन को तोड़ डालते हैं। वे मनमानी करने लगते हैं।

इस शरीर रूपी गांव का स्वामी तो मन है। कर्म रूपी पटवारी के भोगविलास में व्यय का कोई अंत नहीं होता। जिस तरह अमीन गांव के खेत को जंजीर से नापता है, उसी तरह तृष्णा और वासना की जेवड़ी सारे शरीर को नाप लेती है, बांध देती है। इस तरह सब ने जीव को जकड़ रखा है।

हे धर्मराज - हे भूस्वामी! इस गांव में आपके द्वारा नियुक्त कारिन्दा बड़ा कठोर है। गांव का मुखिया खोटा है, लगान वसूलने वाला (बलाही) बहुत ही विकट और निर्दय है। वह बड़े-बड़े ताकतवर लोगों के बाल उखाड़ डालता है। ऐसी हालत में मेरे जैसे आदमी की तो गिनती ही नहीं है। इस निर्दय बलाही को मुझसे कोई हमदर्दी नहीं; आपके दीवान से अपील करने पर भी कोई न्याय नहीं मिलता। आपके कर्मचारियों में कोई तो मुझे (जीव को) बांधता है, कोई मारता है और सभी मुझे नाना प्रकार की यातनाएँ देते हैं। मरने के वक्त जब धर्मराज ने मेरे कर्मों का हिसाब माँगा तो मेरे ऊपर बहुत बड़ा हिसाब निकला। अंजाम यह कि पांचों इन्द्रियों के समान सारे किसान भाग खड़े हुए और मुझ एकाकी जीव को पकड़ कर हाथी का पैर बांधने वाले रस्से से जकड़कर बांध दिया गया। भूस्वामी ने मुझे कितनी बड़ी यातना दे दी है।

कबीर कहते हैं कि हे संतो। सुनो, भगवान के भजन रूपी बेड़े को तैयार करो जिससे यह जीव भवसागर से पार हो जाए (मैदानी इलाकों में किसानों को पकड़ कर लौटा लाया जाता था, अत: नदियों के रास्ते भागने की कोशिश होने लगी)।

आलंकारिक दृष्टि से इस पद में सांग रूपक और यमक की छटा देखी जा सकती है। पर इस पद का काव्य सौंदर्य किसान-उत्पीड़न के सामाजिक संदर्भ की व्यंजना में निहित है।

आत्मा-परमात्मा के मिलन की अभिलाषा से संबंधित पद हों या वियोगिनी की पीड़ा से संबंधित रतिशृंगार के पद हों - कबीर को अद्वैतवादी और वेदांती सिद्ध करने के क्रम में ये बानियां अक्सर ही उद्धृत की जाती हैं और इन पदों के काव्यसौंदर्य पर आलोचक की मुहर भी लग जाती हैं। दूसरी तरफ जातिप्रथा, मूर्तिपूजा, धार्मिक कर्मकांड, हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव आदि से संबंधित तर्कवितर्क वाले पदों को उद्धृत कर कबीर के क्रांतिकारी समाजदर्शन की प्रशंसा की जाती है। कबीर के मायावाद और स्त्री-संबंधी उनके दृष्टिकोण की असंगतियों की चर्चा प्राय: नहीं की जाती - यद्यपि कबीर के विचार-दर्शन का यह ऐसा पहलू है जो उनकी ऐतिहासिक भूमिका की सीमा भी स्पष्ट कर देता है। स्त्री-संबंधी दृष्टिकोण की पड़ताल करने पर पता चलता है कि नानक को छोड़कर भक्तिकाल के प्राय: सभी रचनाकार स्त्रियों को माया का प्रतीक और सभी सांसारिक बुराइयों की जड़ बतलाने में आगे बढ़-चढ़कर होड़ा होड़ी कर रहे हैं। सिर्फ गुरु नानक ऐसे संत और समाज सुधारक हैं जो स्त्री को समाज में समुचित स्थान दिलाने के लिए अपने दृढ़ वैचारिक रुख का परिचय देते हैं। सूतक से जुड़े अंधविश्वास का खंडन करते हुए गुरु नानक ने स्त्री की अपवित्रता की धारणाओं को निर्मूल करने का प्रयत्न किया था। संत काव्य परंपरा में कबीर के विचारधारात्मक संघर्ष की अगली कड़ी के रूप में गुरु नानक (1469-1539) को देखने से ही भक्ति आंदोलन के विकास की सकारात्मक दिशा का संकेत मिलता है।

तुलसी तक आते-आते भक्ति आंदोलन की अनेक सकारात्मक प्रवृत्तियाँ उतार पर दिखायी देने लगती हैं। अत: कबीर के मूल्यांकन के संदर्भ में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक उत्थान के साहित्य और भक्ति आंदोलन की उत्तरवर्ती प्रवृत्तियों के साहित्य के अंतर को पूरी निर्ममता से अलगाकर देखना चाहिए। इसके साथ-साथ भक्ति आंदोलन के उत्कर्ष काल से लेकर उसके अपकर्ष काल तक उसके अंदर टकराती हुई विभिन्न प्रवृत्तियों के अंतर्विरोध को तत्कालीन सामाजिक द्वन्द्वों की पृष्ठभूमि में पढ़ा जाना चाहिए। भक्ति साहित्य लगभग 200 वर्षों तक लिखा जाता रहा। उस व्यापक सांस्कृतिक आंदोलन को निर्द्वन्द्व इकहरी प्रवृत्ति के जड़ पुंज के रूप में देखने से ही तमाम तरह की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं। पर भक्ति साहित्य के कुछ आधारभूत समान तत्व भी हैं जो कबीर से तुलसी तक अनिवार्यत: एक वैचारिक अन्विति की सृष्टि करते हैं। इन समान तत्वों में पहली बात यह है कि ईश्वर के दरबार में सभी जातियों और धर्मों के लोग बराबर हैं। दूसरी बात यह कि सुख-संपदा, भौतिक वैभव-विलास, संपत्ति और पद के लिए लूट मार, अंधी स्वार्थपरता, लोभ, झूठे दिखावे और अंहकार - इन सारी प्रवृत्तियों के नागफाँस से बचने का संदेश भक्तिकाव्य की नैतिक अंतर्धारा के रूप में कबीर से तुलसी तक समान रूप से मिलता है। कबीर की बानियों में यह नैतिक संदेश उनके 'ज्ञान' और मानदीय विवेक का आवश्यक तत्व है। अक्सर भ्रांतिवश ज्ञानाश्रयी काव्यधारा के 'ज्ञान' को ईश्वर के निर्गुण रूप तक सीमित कर दिया जाता है। कबीर की बानियों में यह ज्ञान आत्मचेतना, मानवप्रेम और आचरण की सादगी का पर्याय है। परोपकार, दूसरों की पीड़ा को समझना, संतोष में ही आनन्द का अनुभव करना, आदि से संबंधित कबीर के पदों की तत्कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में विवेचना नहीं की जाती। सदियों से दबे और कुचले हुए लोगों के प्रति ममता से परिपूर्ण कबीर की बानियों की भी अलग से व्याख्या, चर्चा और समीक्षा बहुत कम की जाती है। दरअसल पन्द्रहवीं-सदी के उत्तरी भारत में कबीर की ज्ञानधारा उस युग की सामाजिक आवश्यकताओं की ही अभिव्यक्ति है। यह ऐसी ज्ञानधारा है जो मानवीय सौहार्द्र, सद्भावना, सामाजिक बराबरी और प्रेम को भी उतना ही महत्व देती है, जितना निर्गुण-निराकार की भक्ति को महत्व देती है। कबीर शुष्क ज्ञानचर्चा नहीं कर रहे थे - शूद्र और दलित जातियों की पीड़ित आबादी के बीच आत्मसम्मान की भावना भी जगा रहे थे; अपने वैभव एवं ऐश्वर्य की मदांधता में डूबे

लोगों की तीखी आलोचना भी कर रहे थे; पंडितों, मुल्लों, काजियों, अवधूतों को तर्क की भूमि पर अज्ञानी और मूर्ख भी साबित कर रहे थे; वेद एवं स्मृति ग्रंथों की ज्ञानगठरी का मजाक उड़ाकर प्रेम को नये मानवविवेक के रूप में पूरी दृढ़ता से प्रतिष्ठित करने के लिए विराट आह्वान भी कर रहे थे।

आये हैं सो जायेंगे, राजा, रंक, फकीर, जैसी उक्तियाँ शाश्वत सत्यकथन के आवरण में सत्ताधारियों को चुनौती देती हैं और चेतावनी भी। क्या फर्क पड़ता है - एक सिंहासन पर बैठा-बैठा मर जाता है, और दूसरा जंजीर में बँधा-बँधा मर जाता है। फिर सत्ता पक्ष के लोग दंभ किस बात का करते हैं? उन्हें मालूम होना चाहिए कि मरी हुई खाल की साँस से लोहा भी भस्म हो जाता है (मुई खाल की साँस सों, लोह भसम होइ जाई)। अपने इस 'ज्ञान' को लेकर कबीर ब्राह्मण से कहते हैं कि तुमने मेरे ज्ञान को पहचाना ही नहीं, चीन्हा ही नहीं - तुम शास्त्र-पुराण का बहुत ज्ञान रखते हो, फिर भी भूपति से भीख मांगते हो। मैं तो किसी से कुछ मांगता ही नहीं -

तू ब्राहमण मैं कासी का जोलहा चीन्हि न मोर गियाना।

कबीर का यह ज्ञानमार्ग नई विवेकचेतना की मांग करता है। हर आदमी के मन में आत्मसंग्राम के बीज बोता है

जा घट जान विजान है, तिहि घटि आवटनां घनां।
बिन खांडे संग्राम है, नित उठि मन सौं जूझनां।।

कबीर कहते हैं जिसके मन में (घट में) ज्ञान विज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उसे चैन कहाँ? उस आदमी के घट में गंभीर उथलपुथल, ऊहापोह शुरू हो जाती है। खांड़ के बिना ही (तलवार हाथ में नहीं है, फिर भी) संग्राम होने लगता है - ऐसा संग्राम जिसमें अपने मन से ही उठ-उठ कर जूझना पड़ता है। मानववादी आत्मविवेक की जागृति के परिप्रेक्ष्य में कबीर के ज्ञानमार्ग को समझने से उनके पदों के काव्यसौंदर्य को समझा जा सकता है; सिर्फ अध्यात्मवादी चौखटे में इस ज्ञानोन्मेष को बांध देने से काव्यसंवेदना का आस्वाद लेना मुश्किल होता जाता है।

6.5 सारांश

भक्तिकाल के प्रारंभिक उत्थान के रचनाकारों में कबीर सर्वाधिक महत्वपूर्ण माने गये हैं। उनकी बानियों में यद्यपि भाषिक दृष्टि से विविधता उपलब्ध होती है, पर यह विविधता उनके काव्य को और भी सजीव बना देती है। भावसौंदर्य और कलात्मकता की दृष्टि से भी कबीर अपने युग के अग्रणी रचनाकार थे।

कबीर की काव्य-भाषा में मध्यकालीन धर्मसाधनाओं, भारतीय दर्शन, इस्लाम तथा सूफीमत के पारिभाषिक शब्दों की भरमार है। कबीर ने इनका उपयोग प्रायः उन्हीं अर्थों में किया है लेकिन उलटबाँसियों, रूपकों, अन्योक्तियों आदि में इन पारिभाषिक शब्दों का तात्विक अभिप्राय नई अर्थभंगिमा ग्रहण कर लेती है। कबीर की भाषा में ताजगी, सादगी, जिंदादिली और सजीव व्यंजकता है। उन्होंने अपने युग की जीती-जागती रोज़मर्रा की भाषा में बानियों की रचना की है। उनकी भाषा सत्य की आँच में तपी और ढली है। उसमें एक ओर दो टूक खरापन है तो दूसरी ओर उसमें पीड़ित मानवता के लिए गहरी आत्मीयता भी है। परंतु कबीर की कविता में शुष्क ज्ञान की ही चर्चा नहीं है अपितु उसमें एक काव्य-सौंदर्य भी है। उनकी भाषा संगीत के नाद तत्व से परिपूर्ण है।

6.6 अभ्यास/प्रश्न

1. कबीर की बानियों की भाषा के संबंध में प्रचलित विवादों की समीक्षा करें।
2. "कबीर के काव्य में व्यंग्य की अपूर्व सामर्थ्य है।" इस कथन के आलोक में कबीर की समाजचेतना और व्यंग्य-दृष्टि का मूल्यांकन करें।
3. कबीर के काव्य शिल्प पर विचार करते हुए उनकी उलटबाँसियों पर सिद्धों और नाथों के प्रभाव की विवेचना करें।
4. कबीर काव्य की कलात्मकता पर एक स्वतंत्र टिप्पणी लिखें।
5. कबीर काव्य की यथार्थदृष्टि तथा उसके शिल्प पर उदाहरण सहित विवेचनात्मक निबंध लिखें।

इकाई 7 सूफी मत और जायसी का पदमावत

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 सूफीमत
7.3 जायसी और सूफीमत
7.4 कवि जायसी और उनका पदमावत
7.5 सारांश
7.6 शब्दावली
7.7 अभ्यास/प्रश्न

7.0 उद्देश्य

इस खंड की इकाई 5 और 6 में आपने कबीर के साहित्य के विविध पक्षों की जानकारी प्राप्त की। यह इकाई जायसी पर केन्द्रित है। इसे पढ़कर आप :

- सूफीमत से परिचित हो सकेंगे,
- सूफीमत और मलिक मुहम्मद जायसी का क्या संबंध है, इसकी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- सूफीमत में प्रेम के स्वरूप और प्रेम-संबंधी जायसी की अवधारणा को रेखांकित कर सकेंगे, और
- जायसी-कृत **पदमावत** में अभिव्यंजित प्रेम का अध्ययन कर सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

मलिक मुहम्मद जायसी को हिन्दी का सूफी कवि माना जाता है। इसलिए जायसी के कवि-रूप का अध्ययन करने से पूर्व आपके लिए यह जान लेना आवश्यक होगा कि "सूफी" किसे कहते हैं? हिन्दी में "सूफीमत" नाम से प्रचलित अवधारणा के लिए अंग्रेजी में सूफिज्म और उर्दू में तसव्वुफ (मूलत: अरबी शब्द) का व्यवहार होता है। यह एक दार्शनिक अवधारणा है, जो फारसी काव्य से चलकर हिन्दी काव्य तक आयी। हिन्दी के जिन कवियों में इस अवधारणा के दर्शन होते हैं, वे सूफी कवि कहलाए। जैसे : मुल्ला दाऊद, मलिक मुहम्मद जायसी, कुतुबन, मंझन, कासिमशाह, नूर मुहम्मद आदि। जायसी का नाम उनमें अग्रगण्य है।

मलिक मुहम्मद जायसी को केवल कवि कहा जाय, या सूफी कवि - इसको लेकर पर्याप्त विचार-विमर्श हो चुका है। यहाँ हम उन्हीं तमाम विचारों के प्रकाश में जायसी की कविता का मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे।

इश्क अर्थात् प्रेम - सूफीमत का एक प्रमुख अंग है और जायसी मूलत: प्रेमाख्यान के कवि हैं, अत: सूफीमत और जायसी दोनों की प्रेमसंबंधी परिकल्पनाओं का भी अध्ययन करना समीचीन प्रतीत होता है।

चूँकि **पदमावत** जायसी की अमर रचना है, इसलिए उक्त ग्रंथ में प्रतिपादित प्रेम के स्वरूप का सम्यक् विवेचन इस इकाई का मूल अभीष्ट है।

7.2 सूफीमत

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मलिक मुहम्मद जायसी को सूफी कवि कहा जाता है, इसलिए "सूफी" अथवा "सूफीमत" का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है।

"सूफी" शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में अनेक तरह के विचार व्यक्त किये गये हैं। सुफ्फा, सफ, सोफिया, सूफ आदि शब्दों को इसका मूल माना जाता रहा है। अंतत: "सूफ" शब्द पर बहुमत हुआ, जिसका अर्थ है "ऊन"। अर्थात् "सूफी" वह है, जो ऊनी वस्त्र धारण करता हो। लेकिन शाब्दिक अर्थ जान लेने मात्र से सूफीमत का पूर्ण बोध नहीं हो जाता।

सूफीमत अथवा तसव्वुफ इस्लाम का एक अंग है, किन्तु फकीह अथवा धर्मशास्त्री इसे इस्लाम से अलग मानते रहे, क्योंकि प्रारंभिक सूफियों ने इस्लाम की प्रवृत्तिमूलक भावना के विपरीत उसमें भक्ति का समावेश किया और आत्मा के शुद्धिकरण पर जोर दिया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रारंभ के सूफीमत में दर्शन का अभाव था; अलहसन, इब्राहीम बिन अधम और अयाज के विचारों से सूफीमत अपना आधार ग्रहण करने लगा और उसका प्रारंभिक स्वरूप राबिया के विचारों में दिखायी दिया। सर्वप्रथम राबिया बसरी में प्रेम का उदात्त रूप दिखायी पड़ा फिर भी वह तवक्कुल (आत्मसमर्पण) के भाव को बनाये रखना अपना कर्तव्य समझती थी। वह खुदा के प्रेम में इस तरह तदाकार हो गई थी कि शेष सृष्टि के प्रति न तो उसे प्रेम रहा और न घृणा।

इस तरह आपने देखा कि प्रारंभिक सूफियों ने इस्लाम की शरीयत के विपरीत इस्लाम में भक्ति और माधुर्य का समावेश कर एक नये दर्शन की आधारशिला रखी। धीरे-धीरे सूफीमत पर ईसाईयत, नवअफलातूनी मत, भारतीय वेदान्त और बौद्धदर्शन का प्रभाव पड़ने लगा। लेकिन इस सूफीमत में एक नया मोड़ उस समय आया जब जुनद शिबली और मंसूर हल्लाज ने गैर इस्लामी विचारों को व्यक्त करना शुरु किया। मंसूर हल्लाज ने "अनलहक" (अन-अल्-हक़ = मैं ही सत्य हूँ) कहकर इस्लाम के धर्मशास्त्रियों को क्रुद्ध कर दिया। चूँकि इस्लाम में यह मान्यता है कि अल्लाह एक है और उससे न कोई पैदा हुआ और न वह किसी से पैदा हुआ तथा उसकी समता का भी कोई नहीं है, इसलिए मंसूर हल्लाज को अपने को सत्य कहना उलेमाओं को अच्छा नहीं लगा। इसीलिए मंसूर का कत्ल कर दिया गया। दरअसल मंसूर का यह कथन वेदान्त का अहं ब्रह्मास्मि ही है जिससे यह सिद्ध होता है कि मंसूर के समय तक सूफी मत पर अनेक दर्शनों का प्रभाव पड़ने लगा था।

मंसूर के कत्ल के बाद सूफीमत को जबर्दस्त आघात लगा और सूफियों को एक सुसम्बद्ध दर्शन की आवश्यकता महसूस हुई। अत: सूफीमत ने इस्लाम से समझौता भी शुरु कर दिया। अल ग़ज़ाली ऐसे ही समन्वयवादी सूफी दार्शनिक थे। अल ग़ज़ाली, जिस पर यूनानी दार्शनिकों के साथ-साथ क़ुरान और हसनअलबसरी, राबिया और जुनैद के मतों का प्रभाव था, उनके समन्वयवादी विचारों से इस्लाम और सूफीमत का विरोध समाप्त हो गया। इस प्रकार सूफी दर्शन दो धाराओं में बँट गया। पहली धारा मंसूर हल्लाज के अनुयायियों की है और दूसरी समझौतावादी दार्शनिकों की। पहली धारा के दार्शनिकों की दृष्टि उदार है और दूसरी धारा के दार्शनिकों की कुरानसम्मत, जो कुरान के प्रतिकूल नहीं जाते।

अभी तक आपने देखा कि सूफीमत ने किन परिस्थितियों में अपनी अस्तित्व-रक्षा के लिए एक पुष्ट दर्शन का विकास किया और वह दो धाराओं में बँट गया। इस समय तक सूफीमत पर वेदांत का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा था। साक्ष्य के लिए इब्नुल अरबी के विचारों को भी देखा जा सकता है जो एकेश्वरवादी दृष्टिकोण कि "ईश्वर केवल एक है" की जगह कहता है कि "केवल ईश्वर है और कुछ नहीं"। इब्नुल अरबी का यह दृष्टिकोण वेदान्त के " सर्वं खलु इदं ब्रह्म" के समीप है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि इब्नुल अरबी के ये विचार भारत में काफी लोकप्रिय हुए। हिन्दी के सूफी कवि मंझन ने उन्हीं विचारों को ध्यान में रखकर **मधुमालती** की रचना की।

अब आपको सूफीमत की साधना-पद्धतियों को जान लेना ज़रूरी है क्योंकि समूचा सूफी दर्शन इन्हीं साधना-पद्धतियों पर निर्भर है। जिस तरह योग के आठ अंग होते हैं और योगी उनका क्रमशः आचरण करते हुए समाधि की दशा में पहुँचता है उसी प्रकार सूफी परमात्मा के प्रेम में डूबकर उसमें लीन हो जाता है। इस अवस्था में वह ईश्वर से तदाकार हो जाता है। सूफी दर्शन की भाषा में इसे बक़ा कहा जाता है।

सूफीमत में साधना के चार सोपान माने गये हैं - शरीअत, तरीक़त, मारिफत और हक़ीकत। दूसरे शब्दों में इन्हें नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत भी कहा जाता है। कुछ लोगों ने एक और सोपान हाहूत की भी कल्पना की जिसे सत्यलोक भी कहा जा सकता है। हर सूफी तौबा, जहद, सब्र, शुक्र, रिज़ाअ, ख़ौफ़, तवक्कुल, रज़ा, फ़िक्र और मोहब्बत को आचरण में लाते हुए अपने माशूक अर्थात् ब्रह्म में लीन

हो जाता है। साधना के इन सोपानों से गुज़रते हुए वह काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि चित्तवृत्तियों और मनोविकारों से मुक्त हो जाता है। यह फना की अवस्था होती है। प्रियतम के सिवाय उसे कुछ भी नज़र नहीं आता। वस्ल यानी मिलन के बाद आशिक और माशूक अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा में कोई फर्क नहीं रहता। वह ब्रह्ममय हो जाता है। इसे ही बक़ा कहा जाता है।

सूफीमत में अद्वैत दर्शन की शुरुआत बायज़ीद ने की। बायज़ीद जीवात्मा और परमात्मा में कोई फर्क नहीं मानते थे। करखी और बायज़ीद के बाद ही सूफियों में "प्रेमपियाला" का प्रचलन हुआ।

सूफी मत की दार्शनिक पृष्ठभूमि से परिचित होने के बाद उसके विभिन्न सम्प्रदायों की जानकारी अति आवश्यक है, क्योंकि सूफी कवियों का संबंध किसी एक सम्प्रदाय से न होकर विभिन्न सम्प्रदायों से रहा है।

विभिन्न सम्प्रदाय

सूफी सिद्धान्तों की रूपरेखा हुज्वेरी ने प्रस्तुत की। वे एक सूफी साधक और विचारक थे। अपनी किताब "कश्फुल-महजूब" में उन्होंने उस समय तक प्रचलित 12 सम्प्रदायों की जानकारी दी। दरअसल भारत में सूफीमत हुज्वेरी के साथ आया, लेकिन यहाँ पर सूफी मत का क्रमबद्ध इतिहास ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती के आने के बाद शुरू हुआ। उन्होंने चिश्तिया सम्प्रदाय की स्थापना की। ख्वाजा बख्तियार काकी इसी सम्प्रदाय के मशहूर सूफी सन्त थे। बाबा फरीद उन्हीं के शिष्य थे। बाबा फरीद के अनेक शिष्यों में ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया भी थे।

भारत में सूफी मत के अनेक सम्प्रदाय बने जिनमें चिश्तिया सम्प्रदाय, सुहरवर्दिया, कादिरिया, नक्शबंदिया और मेहदवी सम्प्रदाय प्रमुख हैं।

चिश्तिया सम्प्रदाय की दो शाखाएँ हुईं। पहली, निजामुद्दीन औलिया की औलिया सम्प्रदाय और दूसरी साबिरी सम्प्रदाय। साबिरी सम्प्रदाय नामक नयी शाखा शेख अलाउल अली अहमद साबिर ने स्थापित की। अमीर खुसरो औलिया शाखा के थे और वे निजामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। सुहरवर्दिया सम्प्रदाय भी ख्याति प्राप्त था। यह सम्प्रदाय मशहूर संत शेख शहाबुद्दीन सुहरवर्दी के नाम पर कायम हुआ। इस सम्प्रदाय के दो विख्यात संत शेख हमीदुद्दीन नागौरी और शेख बहाउद्दीन जकारिया सुहरवर्दी के शिष्य थे जिन्हें उन्होंने भारत भेजा था। बाद में इस सम्प्रदाय की दो तीन शाखाएँ और बनीं। हिंदी के सूफी कवि कुतुबन सुहरवर्दिया सम्प्रदाय के थे।

कादिरिया और नक्शबंदिया सम्प्रदाय बहुत बाद के हैं। हिंदी के सूफी कवियों का संबंध इन सम्प्रदायों से नहीं है। मेहदवी सम्प्रदाय के संस्थापक मीर सैयद मुहम्मद जौनपुरी थे। उन्होंने स्वयं को मेहदी घोषित किया। शेख बुरहान इन्हीं परम्परा में थे। हिंदी के प्रमुख सूफी कवि मलिक मोहम्मद जायसी का संबंध इसी मेहदवी सम्प्रदाय से था और वे शेख बुरहान के शिष्य थे।

7.3 जायसी और सूफीमत

अभी तक आपने सूफी मत के विभिन्न सम्प्रदायों की जानकारी प्राप्त की। अब जायसी और सूफी मत के संबंधों के बारे में जान लेना आवश्यक है, क्योंकि जायसी और सूफीमत को समझे बिना उनकी कविता को समझना आसान नहीं है।

ऊपर कहा जा चुका है कि जायसी मेहदवी संप्रदाय के कवि थे और उनके गुरु शेख बुरहान थे। यही नहीं, जायसी का संबंध चिश्तिया संप्रदाय से भी जोड़ा गया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल और परशुराम चतुर्वेदी ने जायसी को चिश्तियां सम्प्रदाय का माना है। प्रो0 रामपूजन तिवारी, डॉ0 रामखेलावन पांडेय आदि ने उन्हें मेहदवी संप्रदाय का बताया है। जायसी के अनेक विशेषज्ञों की धारणा इसी प्रकार की है और इसी आधार पर **पदमावत** की व्याख्या की जाती रही है। विद्वानों की इन धारणाओं का आधार भी है। जायसी ने स्वयं **पदमावत** के एक कड़वक में शेख बुरहान समेत अनेक गुरुओं की सूची दी है जिससे यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि उनके अनेक गुरु थे जिनसे उन्होंने दीक्षा ली या जिनके संपर्क में वे आये।

सबसे पहले सर जार्ज ग्रियर्सन ने जायसी को मुस्लिम संन्यासी घोषित करते हुए उन्हें सूफीमत से जोड़ा। बाद में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ग्रियर्सन के विचारों को सही पाया और उसका समर्थन किया। हालांकि शुक्ल जी ने जायसी को सूफी कवि माना है, किन्तु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जायसी के काव्य में सूफी तत्व कम हैं, भारतीय अद्वैत दर्शन, वेदान्त एवं हठयोग के तत्व ही अधिक हैं। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जायसी सूफियों के अद्वैतवाद तक ही सीमित नहीं रहे हैं, वेदान्त के अद्वैतवाद तक भी पहुँचे हैं। इसी प्रकार प्रो0 परशुराम चतुर्वेदी, डॉ0 रामखेलावन पांडेय, प्रो0 रामपूजन तिवारी, डॉ. श्रीनिवास बत्रा और प्रो.हसन अस्करी ने भी जायसी को सूफी मत से जोड़ते हुए **पदमावत** की व्याख्या की है, हालाँकि उन्हें **पदमावत** में सूफी दर्शन के कम ही दर्शन हुए हैं।

इन विद्वानों के विचारों से सहमत होकर जायसी को सूफी कवि मान लेना पर्याप्त नहीं है। जायसी अगर हिन्दी के सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं और **पदमावत** सूफीमत को प्रतिपादित करने वाला श्रेष्ठ ग्रंथ है तो उसमें रूपक का भी सफल निर्वाह हुआ होगा। यह कैसे हो सकता है कि एक श्रेष्ठ सूफी कवि अपने काव्य में सूफीमत का ठीक से निर्वाह न कर सके। मगर हुआ ऐसा ही है। **पदमावत** के आधार पर जायसी को न तो सूफी कवि कहा जा सकता है और न ही **पदमावत** को सूफी प्रेमाख्यानक काव्य।

जायसी सूफी थे, सूफी कवि थे या सिर्फ कवि थे - इस पर विचार कर लेना आवश्यक है। जायसी और **पदमावत** को समझने के लिए यह ज़रूरी है। जायसी को सूफी कवि मानने वाले विद्वानों के लिए पदमावत का एक कड़वक काफी रहा है। जायसी को सूफी कवि मानने की यह धारणा अब तक जारी है। जायसी केवल कवि थे और उनकी रचना **पदमावत** में सूफी दर्शन अनायास ही आ गये हैं, इस बात को बहुत कम आलोचक मानते हैं।

जायसी कवि थे। उनका किसी सूफी संप्रदाय से कोई संबंध था अथवा नहीं, नहीं कहा जा सकता, तथापि वे सूफीमत से भलीभाँति परिचित थे। प्रो0 विजयदेवनारायण साही के अनुसार, **''जायसी में अपने स्वाधीन चिंतन और प्रखर बौद्धिक चेतना के लक्षण मिलते हैं जो गद्दियों और सिलसिलों की मठी या सरकारी नीतियों से अलग हैं। इस अर्थ में जायसी यदि सूफी हैं तो कुजात सूफी हैं।''** वास्तव में जायसी के बारे में विजयदेवनारायण साही का यह कथन सही है। भारत में सूफी मत के उद्भव और विकास के युग में तो जायसी को सूफी नहीं माना गया, किंतु बाद में उनको लेकर तरह-तरह के विभ्रम खड़े किये गये और जायसी को सूफी सन्त और सूफी कवि मान लिया गया। जायसी को सूफी कवि प्रमाणित करने के लिए **पदमावत** के उन स्थलों को बार-बार दोहराया गया जिनमें सूफीमत की झलक मिलती है। आचार्य शुक्ल ने **पदमावत** के अन्त के जिस कड़वक **''तन चितउर मन राजा कीन्हा''** के आधार पर **पदमावत** में रूपकत्व के निर्वाह की कोशिश की, वह कड़वक ही प्रक्षिप्त है। डॉ0 माता प्रसाद गुप्त ने इसे प्रक्षिप्त सिद्ध करके जायसी और **पदमावत** के बारे में फैले बहुत सारे विभ्रमों को दूर कर दिया।

जायसी ने **पदमावत** के जिस कड़वक में गुरुओं की एक लंबी सूची दी है, उसके आधार पर भी उन्हें सूफीमत के किसी संप्रदाय से जोड़ना गलत है। प्रो0 विजयदेव नारायण साही ने ठीक ही लिखा है कि **''जायसी के पदमावत में न सिर्फ एक विशेष जीवन-दृष्टि है, बल्कि एक स्पष्ट सामाजिक सांस्कृतिक समन्वय भी है। गुरुओं की समूची सूची से इसका मिज़ाज बैठाना कठिन है।''**

जायसी के सूफी होने के प्रमाणस्वरूप **पदमावत** को एक और तरह से हथियार बनाया जाता है। वह हथियार यह है कि **पदमावत** मसनवी शैली में लिखा गया एक प्रेमाख्यानक काव्य है। मसनवी फारसी की एक शैली है और ज्यादातर सूफी प्रेमाख्यान इसी शैली में लिखे गये। यहाँ मसनवी और **पदमावत** के प्रेमाख्यान के बारे में बस इतना कहना पर्याप्त होगा कि शैली मात्र के अनुकरण से कोई रचना किसी सम्प्रदाय के मतों को प्रतिपादित नहीं करती और दूसरे **पदमावत** प्रेमकाव्य ही नहीं है। इसमें युद्ध का भी विशद वर्णन हुआ है।

इस तरह जायसी मननशील और मानवीय संवेदना के कवि थे। उन्हें जीवन का व्यापक अनुभव था। उनका यही अनुभव उनकी कृति पदमावत में दिखायी पड़ता है। जायसी ने कहीं भी इस महान काव्य ग्रंथ को सूफी काव्य मानने का आग्रह नहीं किया है, हालाँकि वे प्रेम पर विशेष जोर देते हैं। जायसी के लिए **पदमावत** एक प्रेम कथा है, बाकी कुछ नहीं। उनका आग्रह बस यही है -

प्रेम कथा यहि भाँति बिचारहु।

और उन्होंने इस प्रेमकथा के लिखने का प्रयोजन भी बताया है -

औ मन जानि कबित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।

जायसी और उनके **पदमावत** की व्याख्या के लिए इन पंक्तियों को ध्यान में रखना जरूरी है; नहीं तो जायसी के साथ अन्याय की पूरी संभावना है।

जब किसी कवि को किसी खास संप्रदाय से जोड़ दिया जाता है और साहित्यिकों में एक भ्रमपूर्ण धारणा जड़ जमा लेती है तो उसे तोड़ना आसान नहीं होता है। इससे पहले आपने देखा कि जायसी एक कवि थे, किसी सूफी संप्रदाय से उनका संबंध नहीं था। यह अलग बात है कि **पदमावत** के कुछ थोड़े-से स्थल सूफी सिद्धान्तों के अनुकूल हैं अन्यथा समूचा **पदमावत** एक लौकिक प्रेमकाव्य है जिसमें प्रेम और युद्ध को समान महत्व दिया गया है। फिर भी सूफीमत में प्रेम के स्वरूप और प्रेम के बारे में जायसी की अवधारणा का विवेचन ज़रूरी है।

सूफी मत एक दर्शन है जिसमें प्रेम ही भक्ति का साधन है। यह प्रेम नितान्त लौकिक है, किन्तु सूफी इस सांसारिक प्रेम को इतना उदात्त और दिव्य बना देते हैं कि वह अलौकिक प्रेम में बदल जाता है। सूफीमत की शब्दावली में इसे इश्क मज़ाजी से इश्क हकीकी में रूपान्तरण कहा जाता है। ईश्वर के प्रेम में आकंठ डूबा और विरह में रत होकर सूफी संसार से अलग हो जाता है। प्रेम और "प्रेम पियाला" के लिए सूफी हमेशा लालायित रहते हैं। प्रेम के द्वारा ईश्वर या सत्य का आभास करके वे उन्माद की दशा मे पहुँचते हैं और ईश्वर में एकाकार हो जाते हैं। इश्क हकीकी तक पहुँचने के लिए वे इश्क मजाजी का सहारा लेते हैं। वे स्वयं को जीवात्मा या आशिक मानते हैं और स्त्री या परमात्मा को माशूक। माशूक हमेशा सौंदर्यपुंज होता है जो खुदा के जमाल का सूचक है। ईश्वर को प्राप्त करने के लिए सूफी अनेक विघ्न-बाधाओं को पार करते हुए अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाते हैं। फारसी के सूफी कवियों में ही नहीं, बल्कि हिन्दी के सूफी कवियों में भी यह प्रवृत्ति समान रूप से दिखायी पड़ती है। मुल्ला दाउद, कुतुबन, मंझन और नूर मुहम्मद सभी ने अपने काव्यों में इसी पद्धति का अनुसरण किया है। इस तरह हिन्दी में दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम की एक नयी शैली विकसित हुई। भारतीय जीवन और दर्शन में इस तरह की प्रेमकथाएँ नहीं थीं।

सूफियों ने इस्लाम को सहज और सरल बनाने की कोशिश की। इसलिए उन्होंने ईश्वर भक्ति के लिए प्रेम को अर्थात् मधुरा भक्ति को चुना। उन्होंने योग और ज्ञान को नहीं, प्रेम और उससे उत्पन्न विरह को महत्व दिया। जायसी ने इसीलिए प्रेम (सांसारिक प्रेम) को ईश्वरीय प्रेम माना। प्रेम से रत की भावना से मुक्ति मिल जाती है। प्रेम सौंदर्य से उत्पन्न होता है। अत: सूफियों ने ईश्वरीय सौंदर्य को अपने माशूक में ही देखा। यह सूफी दर्शन है। इसीलिए जायसी ने लिखा -

जब लगि विरह न होइ तन, हिये न उपजइ पेम।
तब लगि हाथ न आव तप, करम धरम सत नेम।।

हम चाहें तो इस दोहे को सूफीमत की प्रेमसंबंधी अवधारणा से जोड़ सकते हैं, किन्तु किसी एक दोहे या कुछ छंदों के आधार पर जायसी के प्रेम को सूफीमत के अनुकूल सिद्ध करना ठीक नहीं होगा। हालाँकि जायसी सृष्टि की रचना का उद्देश्य हज़रत मुहम्मद से प्रेम स्वीकारते हैं :

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाउं मुहम्मद पूनिउं करा।
प्रथम जोति विधि तोहि केर साजी। ओ तेहि प्रीति सिष्टि उपराजी।

जायसी के व्यक्तित्व के दो रूप हैं। जन्म से मुस्लिम होने के कारण जायसी की इस्लाम और हज़रत मुहम्मद में आस्था स्वाभाविक है, लेकिन यह जरूरी नहीं कि तत्कालीन सूफी सम्प्रदायों से भी उनका संबंध रहा ही हो। इसके ठीक विपरीत जायसी का कवि व्यक्तित्व है जहाँ वे सिर्फ कवि हैं - प्रेम और विरह के कवि। यहाँ न तो वे मुसलमान हैं और न ही सूफी। वे प्रेम में आहत हैं, इसीलिए उनके बोल, उनकी अभिव्यक्ति में प्रेम और विरह की तीव्र वेदना है -

जेहि के बोल विरह के छाया। कहु तेहि भूख कहाँ तेहि छाया।।

इसीलिए उन्होंने **पदमावत** का उपसंहार करते हुए यह स्वीकार किया है कि इस कथा (पद्मिनी की कथा) को मैंने जोड़कर सुनाया है यानी अपनी उर्वर कल्पना के द्वारा इसका निबंधन किया है। इसी कड़वक में उन्होंने "प्रेम की पीर, रकत की लेई" और नैनजल से भीगी गाढ़ी प्रीति की भी चर्चा की है। आगे उन्होंने लिखा है -

औ मन जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।।

अर्थात् मैंने सोच-विचार कर, जो मुझे अच्छा लगा ऐसे काव्य की रचना की। ज़ाहिर है, जायसी किसी मत-मतान्तर के चक्कर में न पड़ कर स्वच्छन्द रूप से प्रेम को अपनी भाषा में व्याख्यायित करने की बात कह रहे हैं, यशप्राप्ति तो अगला उद्देश्य है ही।

पदमावत की संरचना को देखते हुए साही के शब्दों में यह कहना गलत न होगा कि "**पदमावत** में सूफी तत्व हैं, लेकिन वे कथा के प्रधान अंश नहीं हैं।" यदि **पदमावत** से उन गिने चुने अंशों को निकाल दिया जाय तो भी न तो **पदमावत** पर कोई फर्क पड़ेगा और न ही जायसी की प्रेम संबंधी दृष्टि पर। एक मानवीय संवेदना का स्वच्छन्द कवि जिस तरह नागमती के विरह वर्णन में रमता है उसी प्रकार तोते के उड़ जाने पर पदमावती के दुख में भी शरीक होता है। इस तरह प्रेम की पीर का यह कवि अपनी बौद्धिक सधनता और रागात्मक वृत्ति को इतिहास और लोककथा के समन्वय में लगा देता है। यहाँ न तो एकेश्वरवाद है और न ही अद्वैतवाद। यहाँ विशुद्ध प्रेम है और यह प्रेम परम्परा से जुड़ा हुआ है। जायसी से पहले भी प्रेम पर बहुत कुछ लिखा जा चुका था। जायसी उससे परिचित थे। इसीलिए जायसी बहुत ही नम्रता के साथ यह स्वीकार करते हैं कि मैं तो सभी कवियों के पीछे-पीछे चलने वाला हूँ - **हौं सब कबिन केर पछिलगा।** श्रेष्ठ कवियों के पीछे चलने वाले इस कवि ने सब कुछ जाना-पहचाना है। उसे भारतीय और फारसी की काव्य-परंपराएँ और प्रेम के स्वरूप की जानकारी है। उसे इतिहास की भी जानकारी है और लोक की भी। इसीलिए वह सबका समन्वय करने में सफल रहा है। यदि उसके **पदमावत** में सूफी मत आ गया है तो यह आकस्मिक नहीं है, क्योंकि वह दौर ही अनेक मत-मतान्तरों और अध्यात्म दर्शन का था। इनके बीच से जायसी ने प्रेम के मानवीय स्वरूप को बचाये रखा, यह जायसी की सबसे बड़ी खूबी है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि जायसी किसी मत-मतान्तर के चक्कर में न पड़कर स्वच्छन्द रूप से प्रेम को नया स्वरूप दे रहे थे, इसलिए जायसी की कविता में व्यक्त प्रेम का स्वरूप सूफीमत के प्रचलित प्रेम से अलग है। यही कारण है कि उनका प्रेम मानवीय संवेदनाओं से भरा हुआ है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी सूफीमत के आधार पर **पदमावत** की व्याख्या करते समय **पदमावत** के प्रेम और विरह-खासतौर से नागमती वियोग खंड - में काफी रम गये हैं। नागमती वियोग खंड में एक स्त्री की कोमल भावनाओं का मार्मिक चित्रण हुआ है, इसे शुक्ल जी ने भी माना है। इसलिए जायसी को सूफी कवि मानकर **पदमावत** में रतनसेन-पदमावती के लौकिक प्रेम को अलौकिक प्रेम मान लेना ठीक नहीं हैं। क्योंकि इससे रूपक का निर्वाह नहीं हो पाता। **पदमावत** को जायसी ने इस दृष्टि से लिखा भी नहीं है। इसे केवल संयोग ही कहा जाएगा कि जायसी मुसलमान थे, लेकिन वे इस्लाम धर्म से ऊपर उठे हुए सार्वभौमिक प्रेम के कवि थे। जायसी शुद्ध रूप से प्रेम के कवि थे-इससे भी बढ़कर जायसी जनकवि थे जिन्होंने लोक प्रचलित रतनसेन-पदमावती की प्रेमकथा के लोकरूप को सुरक्षित रहने दिया है।

पदमावत एक लौकिक प्रेम काव्य है। कुछ संकेतों के आधार पर उसे सूफी काव्य मानना ठीक नहीं है। जैसे सूफीमत में ईश्वर के प्रति प्रेम जागृत होना, आशिक का ईश्वर के एकनिष्ठ प्रेम में विरही होकर उसी की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना और प्रेम की अनन्यता के कारण आशिक यानी जीव का और माशूक यानी ब्रह्म का एकलय हो जाना। यही वस्ल है, यही फना और बका है जहाँ से साधक फिर इस असार संसार की ओर रुख नहीं करता है। **पदमावत** को देखते हुए कुछ दूर तक ऐसा लगता है कि जायसी का उद्देश्य यही है अर्थात् वे रतनसेन-पदमावती के प्रेम और दोनों के मिलन से सूफी दर्शन का प्रतिपादन करना चाहते हैं, लेकिन जब वे इससे आगे बढ़ते हैं और कथा इतिहास और लोककथा के समन्वय से एक नया रूप ग्रहण करती है तब सूफीमत दूर-दूर तक नहीं दिखायी पड़ता। रतनसेन के पदमावती के साथ चित्तौड़ आने, पदमावती और नागमती से समान रूप से पत्नीत्व का व्यवहार करने, पदमावती और नागमती के सौतियाडाह, अलाउद्दीन और देवपाल द्वारा पदमावती को प्राप्त करने की कोशिशें और रतनसेन की मृत्यु के बाद पदमावती और नागमती द्वारा सती होने आदि में सूफीमत कहाँ है? अगर नागमती "दुनिया का धंधा" है और अलाउद्दीन माया है तो रतनसेन अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के बाद पुनः उसी दुनिया धंधे और माया में क्यों फंसने के लिए वापस आता है? वैसे भी

अलाउद्दीन का माया रूपक ठीक नहीं है। माया अगर हो सकती है तो केवल नागमती जो रतनसेन के मार्ग में रुकावट डालने की कोशिश करती है। इसी सिलसिले में यह भी विचारणीय है कि अगर पदमावती ब्रह्म है तो वह जीव से वियुक्त होकर विलाप क्यों करती है? क्या ब्रह्म जीव से अलग होकर दुखी होता है? क्या ब्रह्म जीव की मृत्यु के बाद स्वयं मर जाता है? अगर नहीं तो पदमावती क्यों विरह में विलाप करती है और अंत में सती हो जाती है? वास्तव में जायसी का यह विचार था ही नहीं कि वे सशक्त कवि होकर अपनी रचना पर इतने सारे प्रश्न उठाने का मौका देते। सूफीमत के चौखटे में बंधकर प्रेमाख्यान लिखना उनका उद्देश्य होता तो ये रतनसेन-पदमावती की कथा को रतनसेन-पदमावती मिलन तक ही सीमित रखते, उसे आगे बढ़ाते ही नहीं। इस दृष्टि से उसका कोई औचित्य ही नहीं है। दरअसल जायसी का उद्देश्य तो कुछ और ही था। उन्हें प्रेम के मर्यादित और उदात्तरूप की अभिव्यक्ति करना था इसलिए उन्होंने कथा में इतने मोड़ दिये, प्रेम को प्रस्फुटित होने के इतने अवसर दिये। निस्संदेह जायसी इसमें सफल हुए हैं।

7.4 कवि जायसी और उनका पदमावत

जायसी सुरति- शृंगार के कवि हैं, प्रेम-अनुराग के कवि हैं। **पदमावत** में उन्होंने ऐसी घटनाओं का विधान किया है जो लोकोत्तर हैं याअयथार्थपरक। लेकिन ये घटनाएँ अविश्वसनीय नहीं हैं। हीरामन का आदमियों की तरह बोलना, शिव-पार्वती द्वारा रतनसेन को सिद्धि गुटिका देना, समुद्र द्वारा रतनसेन को पाँच अमूल्य रत्न देना आदि अनेक घटनाएँ लोकोत्तर हैं जो केवल लोककथाओं में ही मिलती हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे जायसी ने इस कथा को सीधे लोक से ग्रहण किया है और वे लोकप्रचलित कथा से इतने प्रभावित थे कि उन्होंने उसके बहुत सारे अंशों को संशोधित करना मुनासिब नहीं समझा।

जायसी प्रेम के कवि हैं। उनकी मुख्य चिन्ता है प्रेम के लौकिक रूप को व्यापक और कालातीत बनाना। साही जी ने ठीक ही लिखा है कि "जायसी का प्रस्थान बिन्दु न ईश्वर है न कोई नया नया अध्यात्म। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है।" इसीलिए जायसी ने अपनी कविता के केन्द्र में मनुष्य को रखा है, वह मनुष्य जो सुख में उल्लसित होता है और दुख में रोता है। वह सच भी बोलता है और झूठ भी। ईर्ष्या-द्वेष सभी मानवोचित भाव उसमें निहित हैं। प्रेम में वह सब कुछ भूल जाता है। जायसी ने इसी मनुष्य के प्रेम को महाकाव्यात्मक गरिमा प्रदान की। जायसी के उस प्रेम-काव्य में सिर्फ प्रेम नहीं, ट्रेजेडी भी है जिसको सुनकर हर आदमी तिलमिला जाता है-

> **मुहमद कवि जो प्रेम का, ना तन रकत न माँसु।**
> **जेईं मुख देखा तेईं हँसा, सुना ते आये आँसु।।**

अर्थात् प्रेम के इस कवि के शरीर में न रक्त है, न माँस। वह वृद्ध हो चला है और उसका चेहरा सुरूप नहीं है। इस कवि को जो भी देखता है उसे हँसी आती है, लेकिन जब वह उसकी त्रासद प्रेमकथा को सुनता है तो रोये बिना नहीं रहता।

जायसी की इस उक्ति को ध्यान में रखते हुए यदि **पदमावत** को देखें तो साफ पता चलता है कि इस प्रेमाख्यान में एकनिष्ठ प्रेम तो है, किन्तु उसमें जायसी का ट्रेजिक विज़न भी है। **पदमावत** में रतनसेन और पदमावती का प्रेम सीधा-सपाट नहीं है। यह अनेक विघ्न-बाधाओं से गुज़रता हुआ चरम बिन्दु पर पहुँचता है। ध्यान रहे कि जायसी ने यह प्रेमाख्यान इतिहास और लोककथा को अपनी कल्पना से समन्वित करके लिखा है। इतिहास भी क्या, उसमें इतिहास के सिर्फ कुछ संकेत भर हैं, है यह भी जनश्रुति ही। उन्होंने इतिहास से सिर्फ रतनसेन को ले लिया और उसे लोककथात्मक रूप दे दिया। इसलिए अगर **पदमावत** को लोककथा का काव्यमयरूप कहा जाय तो गलत नहीं होगा। कथा की शुरुआत ही लोककथा के आधार पर हुई है। सिंघलदीप की राजकुमारी के योग्य कोई वर नहीं मिल रहा है। राजा गंधर्वसेन परेशान है। पदमावती का सर्वज्ञ सुअटा पदमावती के लिए वर ढूंढ़ने की बात कहता है जिस पर गंधर्वसेन नाराज़ होकर सुअटे को मारने का हुक्म देता है। लेकिन उसे बचा लिया जाता है। आखिर सुअटा ही पदमावती के योग्य वर की तलाश करता है और रतनसेन के मन में पदमावती के प्रति चाह उत्पन्न करता है। यह ऐसी चाह है जो रतनसेन को राजा से जोगी बना देती है। वह सत्ता छोड़ देता है और एक सामान्य आदमी बनकर पदमावती को प्राप्त करने की कोशिशें करता है। जायसी ने "शिव-पार्वती खंड" में रतनसेन के एकनिष्ठ प्रेम को उभारते हुए शिव से सिद्धि गुटिका प्रदान करायी है। तात्पर्य यह है कि **पदमावत** की पूरी रचना-प्रक्रिया लोक़गीतों और निजंधरी कथाओं से भिन्न नहीं है।

पदमावत के दूसरे भाग में इस स्वरूप को बनाये रखने और प्रेम की महत्ता स्थापित करने के लिए जायसी ने ऐतिहासिक कथा को भी लोककथात्मक बना दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह स्वीकार करते हुए लिखा है कि "प्रेम के स्वरूप का दिग्दर्शन जायसी ने स्थान-स्थान पर किया है। कहीं तो यह स्वरूप लौकिक ही दिखायी पड़ता है और कहीं लोकबंधन से परे। ..... पर जायसी की दृष्टि इस लौकिक प्रेम से आगे बढ़ी हुई है। वे प्रेम का वह विशुद्ध रूप दिखाना चाहते हैं जो भगवत्प्रेम में परिणत हो सके।" लेकिन जायसी कृत **पदमावत** की ही निम्नलिखित चौपाइयों पर ध्यान दिया जाय तो यह साफ ज़ाहिर होता है कि रतनसेन सिर्फ पदमावती के अलावा कुछ नहीं चाहता। पदमावती एक तरफ और स्वर्ग-नरक सब एक तरफ -

ना हौं सरग क चाहौं राजू। ना मोहि नरक सेंति किछु काजू।।
चाहौं ओहिकर दरसन पावा। जेइ मोहि आनि प्रेम पथ लावा।।

इसीलिए रतनसेन पदमावती को प्राप्त करने के लिए, उसकी एक झलक पाने के लिए पर्वत तो क्या आकाश की ऊंचाइयाँ नापने के लिए तैयार है। जिस पर्वत पर उसकी प्रिया के दर्शन संभव हों, उस पर्वत पर वह पाँव तो क्या सिर से चढ़ने के लिए तैयार है। दरअसल जायसी कहना चाहते हैं कि "**पुरुषहि चाहिय ऊंच हियाऊ**"। अर्थात् प्रेम के लिए बहुत बड़े कलेजे की जरूरत पड़ती है। ऊंचे कार्य के लिए जान भी देना पड़े तो पीछे नहीं हटना चाहिए-

राजै कहा दरस जौ पावौं। परबत काह, गगन कहँ धावौं।
जेहि परबत पर दरसन लहना। सिर सौं चढ़ौं, पाँव का कहना।
पुरुषहि चाहिय ऊंच हियाऊ। .....
.....ऊंचे काज जीउ पुनि दीजै।

यही है जायसी के प्रेम का आदर्श-प्रेम के लिए सर्वस्व न्योछावर करना और उसे किसी भी कीमत पर प्राप्त करना। यहाँ न तो अन्योक्ति है, न रूपक। यह बस लौकिक प्रेम है।

रतनसेन का प्रेम तब तक एकतरफा है जब तक उसकी मुलाकात पदमावती से नहीं हो जाती। पदमावती से मिलन के पूर्व तक रतनसेन एक रसलोभी भौंरे की तरह है जो पदमावती के रूप-सौंदर्य को सुनकर राजपाट छोड़ देता है। रतनसेन के प्रति पदमावती के हृदय में उसी वक्त प्रेम का उदय होता है जब वह पहली बार रतनसेन को देखती है। पदमावती के दर्शनमात्र से रतनसेन बेहोश हो जाता है। पदमावती उसके हृदय पर यह लिखकर चली गयी कि "जोगी, तूने भिक्षा प्राप्त करने योग्य योग नहीं सीखा। जब फलप्राप्ति का समय आया तब तू सो गया।" लेकिन घर जाकर पदमावती रतनसेन के वियोग में विलाप करने लगी। वह भी प्रेममय हो गयी। वह सोचती है, मैं जानती थी कि यौवन रस-भोग के लिए ही है, लेकिन यौवन बहुत दुखदायी, संताप और वियोग का कारण है। यौवन का भार सह सकना मुश्किल है। यौवन तो घोड़े की तरह है। इसे अपने वश में रखना चाहिए और उसे स्वच्छन्दतापूर्वक हर कहीं नहीं जाने देना चाहिए। यौवन है, इसलिए विरह है, जैसे चंदन में आग। यौवन उगता हुआ चाँद है और विरह राहु। इसलिए जब तक प्रिय मिल नहीं जाता तब तक तो प्रेम की इस पीर को सहना ही पड़ेगा। इस संसार में जन्म पाना ही सब कुछ नहीं है, जन्म लेने के बाद प्रिय को पा लेना ही सब कुछ है -

तुम पुनि जाहु बसंत लेइ, पूजि मनावहु देव।
जीउ पाइ जग जनम है, पीउ पाइ कै सेव।।

तात्पर्य यह है कि रतनसेन और पदमावती एक-दूसरे के प्रेम और विरह में अलग-अलग जल रहे हैं। मैथिलीशरण गुप्त की उर्मिला भी तो यही कहती है -

दोनों ओर प्रेम पलता है
सखि, पतंग जलता है, दीपक भी जलता है।

रतनसेन-पदमावती के प्रथम मिलन में ही प्रेम प्रस्फुटित होता है और निरंतर विकसित होता हुआ उदात्त रूप ग्रहण कर लेता है। इसको हम "लक्ष्मी-समुद्र खंड" में भी देख सकते हैं और "पदमावती-नागमती-सतीखंड" में भी। और ऐसे ही प्रेम को लेकर जायसी ने एक श्रेष्ठ प्रेमकथा लिखी है। प्रेमकथा के लिए ऐसा ही प्रेम आदर्श हो सकता है। तभी तो विजयदेव नारायण साही ने लिखा है कि "पदमावती जिन्दगी का दर्शन नहीं, जिन्दगी है। वह जायसी का तसव्वुफ नहीं, जायसी की कविता है।"

वास्तव में कविता में दर्शन हो सकता है, किंतु कविता दर्शन नहीं होती। जायसी ने ऐसी ही कविता रची है जिसमें दर्शन तो है किन्तु वह दर्शनमात्र नहीं है। अर्थात् **पदमावत** में किसी दार्शनिक आधार को नहीं ग्रहण किया गया है, जायसी ने ख़ुद अपना एक अलग दर्शन बनाया है - प्रेम का दर्शन। और यह दर्शन परंपरा से अलग नहीं है।

रतनसेन का ऐकान्तिक प्रेम जायसी का प्रियनहीं है। वे उसके प्रेम को विस्तार देना चाहते हैं। इसीलिए उन्होंने रतनसेन को नागमती की याद दिलाकर उसे पुन: चित्तौड़ की ओर उन्मुख किया है। यदि जायसी का उद्देश्य **पदमावत** को सूफी ग्रंथ बनाना होता तो वे ऐसा हरगिज़ नहीं करते। जायसी उस दाम्पत्य प्रेम में ही प्रेम की पूर्णता देखते हैं जो नागमती में ही संभव है। इसीलिए जायसी ने पदमावती को पूरी कथा में प्रेमिका ही बने रहने देना उपयुक्त समझा है। कविता के लिए प्रेम चाहिए जो पदमावती में है और प्रेम की पूर्णता दाम्पत्य में होती है, जो नागमती में है। रतनसेन पदमावती के साथ चित्तौड़ वापस आता है।

चित्तौड़ से सिंघलदीप की यात्रा पदमावती को प्राप्त करने के सारे उपक्रमों के बीच एक लम्बा समय बीत जाता है। नागमती को अपने पति की याद आती रहती है। वह उसके विरह में तड़पती रहती है। जायसी नागमती को नहीं भूलते। वे नागमती की विरहावस्था को स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत करते हैं। नागमती वियोग वर्णन खंड मे नागमती की कारुणिक दशा का चित्रण करते हुए जायसी ने एक स्त्री की जो छवि प्रस्तुत की है वह एक भारतीय स्त्री की छवि है। वह ''घरनारी'' है। और यह घरनारी मतिहीन है -

तुम्ह तिरिआ मतिहीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै घरनारी।

स्त्री के प्रति पुरुष की यह मानसिकता पुरानी है। यह विशुद्ध भारतीय धारणा है। जायसी ने भारतीय पुरुष की इसी मानसिकता को उजागर किया है। रतनसेन नागमती को डाँट देता है। वह सोचता है कि वह पुरुष मूर्ख है जो घरनारी की राय से चलता है।

पदमावत के उपसंहार में, जिसे अनेक विद्वानों ने प्रक्षिप्त प्रमाणित कर दिया है, नागमती के प्रति यह कथन कि ''नागमती दुनिया का धंधा'' यानी माया है, ठीक नहीं है। नागमती एक सम्पूर्ण स्त्री है जिसमें सभी मानवीय गुण हैं। वह अपने पति से डूबकर प्यार करती है, उसके विछोह में तड़पती है, पति को उससे दूर करने वाले सुआ को कोसती है, क्योंकि वह उसके पति को ही नहीं ले गया, बल्कि उसकी जान लेकर चला गया -

सुआ काल होइ लेइगा पीऊ। पिउ नहिं जात जात वर जीऊ।।

नागमती आशा और निराशा में डूबती-उतराती रहती है। वह अपने पति के दो मीठे बोल सुनने के लिए बेचैन है। असीम दुख में भी वह अपने को समझाती है कि यह विरह क्षणिक है। रसलोभी भौंरा अगर कमल के फूल के पास चला गया है तो क्या हुआ। उसे जब मालती पुष्प की याद आयेगी तो वह वापस लौट आएगा। जैसे कुछ दिनों तक सूखा रहने के बाद सरोवर पुन: जल से भर जाते हैं वैसे ही उसके विरही जीवन में सुख का संचार होगा लेकिन नागमती का दुख कम नहीं होता, दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। वह हारकर भौंरे और कौवे से संदेश भेजती है कि जाकर मेरे पिउ से कह दो कि वह नागमती तुम्हारे वियोग की आग में जलकर मर गयी है। उसी के धुएँ से हमारा रंग काला हो गया है। शरीर में एक बूँद भी खून नहीं बचा है। रत्ती-रत्ती रिसकर वह आँखों से बह गया है। वह ख़ून के आँसू रोती है। उसके आँसू जमीन पर गिरते हैं और धारा बनकर बहने लगते हैं मानो बीरबहूटियाँ रेंग रही हों।

रतनसेन को नहीं आना था, नहीं आया। नागमती उस विरह की आग को सहती रही जिसे गिरि, समुद्र, शशि, रवि और मेघ तक नहीं सह पाते। नागमती सती है - पतिव्रता है - रतनसेन की ब्याहता है। आखिर वह हारकर मान लेती है कि उसका पिउ नहीं आएगा, क्योंकि वह जिस देश में गया है वहाँ पावस, हेमंत, वसंत और कोकिल, पपीहा कुछ भी नहीं हैं जिनको यादकर वह वापस आये।

नागमती वियोग वर्णन में जायसी के कवि हृदय की सारी तरलता, करुणा और संवेदना मोम की तरह पिघल गयी है। जायसी ने जिस तन्मयता के साथ नागमती के वियोग का चित्रण किया है उतनी तन्मयता से पदमावती का नहीं। इसीलिए सम्पूर्ण **पदमावत** में नागमती वियोग खंड कवित्व की दृष्टि से

सर्वाधिक सशक्त और मार्मिक है। सीता के वियोग वर्णन में तुलसीदास को भी इतनी सफलता नहीं मिली है जितनी जायसी को नागमती के वियोग वर्णन में।

नागमती वियोग वर्णन में जायसी ने बारहमासा का प्रयोग किया है। यह बिल्कुल लोकगीतों की तर्ज पर है। भारतीय लोकगीतों में बारहमासा की परम्परा बहुत पुरानी है। लोकगीतों में बारहमासे की शुरुआत प्राय: आषाढ़ से की जाती हैं। जायसी ने भी उसी परंपरा का अनुसरण किया है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि **नागमती का विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। नागमती उपवनों के पेड़ों के नीचे रात भर रोती फिरती है। इस दशा में पशु, पक्षी, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती है। वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगते हैं और यह जान पड़ने लगता है कि इन्हें दुख सुनाने से जी हल्का होगा। .... जायसी ने जिस प्रकार मनुष्य के हृदय में पशु-पक्षियों से सहानुभूति प्राप्त करने की संभावना भी है उसी प्रकार पक्षियों के हृदय में सहानुभूति के संचार की भी।**

वास्तव में शुक्ल जी ने जिस सहृदयता से **पदमावत** के इस खंड की व्याख्या की है, वह अद्वितीय है। शुक्ल जी की रसग्राही दृष्टि ने नागमती के विरह की व्याख्या करते हुए जायसी के कवित्व को ही सराहा है।

जायसी ने प्रेम को मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रखा है। वे प्रेम का विस्तार करते हैं। उनकी नज़र में सारा अग-जग प्रेममय है। पदमावती यदि सुए के उड़ जाने पर दुखी होती है तो दुख के क्षणों में नागमती अपनी व्यथा कम करने के लिए पशु-पक्षियों से बातें करती है। प्रेम को व्यापकता प्रदान करने के लिए जायसी ने रतनसेन को राजा से जोगी बना दिया है और पटरानी नागमती को सामान्य स्त्री के रूप में चित्रित किया है जो इस चिन्ता में डूबी हुई है कि -

पुष्प नखत सिर ऊपर आवा। हौं विनु नाह मंदिर को छावा।।

कबीर स्व-भाव के विलोप को ही प्रेम मानते हैं, जायसी की भी यही मान्यता है-

करब पिरीत कठिन है राजा

वे एक कदम और आगे बढ़कर कहते हैं-

जेहि तन प्रेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत नैन नहिं आँसू।।

इसीलिए जायसी की नज़र में सभी लोग इस प्रेम पंथ पर चलने योग्य नहीं है। प्रेमपंथ अत्यंत विकट है, जहाँ दुख ही दुख है -

एहि रे पंथ सो पहुँचे, सहै जो दुख वियोग।

दरअसल जायसी का यही "पंथ" है, महदवी या चिश्तिया नहीं जिसको लेकर जायसी को तसव्वुफ के चौखटे में फिट करने की कोशिशें की जाती रही हैं और **पदमावत** को रूपक, अन्योक्ति और समासोक्ति कह कर उसके कद को छोटा करने की कोशिश की गयी है। जायसी की पदमावती में ईश्वरीय सत्ता का दर्शन करने वाले डॉ0 श्याममनोहर पांडेय ने रतनसेन के वियोग को ब्रह्म के लिए तड़पते हुए जीवात्मा के वियोग में तब्दील कर दिया है-

रकत के बूँद कया जत अहहीं। पदमावति पदुमावति कहहीं।।

डॉ. पांडेय ही नहीं, **पदमावत** की सूफीमत के आधार पर व्याख्या करने वाले सभी विद्वानों ने इस या इस जैसी पंक्तियों की व्याख्या की है। इस पंक्ति के सामान्य अर्थ को पता नहीं क्यों उन्होंने इतना कठिन बना दिया है। जायसी साफ-साफ कहना चाहते हैं कि शरीर में जितनी भी खून की बूँदे हैं सब एक स्वर से पदमावती -पदमावती कह रही हैं, कुछ उसी तरह जैसे कोई किसी को रोम से रोम चाहता है या रोम रोम से खुशी फूटती है।

7.5 सारांश

इस इकाई में आपने सूफ़ी मत, जायसी और उनके **पदमावत** का अध्ययन किया।

सूफ़ी मत एक दार्शनिक अवधारणा है, जो फ़ारसी काव्य से होती हुई हिन्दी काव्य तक आयी है। मलिक मुहम्मद जायसी की चर्चा सूफ़ी दर्शन की इसी प्रचलित धारणा के आधार पर की जाती है और उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ सूफ़ी कवि कहा जाता है। सूफ़ी मत का आधार इश्क़ अर्थात् प्रेम है।

सूफ़ी शब्द की व्युत्पत्ति और भारत के सूफ़ी संप्रदायों के संदर्भ में आपने देखा कि जायसी का संबध मेहदवी संप्रदाय से जोड़ा जाता है और उनका गुरू शेख बुरहान को बताया जाता है। जायसी ने अनेक गुरूओं से दीक्षा ली थी। आपने सूफ़ी मत पर अनेक दर्शनों के प्रभाव का भी अध्ययन किया है। लेकिन जायसी के **"पदमावत"** में कुछ थोड़े से स्थल हैं, जो सूफ़ी सिद्धान्तों के अनुकूल हैं, बाकी सम्पूर्ण पदमावत लौकिक प्रेम काव्य है जिसमें प्रेम और युद्ध को समान महत्व दिया गया है। दरअसल जायसी के दो व्यक्तित्व हैं - एक, कुरान और हज़रत मोहम्मद में पूरी आस्था रखने वाला और दूसरा, कवि - प्रेम और विरह का कवि। यह व्यक्तित्व न मुसलमान है और न ही सूफ़ी। जायसी ने किसी मत-मतान्तर में पड़े बग़ैर प्रेमकथा लिखी है जिसका उद्देश्य है यश - प्राप्ति। इसीलिए उन्होंने अपनी कथा को प्रेमकथा कहा है।

पदमावत के विवेचन के क्रम में आपने देखा कि यह एक लौकिक प्रेमकाव्य है। उसमें सूफ़ी तत्व हैं, किन्तु वे कथा के प्रधान अंग नहीं हैं। जायसी ने इतिहास और लोककथा का अद्भुत समन्वय किया है। उसमें न तो एकेश्वरवाद है और न ही अद्वैतवाद। अतः उसमें रूपकत्व की तलाश अनुचित है। जायसी की मुख्य चिंता है प्रेम के लौकिक रूप को व्यापक और कालातीत बनाना। वे प्रेम का विस्तार करते हैं। उनकी नज़र में सारा अग-जग प्रेममय है।

पदमावत में सूफ़ी मत के अलावा भारतीय वेदान्त और हठयोग आदि अनायास ही आ गये हैं। जायसी का उद्देश्य किसी दर्शन या सिद्धान्त का प्रतिपादन करना नहीं था।

सारांश यह है कि जायसी प्रेमपंथ के अनुयायी हैं। तुलसी को अगर सारा संसार सीयराममय प्रतीत होता है तो जायसी को प्रेममय। इसीलिए उन्होंने प्रेम को इतनी व्यापकता और सामाजिकता प्रदान की है। जायसी के प्रेम की सामाजिकता को पदमावती के शिवमंदिर गमन के प्रसंग मे देखा जा सकता है जहाँ हर वर्ण और जाति की स्त्रियाँ मौजूद हैं। मनुष्य ही नहीं, जायसी ने मनुष्य के सुख-दुख मे पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों तक को सहभागी बना लिया है। जायसी ने प्रेम की तीव्रता सिर्फ स्त्रियों में ही नहीं दिखलाई है। नागमती और पदमावती में प्रेम की तीव्रता है तो रतनसेन में भी यह कम नहीं है। जायसी ने **पदमावत** में दोहरे प्रेम को बहुत अच्छी तरह निबाहा है।

जायसी के लिए प्रेम की पूर्णता दुख और वियोग है अर्थात् दुख में भी सुख निहित है। प्रेम के मार्ग में दुख में सुख का दर्शन जायसी का मौलिक दर्शन नहीं है, फिर भी, जायसी ने उसे जीवन्तता प्रदान की है। प्रेम में निराशा को वे फिजूल मानते हैं। सच्चा प्रेम है तो मिलन होगा ही चाहे मृत्यु के बाद ही क्यों न हो। जैसे आम और मछली -

बसै मीन जल धरती, अम्बा बसै अकास।
जौं पिरीत पै दुवौ नँह, अंत होहि एक पास।।

वस्तुतः **पदमावत** लौकिक प्रेम काव्य है जिसमें सूफीमत, भारतीय वेदान्त और अद्वैत दर्शन, हठयोग आदि अनायास ही आ गये हैं। जायसी का यह उद्देश्य नहीं प्रतीत होता! वे प्रेमपंथ के सच्चे बटोही हैं। इसीलिए **पदमावत** को उन्होंने उसी तरह समझने का आग्रह किया है जिस रूप में वह लोक में प्रचलित है -

प्रेमकथा यहि भाँति बिचारहु। बूझि लेहु जौ बूझेहु पारेहु।।

7.6 शब्दावली

अनलहक - "मैं परम सत्य हूँ" (महान सूफ़ी साधक मंसूर हल्लाज ने अनलहक अर्थात् "मैं ही (दिव्य) सत्य हूँ" का उद्घोष किया था)

आशिक - सूफ़ी साधक स्वयं को प्रेमी (आशिक) मानता है, परमात्मा का।

इश्क मजाजी - लौकिक प्रेम

इश्क हक़ीकी - आध्यात्मिक प्रेम

जबरूत - साधना की तीसरी मंजिल की अवस्था है। अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति की अवस्था।

तरीक़त - साधना-मार्ग की दूसरी मंजिल है। इसमें साधक पवित्रता का सहारा लेता है। सांसारिक ऊँच-नीच से ऊपर उठ जाता है और उसमें देवदूतों के गुण आ जाते हैं।

तसव्वुफ - सूफ़ी मत, इस्लामी रहस्यवाद

नासूत - सूफ़ी साधना मार्ग की पहली मंजिल की प्रथम अवस्था है।

मलकूत - तरीक़त की मंजिल में साधक की जो अवस्था होती है, उसे सूफी "मलकूत" कहते हैं।

मसनवी - फारसी का एक छंद है। इसका उपयोग प्रायः वर्णनात्मक काव्यों के लिए किया जाता था।

मारिफ़त - सूफी साधना-मार्ग की यह तीसरी मंजिल है। इस मंजिल में (ईश्वरीय ज्ञान) साधक (जीवात्मा) के परमात्मा से मिलन के रास्ते की सारी रूकावटें दूर हो जाती हैं। वह राग-विराग से मुक्त हो जाता है और उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है।

माशूक - सूफ़ी परमसत्ता को प्रायः प्रियतमा (माशूक) के रूप में याद करते हैं।

लाहूत - अंतिम या चौथी मंजिल में साधक की जो अवस्था होती है, उसे "लाहूत" की अवस्था कहा गया है।

शरीयत - सूफ़ी मार्ग की चार मंजिलों में पहली मंजिल है। भारतीय सूफ़ी, सूफ़ी - मार्ग की चार मंजिलें मानते हैं और उन मंजिलों की चार अवस्थाएँ स्वीकार करते हैं। "शरीयत" में साधक धर्मग्रंथ में बताए नियमों और निषेधों को मानता है। इस मंज़िल में साधक प्रकृत अवस्था में होता है।

हक़ीक़त - चौथी या अंतिम मंजिल है। हक़ीक का अर्थ परम सत्य है।

7.7 अभ्यास/प्रश्न

1. सूफ़ी मत क्या है ? यह इस्लाम से किस तरह भिन्न है?
2. सूफ़ी मत के कितने संप्रदाय हैं? जायसी का संबंध किस संप्रदाय से है? क्या पदमावत सूफ़ीमत को प्रतिपादित करने वाला काव्य ग्रंथ है?
3. सूफ़ी साधना का मूल आधार क्या है? इश्क मजाजी और इश्क़ हक़ीक़ी से आप क्या समझते हैं?
4. कवि के रूप में जायसी का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 8 पदमावत में लोक परंपरा और लोक जीवन

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 भारतीय काव्य परंपरा और फारसी काव्य परंपरा
8.3 हिंदी प्रेमाख्यान
8.4 पदमावत में प्रेम कथा
8.5 पदमावत की प्रबंधात्मकता
8.6 पदमावत में लोकतत्व
8.7 जायसी की भाषा
8.8 सारांश
8.9 अभ्यास/प्रश्न

8.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- भारतीय काव्य परंपरा और फारसी काव्य परंपरा से परिचित हो सकेंगे,
- लोकगाथा के रूप में **पदमावत** का अध्ययन करेंगे और साथ ही इसकी प्रबंधात्मकता के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे,
- **पदमावत** में चित्रित लोकजीवन से परिचित हो सकेंगे, और
- लोककवि के रूप में जायसी और उनकी भाषा का अध्ययन कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने जायसी के बारे में बहुत कुछ आवश्यक जानकारी प्राप्त की। मलिक मुहम्मद जायसी के बारे में जब कि यह स्पष्ट हो चुका है कि वे सूफी कवि नहीं, बल्कि सिर्फ कवि हैं और उनका **पदमावत** लौकिक प्रेम काव्य है, अब यह जान लेना आवश्यक है कि जायसी ने **पदमावत** में कितना तत्व भारतीय काव्य परंपरा से ग्रहण किया है और कितना फारसी काव्य परंपरा का। इन दोनों के समन्वय से **पदमावत** का कौन सा रूप सामने आता है। क्या जायसी ने पहली बार भारतीय और फारसी काव्य परंपराओं का समन्वय किया है। आप देखेंगे कि जायसी से पहले भी इन दोनों काव्य-परंपराओं के समन्वय का प्रयास किया जा चुका है। जिन कवियों ने इन दोनों काव्य परंपराओं का समन्वय किया उनमें अमीर खुसरो, असाइत और मुल्ला दाउद प्रमुख हैं।

जायसी ने एक प्रचलित लोककथा और ऐतिहासिक कथा के ताने-बाने से **पदमावत** का कथापट बुना है। इसमें इतिहास कम है, लोक कथा ज्यादा। लोकगाथा के आधार पर रचे गए इस प्रबंध काव्य में लोक जीवन कितना है, इसकी जानकारी आवश्यक है। लोक गाथा के रूप में **पदमावत** की जाँच-पड़ताल ज़रूरी है, क्योंकि लोक गाथा के अनेक तत्व हैं, इसीलिए **पदमावत** एक साहित्यिक कृति होते हुए भी लोककाव्य की विशेषताओं से अलग नहीं हो पाया है। एक प्रेमाख्यान के रूप में **पदमावत** की सफलता का यही रहस्य है।

लोकगाथा के आधार पर **पदमावत** की विवेचना करते हुए जायसी के लोक कवि व्यक्तित्व का भी विश्लेषण करने की कोशिश की जाएगी। इसी सिलसिले में **पदमावत** की भाषा पर भी विचार किया जाएगा। एक साहित्यिक कृति के लिए अवधी का प्रयोग किस सीमा तक ठीक है, इसको जानना अति आवश्यक है।

जायसी कृत **पदमावत** एक श्रेष्ठ काव्य कृति है, इसलिए इस काव्य कृति में भारतीय और फारसी काव्य परंपरा के साथ उसके लोकथात्मक रूप का समग्र विवेचन इस इकाई का मुख्य उद्देश्य है।

8.2 भारतीय काव्य परंपरा और फारसी काव्य परंपरा

प्राय: सभी देशों में प्रेम और शृंगार को आधार बना कर जितनी कविताएं लिखी गई हैं उतनी किसी दूसरे विषय पर नहीं। इसका कारण यह है कि प्रेम एक शाश्वत तत्व है जिसके आधार पर स्वस्थ सामाजिकता का निर्माण होता है। मनुष्य ही नहीं, संपूर्ण सृष्टि के अंदर एक राग व्याप्त है जिससे सृष्टि हमेशा सुंदर और सजीव बनी रहती है। इसीलिए प्रेम को जीवन कहा गया है और प्रेम से ही सारे जीवन मूल्य विकसित हुए हैं। साहित्य इसी जीवन मूल्य अर्थात् प्रेम को बचाए रखने की कोशिश करता है।

भारतीय कविता में प्रेम को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। भौतिक जीवन ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक क्षेत्र में भी प्रेम को विशेष स्थान दिया गया है। भक्ति के क्षेत्र में मधुरा भक्ति इसका सबसे सुंदर उदाहरण है। सूफी कवियों की साधना का आधार ही प्रेम या रति है। उन्होंने मजाजी प्रेम को हकीकी प्रेम में बदल दिया। किंतु हिंदी साहित्य में प्रेम के इस नए रूप से पहले जिस विशुद्ध लौकिक प्रेम की प्रतिष्ठा की गई वह अत्यंत उदात्त है। चाहे दुष्यंत-शकुंतला का प्रेम हो चाहे नल-दमयन्ती का, उषा-अनिरुद्ध का प्रेम हो चाहे माधवानल-कामकंदला का - सभी में प्रेम का सरस, किंतु प्रांजल रूप देखने को मिलता है। संस्कृत में कालिदास से लेकर प्राकृत के पादलिप्त सूरी और अपभ्रंश के धनपाल तथा अद्दहमाण (अब्दुर्रहमान) तक अनेक कवियों ने विशुद्ध प्रेमकथाएं लिखीं और प्रेम को अमरता प्रदान की। यह अलग बात है कि प्राकृत की प्रेम कथाएं जैनियों द्वारा धर्म प्रचार के लिए लिखी गईं। ये प्रेमाख्यान की अपेक्षा चरित काव्य अधिक हैं। लेकिन यहाँ यह बताना जरूरी है कि हिंदी के सूफी कवियों ने अपने पूर्व के इन्हीं प्रेमपरक काव्यों के आधार पर अपने प्रेमाख्यानक ग्रंथों की रचना की। अपवाद को छोड़ दिया जाए तो सूफी और असूफी प्रेमाख्यान इन्हीं प्रेम कथाओं को लेकर या कुछ भारतीय लोककथाओं को लेकर लिखे गए। सूफी प्रेमाख्यान से पहले के कुछ प्रसिद्ध प्रेमपरक काव्य इस प्रकार हैं - अभिज्ञान शाकुंतलम् (कालिदास), नैषधीय चरितम् (श्रीहर्ष), माधवानल कामकंदला चरित्र (कुशलाभ), तरंगवई (पादलिप्त सूरी), लीलावई (कोऊहल), मलय सुंदरी (अज्ञात), भविसयत्तकहा (धनपाल), णायकुमार चरिउ (पुष्प दंत), सुदंसण चरिउ (नयनंदी), करकंडु चरिउ (मुनि कनकामर), उपमसिरी चरिउ (धाहिल), संदेशरासक (अद्दहमाण), नेमिनाथ चउपई (विनयचंद्र सूरि) आदि।

सूफी मत के उद्भव और विकसित होकर एक पुष्ट सम्प्रदाय का रूप ले लेने के बाद उसमें अनेक मसनवियां लिखी गईं। इन मसनवियों को प्रेमाख्यान कहा जाता है। ये मसनवियाँ अरब-फारस की प्रसिद्ध लोककथाओं पर आधारित थीं। इन्हीं कथाओं में से कुछ कथाओं में निज़ामी ने सूफी दर्शन को समाहित किया। अमीर खुसरो पर निज़ामी का बहुत प्रभाव था। उनसे प्रभावित होकर खुसरो ने पाँच मसनवियाँ लिखीं। इसी तरह फारसी के सूफी कवि जामी ने निज़ामी और खुसरो से प्रभावित होकर पाँच मसनवियों की रचना की। इस तरह यह साफ पता चलता है कि हिंदी के सूफी प्रेमाख्यान फारसी मसनवियों से प्रेरित होकर लिखे गए।

फारसी की सभी मसनवियाँ वहाँ प्रचलित प्रेम कथाओं के आधार पर लिखी गईं और उनके द्वारा सूफी मत का प्रतिपादन किया गया। फारसी के सभी सूफी कवियों ने विशुद्ध प्रेम पर बल देते हुए स्त्री-पुरुष के प्रेम को ईश्वरीय प्रेम की तरह पवित्र माना। मौ. रूम ने लौकिक प्रेम को नश्वर मानते हुए अलौकिक प्रेम की बात की। इस तरह उन्होंने प्रेम को अमरत्व प्रदान किया। इसी तरह फारसी के प्राय: सभी सूफी कवियों ने प्रेम की अमरता, जीवन की नश्वरता, त्याग, आत्मसमपर्ण आदि पर जोर दिया। प्रेम साधना में वासना को निषिद्ध माना गया। अर्थात् उनका प्रेम अशरीरी था।

फारसी के सूफी प्रेमाख्यानों में नायक के प्रेम में अधिक तड़प और वेग दिखाई पड़ता है। नायिका का विवाह प्रेमी से न होकर अन्य व्यक्ति से होता है। प्रेमी का जीवन अत्यन्त कष्टप्रद और आदर्शवादी होता है। फारसी के सूफी प्रेमाख्याओं में संभोग का चित्रण नहीं किया गया है, लेकिन कहीं-कहीं उनमें भी मांसल प्रेम दिखाई पड़ता है।

8.3 हिंदी प्रेमाख्यान

अभी तक आपने फारसी के सूफी काव्य की सामान्य रूपरेखा के बारे में जानकारी प्राप्त की। अब आपको हिंदी के सूफी प्रेमाख्याओं के बारे में जान लेना आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि अमीर खुसरो पहले भारतीय कवि हैं जिन्होंने निज़ामी से प्रेरणा ग्रहण कर प्रेमाख्यान लिखे और सूफी मत का प्रतिपादन किया। अमीर खुसरो के 50 वर्ष बाद हिंदी में सूफी काव्य की रचना प्रारंभ हुई। अब तक प्राप्त जानकारी के अनुसार असाइत कृत **हंसावली** (1370ई.) ही हिंदी का पहला सूफी काव्य है। इसके बाद मुल्ला दाउद ने **चन्दायन** (1379) नामक सूफी काव्य की रचना की। दामोदर कवि कृत लखमसेन **पद्मावती** कथा (1459ई.), कुतुबन कृत **मृगावती** (1503 ई.), गणपति कृत **माधवानल कामकन्दला** (1527ई.), जायसी कृत **पदमावत** (1540ई.), मंझन कृत **मधुमालती** (1545ई.), उसमान कृत **चित्रावली** (1613ई.) आदि हिंदी के प्रमुख प्रेमाख्यानक काव्य हैं। हिंदी प्रदेश के आलावा दक्षिण भारत में भी अनेक प्रेमाख्यानक काव्य लिखे गए जिनमें मसनवी **कदमराव पदमराव** (14 ई.), मुल्ला वजही कृत **कुतुब मुश्तरी** (1610ई.), नुसरती कृत **गुलशने इश्क़** (1658ई.), इब्न निशाती कृत **फूलवन** (1665ई.) आदि प्रमुख हैं।

भारतीय काव्य की प्राय: सभी आरंभिक प्रेम कथाएं वैदिक और पौराणिक प्रेम कथाओं के आधार पर लिखी गई हैं। संस्कृत साहित्य के बाद पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की प्रेमकथाओं का आधार प्राय: ऐतिहासिक और काल्पनिक है। सूफियों से पहले जैनियों ने भारत की प्रचलित प्रेमकथाओं के आधार पर चरित काव्य लिखे और उनके द्वारा जैन धर्म का प्रचार किया। इसी तरह सूफी कवियों ने भी लोक प्रचलित प्रेमकथाओं या ऐतिहासिक प्रेमकथाओं के आधार पर सूफी मत का प्रतिपादन किया। इस तरह संस्कृत से लेकर पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की प्रेमकथाओं में आदर्शवादी प्रेम का चित्रण किया गया है तथा प्रेम को उदात्त बनाने की कोशिश की गई है। हिंदी के असूफी प्रेमाख्यानों में इसी भारतीय परंपरा का अनुकरण किया गया है। तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य में नायिकाओं को प्राय: कोमल, संवेदनशील, सहिष्णु और पतिव्रता के रूप में चित्रित किया गया है, लेकिन फारसी की प्रेमकथाओं की नायिकाओं की अपेक्षा नायकों को अधिक प्रेमी, सहिष्णु, संवेदनशील और एकनिष्ठ चित्रित किया गया है। लैला-मजनूं मे मजनूं का एकनिष्ठ प्रेम लैला के प्रति है और शीरीं-फरहाद में फरहाद का एकनिष्ठ प्रेम शीरीं के प्रति है। वास्तव में फारसी के सूफी प्रेमाख्याओं के नायकों के लिए उनकी प्रेमिकाएं उनकी प्रेरणा हैं, साधन और साध्य हैं।

भारतीय सूफी प्रेमाख्यानों में शृंगार के दोनों पक्षों -संयोग और वियोग का चित्रण किया गया है, किंतु फारसी के सूफी प्रेमाख्यानों में केवल वियोग का चित्रण किया गया है।

तात्पर्य यह है कि भारतीय और फारसी काव्य में प्रचुर मात्रा में प्रेमाख्यान लिखे गए, किंतु दोनों में अंतर है। हिंदी के सूफी कवियों ने फारसी सूफी काव्य के कुछ आदर्शों को जरूर अपनाया, किंतु हिंदी के प्राय: सभी सूफी कवियों ने कथावस्तु का चयन भारतीय प्रेम कथाओं से ही किया। सामान्यतया देखा जाए तो फारसी की मसनवी शैली को छोड़कर हिंदी के सूफी प्रेमाख्यान विशुद्ध भारतीय हैं। यहाँ तक कि सूफी दर्शन की 'फना' की अवधारणा ही भारतीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'फन' बौद्धों के निर्वाण की प्रतिध्वनि थी। इसीलिए शुक्ल जी ने सूफी मत की भक्ति और भारतीय नवधा भक्ति को समान माना है। उस पर भारतीय वेदान्त का भी प्रभाव पड़ा। मंसूर हल्लाज का अनलहक़ भारतीय वेदान्त का 'अहं ब्रह्मास्मि' ही है।

8.4 पदमावत में प्रेमकथा

पिछली इकाई में जायसी के कवि व्यक्तित्व की चर्चा के दौरान पदमावत के लोक कथात्मक तत्वों की ओर संकेत किया जा चुका है। पदमावत का नागमती वियोग खंड तो पूरी तरह लोककाव्य बारहमासा की तर्ज पर रचा गया है। आपके लिए यह जान लेना जरुरी है कि प्रबंध काव्य में बारहमासा का प्रयोग पूरी तरह भारतीय है। फारसी के सूफी प्रेमाख्यानों में बारहमासे का प्रयोग नहीं दिखाई देता।

भारत में लोकगाथाओं का अभाव तो नहीं है, किंतु जिस तरह अरब-फारस में लैला-मजनूं, शीरीं-फरहाद और यूसुफ-जुलेखा जैसी कथाएं दन्तकथाएं बन गईं उस रूप में वेदों और पुराणों में वर्णित प्रेम कथाएं दन्तकथा नहीं बन सकीं। लोक में प्रचलित न होने के कारण उनका विस्तार जन सामान्य तक नहीं हुआ, लेकिन उन कथाओं को आधार बनाकर संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में अनेक काव्य लिखे गए। दुष्यंत-शकुंतला, उषा-अनिरुद्ध, नल-दमयन्ती, माधवानल-कामकंदला ऐसी ही कथाएं हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि भारत में लोकगाथाएं हैं ही नहीं। तोता-मैना और सारंगा-सदाबृज ऐसी लोककथाएं हैं जो भारतीय जनमानस में रची-बसी हैं, लेकिन इनको आधार बनाकर किसी उत्कृष्ट काव्य की रचना नहीं की गई।

कहने को तो भारत में **हितोपदेश, कथा सरित्सागर, सिंहासन बत्तीसी** और **बैताल पच्चीसी** जैसे अनेक ग्रंथ हैं जिनमें रोचक और अतिरंजक कथाओं की भरमार है, किंतु आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार इतिवृत्त होने के कारण इन्हें काव्य नहीं कहा जाता। ये कहानियाँ भी मनोरंजन करती हैं और कुतूहल, जिज्ञासा और उत्कंठा पैदा करती हैं, किंतु इनसे न तो भावोद्रेक होता है और न ही रसोद्रेक। शुक्ल जी ने यह भी लिखा है कि इसके बावजूद कुछ ऐसी भी कहानियाँ जनसाधारण में प्रचलित होती हैं जिनके बीच-बीच में भावोद्रेक करने वाली दशाएं पड़ती चलती हैं। इन्हें हम रसात्मक कहानियाँ कह सकते हैं। इनमें भावुकता का अंश बहुत कुछ होता है और ये अनपढ़ जनता के बीच प्रबंध काव्य का ही काम देती हैं।

यहाँ एक रोचक तथ्य का उल्लेख करना जरूरी लगता है। ऊपर कहा जा चुका है कि **हितोपदेश, सिंहासन बत्तीसी** और **बैताल पच्चीसी** आदि को काव्य की श्रेणी में नहीं रखा जाता, किंतु हिंदी के पहले प्रेमाख्यानक ग्रंथ **हंसावली** की कथा का आधार विक्रम एवं बैताल की कथा ही है। असाइत ने स्वयं इसका उल्लेख हंसावली में किया है-

बावन बीर कथा रस लीउ। ऐह पवाडु असाइत कहिउ।

लेकिन इस प्रेमाख्यान की कथा पूरी तरह लोक गाथात्मक है, क्योंकि इसमें लोकगाथा के सभी प्रमुख तत्व मौजूद हैं जिनसे रसोद्रेक नहीं होता, केवल उत्कंठा और कुतूहल पैदा होता है। लेकिन जायसी से पूर्व ही कल्लोल नामक कवि ने राजस्थानी प्रेमाख्यान के आधार पर **ढोला मारू रा दूहा** (1393ई.) की रचना की थी जो लोकगाथा के तत्वों से परिपूर्ण है। जायसी के **पदमावत** पर इसका प्रभाव पड़ा होगा, ऐसा अनुमान लगाना गलत न होगा।

हिंदी के इन दो प्रेमाख्यानों से पहले अपभ्रंश में **संदेशरासक** जैसे विशुद्ध लोकगात्थात्मक काव्य की रचना हो चुकी थी। इस प्रेमाख्यान में प्रेम का जितना उदात्त रूप दिखायी पड़ता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। हिंदी के कवियों पर अद्दहमाण की इस लौकिक प्रेम पर आधारित रचना का बहुत प्रभाव परिलक्षित होता है। लेकिन **संदेशरासक** में संस्कृत के दूत काव्यों और लोकपरंपरा का सामंजस्य भी दिखाई पड़ता है। इसी तरह **बीसलदेवरासो** में भी दोनों परम्पराओं का समावेश किया गया है।

अभी तक आपने सूफी प्रेमाख्यानों से पूर्व के लोकगाथात्मक काव्यों के बारे में जानकारी प्राप्त की। अब **पदमावत** के लोकगाथात्मक रूप पर विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि इससे न केवल **पदमावत** के स्वरूप निर्धारण में मदद मिलेगी, बल्कि जायसी के कवि व्यक्तित्व को परखने में भी सहायता मिलेगी।

पिछली इकाई में कहा जा चुका है कि **पदमावत** मानवीय प्रेम, करुणा, उत्साह और उसकी-ट्रेजेडी को निरूपित करने वाला काव्य है। अपनी मूल प्रकृति में **पदमावत** को एक त्रासदी मानने वाले आलोचक विजय देव नारायण साही के अनुसार जायसी की चिंता का मुख्य ध्येय मनुष्य है। यह प्रेम और युद्ध की कविता है। इस कथा को इतिहास मानना भूल होगी। वास्तव में **पदमावत** न तो किसी मत को प्रतिपादित करने वाला काव्य है और न ही उसका कवि किसी संप्रदाय का प्रचारक। उसने इतिहास को लोकगाथा से मिलाकर अपनी कल्पना से एक ऐसी कथा का सृजन किया जिसे ऐतिहासिक मान लिया गया। ध्यातव्य है कि जायसी से पूर्व नारायण दास ने **छिताई वार्ता** लिखी थी जिसमें छिताई-रामदेव और अलाउद्दीन आदि ऐतिहासिक पात्रों की ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। **छिताई वार्ता** का अलाउद्दीन छिताई का अपहरण कर लेता है। इसी तरह **पदमावत** का अलाउद्दीन भी पदमावती को प्राप्त करने के लिए

अनेक प्रयास करता है, किंतु अंततः उसे कुछ हासिल नहीं होता। दरअसल जायसी ने अपने प्रेमाख्यान के लिए रतनसेन नामक ऐतिहासिक पात्र को ले लिया और बाकी कथा अपनी कल्पना से जोड़ ली। यह जायसी की कल्पना का ही कमाल है कि उन्होंने एक ऐसी कथा को बुना जिसे लोग इतिहास मानने के लिए विवश हो गए।

अधिकांश आलोचक **पदमावत** को दो भागों में विभाजित करके उसका मूल्यांकन करते हैं- रत्नसेन की सिंहलद्वीप यात्रा से लेकर पद्मिनी के साथ पुनः चित्तौड़ लौटने तक पूर्वार्द्ध और राघवचेतन के निकाले जाने से लेकर पदमावती के सती होने तक उत्तरार्द्ध। रतनसेन का हीरामन तोते से पदमावती के रूप सौंदर्य को सुनकर योगी के वेश में सोलह हजार योगियों के साथ सिंहलद्वीप जाना, पदमावती को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के कष्टों को सहन कर वापसी में समुद्र का कोपभाजन बनकर बिछुड़ना आदि कथाएं परी-कथाओं जैसी हैं। पदमावती की पूर्वार्द्ध की कथा बिल्कुल लोकगाथाओं जैसी है। निस्संदेह यह कथा लोक में प्रचलित रही होगी। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि ऐतिहासिक घटनाएं भी लोकरुचि में रंगकर लोकगाथात्मक हो जाती हैं। उनमें चमत्कार तथा अतिमानवीय घटनाएं जुड़ जाती हैं। स्वयं कबीर इसके शिकार हो चुके हैं। लोक में कबीर और गोरखनाथ को लेकर ऐसी न जाने कितनी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं जो बिल्कुल झूठी हैं। जायसी ने लोकरुचि को पर्याप्त सम्मान दिया है और लोक प्रचलित कथा को रतनसेन की ऐतिहासिक कथा में इस तरह मिला दिया कि उस कथा में लोककथा से गायब हो गई और वह एक कल्पित इतिहास बन गई जिसे बाद में आलोचकों ने वास्तविक इतिहास मानने की भूल कर डाली। वस्तुतः यह मान लेना ठीक होगा कि **पदमावत** लोकगाथा के आधार पर रचा गया जायसी का लौकिक काव्य है जिसमें मनुष्य प्रेम, उत्साह, घृणा और संभावनाओं के साथ संघर्ष करता है, हारता है, जीतता है। किसी को यहाँ मोती मिलता है तो किसी को घोंघा और सेवार (देखिए मानसरोवर खंड) जिसे अपनी अभिलषित वस्तु नहीं मिलती वह एक मुट्ठी धूल उठा कर यह कहने पर मजबूर हो जाता है कि यह दुनिया झूठी है -

छार उठाइ लीन्ह एक मूठी। दीन्ह उड़ाइ, पिरथिमी झूठी।।

हिंदी के सूफी काव्यों में अनेक कथानक रूढ़ियों और प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। ये कथानक रूढ़ियाँ प्रायः एक जैसी हैं। प्रतीकों की योजना सिर्फ मत प्रतिपादन के लिए की गयी है। **पदमावत** में इस तरह का कोई प्रतीक नहीं है जो तसव्वुफ का प्रतिपादन कर सके हाँ, **पदमावत** में कथानक रूढ़ियाँ जरूर हैं। मानवेतर प्राणी के रूप में हीरामन का आदमी की तरह बातें करना, महेश-पार्वती का रत्नसेन की परीक्षा लेना फिर उसे सिद्धि गुटका और रतनसेन को सूली देने के समय महेश-पार्वती का नट-नटिनी का रूप धारण कर वहाँ पहुँचना, जोगियों का सिंघल द्वीप के सैनिकों से युद्ध, हनुमान द्वारा जोगियों की सहायता, शिव का युद्ध में जाना, रतनसेन का पदमावती से तथा सोलह हजार योगियों का पद्मिनी स्त्रियों से विवाह, समुद्र का नायक के रूप में रतनसेन से भिक्षा मांगना, रतनसेन द्वारा तिरस्कृत समुद्र का भीषण तूफान ला देना, रतनसेन-पदमावती का अलग-अलग दिशाओं में बह जाना, समुद्र की कन्या लक्ष्मी द्वारा दोनों को मिलाने का वचन देना और उनके पुनर्मिलन के बाद समुद्र द्वारा रतनसेन को पाँच अनमोल पदार्थ देना आदि घटनाएं लोक गाथाओं जैसी जिज्ञासा और कुतूहल उत्पन्न करने वाली अतिरंजनापूर्ण और अविश्वसनीय हैं। इसमें प्रेमकथाओं के वे सभी तत्व मौजूद हैं जो प्रेमकथा के लिए अनिवार्य होते हैं। इस तरह **पदमावत** का पूर्व भाग पूरी तरह लोक गाथात्मक है, किंतु **पदमावत** लोकगाथा नहीं हैं, एक काव्य है, जिसमें कवि की एक विशेष जीवन-दृष्टि है। यही जीवन-दृष्टि इसे लोक गाथा होने से बचाती है। **पदमावत** के लोक गाथात्मक रूप को समझाने के लिए उसके कुछ महत्वपूर्ण अंशों को देखना जरूरी है। सबसे पहले नागमती वियोग वर्णन को लिया जा सकता है।

नागमती वियोग वर्णन बारहमासे की तर्ज पर लिखा गया है, यह पहले ही कहा जा चुका है। यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि लोककाव्य विधा बारहमासा का साहित्य में सर्वप्रथम प्रयोग अपभ्रंश काव्य **नेमिनाथचउपई** में किया गया। इसके बाद **बीसलदेवरासो** में बारहमासा का प्रयोग किया गया। इससे ज़ाहिर होता है कि सूफी कवियों में पहले ही साहित्य से लोककाव्य विधा का प्रवेश हो चुका था। यह इतना प्रभावशाली था कि जायसी इसे छोड़ नहीं सके और **पदमावत** में उन्होंने उसके द्वारा नागमती का जितना मार्मिक चित्रण किया उतना कोई कवि नहीं कर पाया।

जायसी प्रेम के कवि हैं। उन्होंने इस प्रेम की विशद व्यंजना **पदमावत** में की है। **पदमावत** का यह प्रेम त्रिआयामी है। एक तरफ नागमती है और दूसरी तरफ पदमावती। इन दोनों के केंद्र में रतनसेन है। लेकिन नागमती का चरित्र एक साधारण औरत और पत्नी का चरित्र है तथा पदमावती का चरित्र एक

प्रेमिका का। प्रेमिका होकर और अपने प्रेमी से वियुक्त होकर भी पदमावती में वह तड़प नहीं है जो एक साधारण औरत के रूप में नागमती में विद्यमान है। नागमती का यह चरित्र लोकगाथाओं की गृहस्थ स्त्रियों जैसा है। संभवत: इसीलिए जायसी का कवि नागमती की भावदशा में ज्यादा रमा है और इसीलिए जायसी नागमती के वियोग वर्णन को विशेष रूप से चित्रित करने में सफल हुए हैं।

विरह दशा में प्रेम अपनी संपूर्णता में परिलक्षित होता है। प्रेम है तो वियोग भी होगा। प्रेम में वियोग और रस दोनों है जैसे मोम के छत्ते में शहद और बर्र दोनो रहते हैं -

प्रेमहिं मांह बिरह औ रसा। मैन के घर मधु अंब्रित बसा।

जायसी का प्रेम विशुद्ध भारतीय है। पति से वियुक्त होने पर नागमती पटरानी से एक सामान्य स्त्री में बदल जाती है जिसकी मुख्य चिंताओं में छोटी-छोटी बातें शामिल हैं, जैसे बरसात आ गयी, पति नहीं है। घर की मरम्मत कौन करेगा, उसके पास नए सिर से घर बनाने के सामान भी नहीं हैं -

कोरौं कहाँ ठाढ नव साजा? तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा।

नागमती के वियोग वर्णन के वक्त जायसी की मनोदशा एक लोक-कवि जैसी हो गयी है और नागमती खंड लोककाव्य। नागमती विरह की आग में तपकर अपने सारे गौरव-गर्व को भूल जाती है और अपनी सौत के पास पक्षी से भिजवाए संदेशों में कहती है कि यद्यपि मैं रत्नसेन की ब्याहता हूँ। किंतु मुझे भोग से कोई वास्ता नहीं है, मैं तो उन्हें अपनी आंखों से देखना चाहती हूँ -

पदमावति सौ कहेहु बिहंगम। कंत लोभाइ रही करि संगम।।
तोहि चैन सुख मिलै सरीरां। मो कहँ दिए दुंद दुख पूरा।।
हमहुँ बिआही सँग ओहि पीऊ। आपुहिं पाइ, जानु पर जीऊ।।
मोहिं भोग सौं काज न बारी। सौंह दिस्टि कै चाहनहारी।।

नागमती की यह सहृदयता और त्याग की पूरी अवधारणा लोक साहित्य की है। जायसी ने इसे लोकपरंपरा से ही ग्रहण किया है। वास्तव में नागमती वियोग खंड की पूरी संरचना लोकगाथाओं से प्रेरित है।

पदमावत के नागमती वियोग खंड के अलावा जहाँ जहाँ लोककथात्मक आधार ग्रहण किया गया है उनमें पदमावती सुआ भेंट खंड भी है। एक लंबे समय के बाद हीरामन पदमावती से मिलता है, पदमावती उसे गले से लगा लेती है, किंतु उसकी आंखों से आंसू गिरने लगते हैं-

आगि उठे दुख हिये गँभीरू। नैनहिं आइ चुवा होइ नीरू।।

एक राजकुमारी का एक तोते से इतना प्रेम और उससे मिलने की इतनी खुशी बिलकुल लोककथाओं और दन्तकथाओं जैसी है। इस तरह जायसी ने मानव प्रेम का विस्तार किया है। इसी तरह पदमावती का विश्वनाथ पूजा के लिए ब्राह्मण, अगरवार, बैस, चंदेल, चौहान, सोनार, कलवार, बनियाइन, कयथिन, पटइन और बरइन आदि स्त्रियों के साथ जाना भी लोकपरंपरा से गृहीत है। यह प्रेम की सामाजिकता है। लेकिन लोकपरंपरा की पूरी झलक वहाँ दिखाई पड़ती है जहाँ पदमावती एक सामान्य स्त्री की तरह अपनी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहती है कि-

और सहेली सबै बियाहीं। मो कहँ देव कतहुँ बर नाहीं।।

पदमावती यहाँ एक राजकुमारी नहीं, बल्कि एक सामान्य घर की लड़की हो गयी है जो यह मन्नत मांगती है कि अगर मेरे योग्य वर से मेरी शादी हो जाएगी तो मैं आपकी पूजा करूंगी -

बर सौं जोग मोहि मेरवहु, कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन हींछा पूजै, बेगि चढ़ावहुँ आनि।।

पदमावती का एक राजकुमारी की अपेक्षा एक सामान्य स्त्री के रूप में यहाँ जितना स्वाभाविक चित्रण हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

तात्पर्य यह है कि **पदमावत** की पूरी संरचना लोकगाथात्मक है, इसीलिए इसमें इतनी सजीवता, मार्मिकता और सरसता है।

8.5 पदमावत की प्रबंधात्मकता

पदमावत के लोककथात्मक रूप की जानकारी के बाद इसकी प्रबंधात्मकता पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में जायसी से पहले के हिंदी प्रेमाख्यानों- **मृगावती, मधुमालती, मधुमालती कथा, मुग्धावती, प्रेमावती, चित्रावली** और **इंद्रावत** की रचना को भारतीय चरित काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न मानकर फारसी की मसनवी शैली पर माना है जिसमें कथा सर्गों में विस्तार के हिसाब से विभक्त नहीं होती, बराबर चली चलती है, केवल स्थान स्थान पर घटनाओं या प्रसंगों का उल्लेख शीर्षक के रूप में रहता है। उसमें पहले ईश स्तुति, पैगम्बर की वंदना और उस समय के राजा की प्रशंसा होनी चाहिए। ये बातें **पदमावत, इंद्रावत, मृगावती** इत्यादि सब में पाई जाती हैं। यही नहीं, जायसी की प्रबंध कल्पना पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने **पदमावत** को दो भागों में बाँटा है - इतिवृत्तात्मक और रसात्मक। घटना या सामान्य वर्णन इतिवृत्त कहा जाता है और घटना का मनोदशाओं का भावपूर्ण चित्रण रसात्मक। **पदमावत** में ये दोनों विशेषताएँ दिखायी देती हैं। शुक्ल जी की भी यही मान्यता है कि रसात्मकता के संचार के लिए प्रबंध काव्य का जैसा घटनाचक्र चाहिए **पदमावत** का वैसा ही है।

डॉ. नगेंद्र द्वारा संपादित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में सूफी प्रेमाख्यानों के काव्य रूप के विवेचन के क्रम में इन प्रेमाख्यानों को मसनवी नहीं, कथा कहा गया है। इस विचार के प्रतिपादन में संस्कृत के काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों का उदाहरण देते हुए सूफी कवियों की कुछ पंक्तियाँ भी दी गई हैं, जैसे -

प्रेम कथा एहि भांति बिचारहु। - जायसी
कथा जगत जेती कवि आई। - मंझन
जाकी बुद्धि होइ अधिकाई। आन कथा एक कहै बनई। - उसमान

इसी तरह कुछ ऐसे प्रेमाख्यान का भी उल्लेख किया गया है जिनके नाम में ही कथा शब्द का प्रयोग किया गया है, जैसे - **लखनसेन पदमावती कथा (दामोदर), सत्यवती कथा (ईश्वर दास), कथा रत्नावली, कथा कामलता, कथा कनकावती** (जानकवि) आदि। इस तरह यह सिद्ध किया गया है कि **"काव्य-रूप की दृष्टि से इन्हें परंपरागत कथा-काव्य के अंतर्गत ही लिया जाना उचित होगा।"** (हिंदी साहित्य का इतिहास, सं.डा.नगेन्द्र, पृ. 176)

उपर्युक्त मत से बिल्कुल असहमत नहीं हुआ जा सकता, क्योंकि हिंदी के सूफी कवि अगर अपने प्रेमाख्यान के लिए भारतीय प्रेम कथाओं या लोकगाथाओं से प्रभावित हो सकते हैं या उनके आधार पर काव्य ग्रंथ लिख सकते हैं तो वे उसके काव्य-रूप को भी अपना सकते हैं। चूंकि सूफी प्रेमाख्याओं में सर्गबद्धता नहीं है और उनमें घटनाओं के आधार पर शीर्षक दिए गए हैं, इसलिए इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि उन्होंने कम से कम प्रबंध कल्पना मसनवियों के आधार पर की है। जायसी का **पदमावत** भी मसनवी शैली में ही लिखा गया है।

यद्यपि **पदमावत** की कथा सुगठित है और उसमें प्रवाह भी है, किंतु पूर्वार्द्ध की कथा और उत्तरार्द्ध की कथा के संयोजन में अंतर है। पूर्वार्द्ध की कथा मन्द गति से चलती है और उत्तरार्द्ध की कथा अपेक्षाकृत तीव्रता से। लेकिन जायसी ने इन दोनों का सफल सामंजस्य किया है जिससे कथा में ठहराव नहीं आता।

इसी सिलसिले में विजयदेव नारायण साही के **पदमावत** की प्रबंध कल्पना संबंधी विचारों को जान लेना भी आवश्यक है। साही ने **पदमावत** के पूर्वार्द्ध को यूटोपिया, आलोक या सिंहल लोक कहा है जिसमें अतिप्राकृतिक घटनाएं हैं और उत्तरार्द्ध को इतिहास लोक, जो वस्तुत: इतिहास का वृत्तान्त नहीं, बल्कि इतिहास लोक निर्मित करता है। जायसी ने सत्य के नितान्त विभिन्न स्तरों पर, बिल्कुल भिन्न आयामों में कथा को फैलाने का जिम्मा ले कर बहुत बड़ा जोखिम उठाया है। इस तरह का जोड़ न तो पहले

मसनवियों में बैठाया गया था और न ही रामचरित मानस में। **पदमावत** एक सुगठित और एकतान संरचना का काव्य है।

साही जी के विचार तर्कसंगत हैं। निस्संदेह जायसी ने दो विभिन्न विरोधी प्रकृति की घटनाओं का सफलतापूर्वक सामंजस्य किया है। चूंकि **पदमावत** सूफी दर्शन को प्रतिपादित करने वाला ग्रंथ नहीं है, इसलिए जायसी ने रत्नसेन-पदमावती के विवाह के बाद भी कथा का अंत नहीं किया और उसे और आगे बढ़ाया। कथा को ट्रैजेडी बनाकर मानवीय, सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित करना ही जायसी का उद्देश्य था, इसलिए उन्होंने ग्रंथ के अंत का कहीं ऐसे बिंदु या घटना से नहीं किया है जिससे पदमावत एक आदर्शवादी काव्य बन जाता।

8.6 पदमावत में लोकतत्व

यह जान लेने के बाद कि **पदमावत** की कथा में लोकगाथा और इतिहास का सामंजस्य किया गया है, आपको **पदमावत** में चित्रित लोक जीवन और लोक तत्वों से परिचित होना आवश्यक है। इससे जायसी के लोक संबंधी दृष्टिकोण का पता चलता है।

अब तक आपको यह मालूम हो चुका है कि **पदमावत** की कथा राजन्य वर्ग की कथा है, अर्थात् इस प्रेम कहानी का नायक रतनसेन चित्तौड़गढ़ का राजा है, नागमती उसकी पटरानी है और पद्मावती प्रेमिका। गंधर्वसेन सिंहल द्वीप का राजा पदमावती का पिता है और अलाउद्दीन दिल्ली का बादशाह। ज़ाहिर है कि जब कथा राजन्य वर्ग की है तो परिवेश भी वही होगा, किंतु **पदमावत** में ऐसा नहीं है। एक लोक कवि बहुत देर तक इस परिवेश में रह ही नहीं सकता। उसे जब भी मौका मिलेगा, वह लोक जीवन की ओर भागेगा। अगर उसे ऐसा करने का मौका नहीं मिलता तो वह उसी परिवेश को लोकमय बनाने की कोशिश करता है। जायसी ने भी ऐसा ही किया है। उन्हें जहाँ कहीं भी अवसर मिला है, उन्होंने लोकजीवन की सुंदर छवियाँ प्रस्तुत की हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो जायसी ने विशिष्ट को ही 'सामान्य' बनाने की कोशिश की है। उन्होंने रत्नसेन को राजा से जोगी बना दिया है और लिखा है -

करब पिरीत कठिन है राजा

अर्थात् प्रेम मार्ग अत्यन्त कठिन है। कबीर के शब्दों में प्रेम के लिए सर्वप्रथम अहम् का त्याग करना पड़ता है और घनानंद के अनुसार प्रेम मार्ग अत्यन्त सीधा है, किंतु उस पर कुटिल और सयाने (जिनमें बांकपन है) नहीं चलते। राजा जब तक सत्ताभिमान से रहित नहीं हो जाता तब तक वह प्रेम कर ही नहीं सकता। जायसी अपनी इस उक्ति को चित्रित करने में सफल हुए और उन्होंने रत्नसेन को सत्ताच्युत करने के बाद ही उसके प्रेमपात्र से मिलवाया।

पदमावती की भी यही स्थिति है। पहले वह सुग्गे के उड़ जाने पर दुखी होती है और सखियों से कहती है कि जैसे भी हो उसे खोजो। और बहुत दिन बाद जब वह सुग्गा उससे मिलता है तो उसकी आंखें भर आती हैं और वह उसे गले से लगा लेती है। पदमावती की मुख्य चिंता अपने भावी पति को लेकर है। वह राजकुमारी है, देर-सबेर कोई न कोई राजकुमार मिल ही जाएगा, किंतु वह एक सामान्य स्त्री की तरह शिव मंदिर में मन्नत मांगती है कि अगर मेरे योग्य वर मिल जाएगा और मेरी इच्छा पूरी हो जाएगी तो मैं आपकी पूजा करूंगी। पदमावती के संग उसकी सखियाँ भी गयी हैं जो विभिन्न जातियों की हैं। नागमती वियोग खंड में तो नागमती का पूरा व्यक्तित्व ही एक सामान्य स्त्री का है।

पदमावत में लोककथाओं के तत्व भरे पड़े हैं। अत: इसमें यत्र-तत्र लोक जीवन का सुंदर चित्रण भी किया गया है। सिंहलद्वीप की पनिहारिन के चित्रण में जायसी ने पनघट का जो चित्र खींचा है वह अत्यन्त मनोहारी है। पनघट पर झुंड की झुंड पनिहारिन पानी भरने आ रही हैं। वे सुंदर हैं, पद्मिनियाँ हैं। वे जिसे नजर भर देख लेती हैं उस पर मानो तिरछे नैनों की कटार गिर पड़ती है। इन पनिहारिन के सिर पर सोने के घड़े हैं। इस प्रसंग में अत्युक्ति नहीं है। भारतीय लोकगीतों की सामान्य स्त्री भी सोने की थाली में अपने प्रिय को भोजन परोसती है और फूलों की सेज सजाती है। दरअसल इन सुंदरियों के रूप सौंदर्य के द्वारा जायसी ने पदमावती के अतीव रूप सौंदर्य को दिखाना चाहा है। जिस राजकुमारी की पनिहारिनें इतनी सुंदर हैं वह राजकुमारी कितनी सुंदर होगी-

माथे कनक गागरी आवहिं रूप अनूप।

जेहि के अस पनिहारी सो रानी केहि रूप?

इसी तरह जायसी ने पदमावती के विवाह के समय हल्दी लगाने की रस्म का भी सुंदर चित्रण किया है। हल्दी तो सामान्य लोग लगाते हैं, राजकुमारियों को तो कुंकुम-चंदन आदि के लेप लगाए जाते हैं। और इसके बाद विवाह का जो दृश्य है वह तो पूरी तरह भारतीय स्त्रियों की पूरी तस्वीर प्रस्तुत कर देता है। बारात आ रही है और वे अपनी अपनी अटारियों पर चढ़कर बारात और दूल्हे को देखती हैं। पदमावती भी 'जोगी' को दूल्हे के वेश में देखने के लिए सखियों के संग कोठे पर चढ़ जाती है और पूछती है कि इस बारात में वह जोगी कहाँ है? पदमावती के इस प्रश्न का उत्तर एक सखी चतुराई के साथ देती है -

जस रबि, देखु, उठै परभाता। उठा छत्र तस बीच बराता।
ओहि मांझ भा दूलह सोई। और बरात संग सब कोई।

अर्थात् उस बारात के बीच पहले सूर्य की तरह चमकदार धूप को देखों, फिर उसके बीच दूल्हे को देखो।

पदमावत का मानसरोदक खंड पूरी तरह लोक तत्वों से भरा हुआ है। यह पूरा खंड प्रश्नोत्तरी शैली में है जिसमें मायके की स्वच्छन्दता का वर्णन किया गया है तथा ससुराल में इस स्वच्छन्दता के छिन जाने की आशंका भी प्रकट की गई है। भारतीय लोक मानस का यह परिचित दृश्य है। सामान्य घरों की स्त्रियों को ससुराल में अनेक बंधनों और निषेधों के बीच रहना पड़ता है। इसीलिए जब कोई युवती ससुराल जाने लगती है तो उसकी आंखें बरसने लगती हैं और वह घर-परिवार के लोगों और सखियों के गले लगकर रोती है। मायके के इसी प्रेम का स्वाभाविक चित्रण पदमावती की इस मनोदशा में देखा जा सकता है-

गहबर नैन आए भरि आँसू। छांडब यह सिंघल कैलासू।
छांड़िउ नैहर, चलिउ बिछोई। एहि रे दिवसकहँ हँ हौ तव दोई।
छाड़िउं आपनि सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउं अकेली।
नैहर आइ काह सुख देखा। जनु होइगा सपने कर लेखा।
मिलहु सखी हम तहँवा जाहीं। जहाँ आइ पुनि आउब नाहीं।
हम तुम मिलि एकै संग खेला। अंत बिछोह आनि गिउ मेला।।

बादल को युद्ध में जाना है। उसकी नवविवाहिता वधू उसकी ओर देख रही है और सोच रही है कि इस समय मुझे क्या करना चाहिए। अगर मैं लज्जावश चुप रहती हूँ तो प्रिय चले जाएंगे और कुछ कहती हूँ तो वे मुझे ढीठ समझेंगे-

रहौं लजाइ तो पिउ चलै, कहौं तो कह मोहिं ढीठ।

लेकिन अंतत: उसका असली रूप प्रकट होता है और वह बादल को उसके क्षात्र धर्म की याद दिलाते हुए कहती है कि तुम युद्ध का साहस बांधो और मैं सती का बाना बनाती हूँ। हम दोनों का मिलन जय और पराजय की स्थिति में ही संभव है। अगर तुम रण में पीठ दिखा कर आए तो भी मैं तुम्हें नहीं मिलूँगी।

बादल की स्त्री के इस प्रसंग में राजपूताने का पूरा लोक जीवन सामने आ जाता है।

जायसी ने बनिजारा खंड में सिंहलद्वीप के हाट का जो चित्रण किया है वह अत्यंत स्वाभाविक है। यह पूरी तरह से लोक जीवन से सम्पृक्त है।

पहले कहा जा चुका है कि जायसी ने **पदमावत** में जहाँ भी अवसर मिला है वहाँ लोक जीवन का सजीव चित्रण किया है और जहाँ इसका अवसर नहीं मिला है वहाँ भी लोकतत्वों का प्रयोग किया है। यह पूरी कथा राजन्यवर्ग और सामान्य वर्ग के द्वंद्व के आधार पर आगे बढ़ती है और अंतत: 'सामान्य' की ही जीत होती है। चाहे राजा रत्नसेन हो, चाहे रूपगर्विता नागमती- दोनों को सामान्य होना पड़ता है।

तात्पर्य यह है कि **पदमावत** में लोकजीवन का प्रत्यक्ष चित्रण कम हुआ है, किंतु जितना भी हुआ है वह विशद और स्वाभाविक है। यह स्वाभाविकता ही पदमावत को लोक से संपृक्त कर देती है।

पिछले प्रकरण में आपने **पदमावत** में चित्रित लोकजीवन के बारे में जानकारी प्राप्त की; दरअस्ल **पदमावत** की कथा का आधार लोक प्रचलित कथा और ऐतिहासिक कथा है। इसलिए **पदमावत** में सहज रूप से लोक जीवन; लोकविश्वास आदि आ गए हैं। **पदमावत** की रचना प्रक्रिया को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता है कि लोकजीवन से संबंधित ये प्रसंग ऊपर से थोपे गए हैं या बीच-बीच में जोड़े गए हैं। निस्संदेह इससे यह साबित होता है कि जायसी की लोक जीवन में गहरी पैठ थी।

भारतीय लोक मानस में कथा के कई रूप- किस्सा, कहानी, वृत्तांत-प्रचलित हैं। जायसी ने **पदमावत** में स्पष्ट रूप से लिखा है -

प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु।
बूझि लेउ जौ बूझै पारहु।।

दरअस्ल जायसी का उद्देश्य एक ऐसी प्रेम कथा लिखना था जिससे उच्चतर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सके। जायसी इस सुंदर और मनोहारी सृष्टि की नश्वरता से परिचित थे। इस संसार में एक से बढ़कर एक शक्तिशाली राजा हुए, सुंदरियाँ हुईं, किंतु वे सभी काल के गाल में विलीन हो गए - रह गई तो बस एक कहानी। यह 'कहानी' ही वह जीवन मूल्य है जो अनुकरणीय और अमिट है। जायसी का यह प्रतिपाद्य लोक विश्वास के अनुकूल भी है और शास्त्रानुकूल भी। तात्पर्य यह है कि जायसी को भारतीय लोक जीवन का अच्छा ज्ञान था और वे लोकजीवन से दूर जाना भी नहीं चाहते। इसका सबसे बड़ा प्रमाण राजन्य वर्ग का सामान्यीकरण है। अगर जायसी ऐसा न करते तो **पदमावत** आभिजात्य वर्ग की कथा बन कर रह जाता है और वह शास्त्रीय हो जाता। अपनी कृति को शास्त्रीय होने से बचाने के लिए ही जायसी ने इतिहास पर कम, लोक प्रचलित कथा पर ज्यादा जोर दिया है। यही कारण है कि **पदमावत** की नागमती की सारी चिन्ताएँ एक अभावग्रस्त सामान्य भारतीय स्त्री की चिंताएँ बन गई हैं और पदमावती का दुख एक लाचार औरत का, जिसके प्राण तोते में बसते हैं। तोते के उड़ जाने पर पदमावती रोती है। पदमावती के इस दुख से जायसी ने लोक गीतों की प्रश्नोत्तरी शैली में अत्यन्त सजीव बना दिया है -

उड़ि वह सुअटा कहँ बसा खोजहु सखी सो बासु।
दहुँ है धरति कि सरग गा पवन न पावै तासु।।
जहाँ न राति न देवस है जहाँ न पौन न घानि
तेहि बन होइ सुअटा बसा को रे मिलावै आनि।।

जायसी बहुश्रुत थे। लेकिन उन्होंने सुव्यस्थित रूप से ज्योतिष, शास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि का ज्ञान प्राप्त नहीं किया था। इन विषयों के संबंध में उनका ज्ञान लगभग जनश्रुतियों पर आधारित था। अवध में पदमावती की कथा लोक कथा के रूप में प्रचलित थी और उनसे पहले इस तरह की लोक कथाओं को लेकर असाइत और मुल्ला दाउद प्रेमाख्यान की रचना कर चुके थे, अत: जायसी ने भी लोक प्रचलित कथा को ऐतिहासिक कथा से जोड़ दिया और एक विशुद्ध प्रेमकथा को प्रेम और युद्ध की कथा बना दिया जो एक सफल त्रासदी बन गई। इस तरह जायसी ने एक प्रचलित लोक कथा का परिष्कार तो किया, किंतु उसे शास्त्रीय होने से बचा लिया।

यह सर्वविदित है कि जायसी का संबंध जायस से था। और यह भी भ्रांति जायसी एक मशहूर सूफी संत थे। एक सिद्ध फकीर के रूप में जायसी की ख्याति जायस के सुदूरवर्ती गाँवों तक थी, यह मान लेना ठीक नहीं है, क्योंकि मानव-मूल्यों का प्रवक्ता यह कवि बाह्याडंबरों और चमत्कारों में विश्वास नहीं कर सकता था। दरअस्ल जायसी की ख्याति का आधार उनका 'कबित्त' ही था, जिसमें मार्मिकता है। करुणा है, त्रासदी है जो निस्सार तथा नश्वर जीवन के प्रति सहज अनुराग की भावना जगाता है - भले ही यह अनुराग क्षण भर का ही क्यों न हो। क्षणभर का सच्चा अनुराग ही अमर है। इसीलिए जायसी ने लिखा है कि इसी सहज अनुराग और निर्मल स्वभाव के कारण रूपवंत भी उनके पाँव पड़ते थे और उनका मुँह देखते थे -

एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ।
सब रुपवंत पाँव गहि मुख जोवहिं कइ चाउ।।

स्पष्ट है कि जायसी कवि हैं और उनके जीवन में भी उनकी ख्याति का यही आधार था। जायसी बायीं आंख और बांया कान खो चुके थे, अर्थात् वे कुरूप थे, इसीलिए जो उन्हें देखता था वह हँसता था, किंतु जब वह उनका 'कबित्त' सुनता था तो रो पड़ता था -

मुहमद कबि जो प्रेम का ना तन एकत न माँसु।
जेइं मुख देखा तेइं हँसा सुना तौ आये आँसु॥

वास्तव में जायसी अपनी कविताई के कारण ख्याति प्राप्त कर चुके थे और उनकी ख्याति का आधार उनका लोक जीवन से गहरा लगाव ही था। डॉ. श्रीनिवास बत्रा ने ठीक ही लिखा है कि **जायसी भारत की ग्राम्य जनता के कवि हैं।** इसीलिए उन्होंने अवधी के ठेठ रूप को अपनाया है। नूर मुहम्मद की तरह जायसी ने हिंदी की अवधी बोली में इसलिए काव्य रचना नहीं की कि उसके द्वारा इस्लाम का प्रचार किया जाए और उसे घर-घर पहुँचा दिया जाए।

भारतीय समाज में लड़की को 'पराया धन' समझा जाता है। मायके में उसे जितनी स्वच्छंदता मिलती है उतनी ससुराल में नहीं। लड़कियाँ जानती हैं कि आज नहीं तो कल वे ब्याह दी जाएंगी और ससुराल जाते ही उनकी सारी स्वतंत्रता छिन जाएगी, सास-ननद ताने मारेंगी। ससुराल से मायके आना भी ससुराल वालों की मर्जी पर निर्भर करता है। इस लोकमत और कटु यथार्थ को जायसी ने कितने सुंदर ढंग से चित्रित किया है-

ए रानी! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी॥
जौ लागि अहैपिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू॥
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम, कित यह सरवर पाली॥
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलि कै खेलब एक साथा॥

तात्पर्य यह है कि जायसी के **पदमावत** का रूप-विन्यास लोक कथात्मक है और उसकी कथा के आन्तरिक सूत्र लोकजीवन से जुड़े हुए हैं। यह महज इत्तेफाक नहीं कि जायसी इसी आन्तरिक लगाव के कारण लोक कवि के रूप में मशहूर हो गए हों। इसमें उनकी भाषा का भी कम महत्व नहीं है। जायसी के पूर्व के या उनके समकालीन सूफी कवियों की अस्थिर और खिचड़ी भाषा को देखकर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि जायसी की कविता का प्राण आन्तरिक रूप से लोक संगीत है तो बाह्य रूप से ठेठ अवधी की मिठास।

8.7 जायसी की भाषा

अन्त में जायसी की भाषा पर विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि भाषा ही वह तत्व है जिसके द्वारा भावों और विचारों को अभिव्यक्त किया जाता है।

यह सर्वविदित है कि जायसी ने अपने **पदमावत** और अन्य काव्य ग्रंथों की रचना अवधी में की है। जायसी की अवधी तुलसीदास की अवधी से भिन्न है। जायसी की अवधी ठेठ अवधी है, जो लोक भाषा के बहुत निकट है जबकि तुलसीदास की अवधी परिष्कृत अवधी। जायसी ही नहीं, सभी सूफी कवियों की भाषा ललित, मधुर एवं सुबोध ठेठ अवधी है। डॉ. श्रीनिवास बत्रा के अनुसार **"ठेठ तथा तद्भव शब्द रूपों, लोक प्रचलित उक्तियों एवं मुहावरों आदि की दृष्टियों से सूफियों के प्रेमाख्यान लोकभाषा के महाकोश हैं।"** लेकिन हिंदी के असूफी प्रेमाख्यानों में अवधी, ब्रज और राजस्थानी आदि विभिन्न प्रकार की भाषाओं का प्रयोग हुआ है।

तात्पर्य यह है कि हिंदी के प्रेमाख्यानों में केवल अवधी का प्रयोग नहीं हुआ है। केवल उत्तरी भारत के हिंदी प्रेमाख्यानों में अवधी भाषा का प्रयोग हुआ है। दक्षिण के प्रेमाख्यानों की भाषा दक्खिनी है और इन पर अरबी-फारसी का गहरा प्रभाव है। 12वीं शताब्दी के प्रेमाख्यान **राउलवेल** (रोडा कवि) की भाषा पुरानी दक्षिण कोसली है। **उक्ति व्यक्ति प्रकरण** की भाषा भी पुरानी कोसली है। दरअस्ल भारत के सूफी कवियों ने प्राय: उसी भाषा को अपनी काव्य भाषा बनाया जहाँ वे रहते थे। पंजाबी के सूफी कवियों ने पंजाबी में और बंगाल के सूफी कवियों ने बंगला में प्रेमाख्यान लिखे। हिंदी के अधिकांश कवियों का संबंध चूंकि उत्तर भारत के अवधी भाषी क्षेत्र से था, इसलिए उन्होंने अवधी में ही अपने काव्यों की रचना की। अवधी भाषी क्षेत्र से सटे अन्य बोलियों के कवियों ने भी अवधी को ही अपनी काव्य भाषा बनाया, क्योंकि अवधी सूफी संप्रदाय की भाषा बन गयी थी। यही कारण है कि उसमान जैसे भोजपुरी

भाषी क्षेत्र के कवि ने भी अवधी को ही अपनी काव्य भाषा बनाया। हालांकि उनकी भाषा पर भोजपुरी का भी प्रभाव है।

जायसी ही नहीं, प्राय: सभी सूफी कवियों का लोक से गहरा संबंध था, इसीलिए उनकी भाषा भी लोकजीवन की भाषा है। परशुराम चतुर्वेदी ने जायसी की भाषा के बारे में लिखा है कि -''जायसी की सफलता उनकी सादी एवं आलंकरिक भाषा के व्यवहार में भी पायी जाती है। कहीं-कहीं उसमें यदि अनजान का अल्हड़पन आ जाता है तो अन्य एक मजी हुई लेखनी द्वारा निकले हुए प्रौढ़ उद्‌गारों की बहार भी देखने को मिलती है।''

जायसी की काव्य भाषा ठेठ अवधी अर्थात् जन सामान्य द्वारा बोली जाने वाली अवधी है, किंतु वह अवधी के व्याकरण के अनुकूल है। जायसी ने अवधी में कारक चिह्नों का सफल प्रयोग किया है। उन्होंने पुरानी अवधी के बहुत से अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग किया है। ऐसे शब्द **रामचरित मानस** में कम हैं। इस से स्पष्ट होता है कि बोलचाल की अवधी पर जायसी की कितनी जबर्दस्त पकड़ थी। कुछ अप्रचलित शब्द, जिनका प्रयोग **पदमावत** में हुआ है, जैसे अहक (लालसा), नौजि (ईश्वर), जहिया (जब), तीवइ (स्त्री), मोकाँ (मुझको), महूँ (मैं भी), अधिकै (और भी अधिक), शुक्ल जी के अनुसार साहित्यज्ञों को ग्राम्य लगेंगे। इसी तरह जायसी ने उच्चारण में संक्षेपीकरण की प्रवृत्ति को भी अपनाया है और 'कर' के स्थान पर केवल 'क' लिखा है। तुलसी ने भी इस प्रवृत्ति का अनुसरण किया है। यही नहीं, जायसी ने चरण के अंत में लघ्वंत पद को दीर्घांत कर दिया है। अत: जायसी की कविता में चरण के अंत में आए हुए पद के लिंग का निर्णय करते समय यह विचार कर लेना जरूरी होता है कि वह छंद की दृष्टि से लघ्वंत से दीर्घांत तो नहीं किया गया है, जैसे -

देखि चरित पदमावति हँसा।

उपर्युक्त पद में हँसा वास्तव में 'हँस' है जिसे छंद की दृष्टि से दीर्घांत कर दिया गया है।

लेकिन ठेठ अवधी को काव्य भाषा बनाने और उसके व्याकरणिक नियमों का पालन करने के बावजूद जायसी की भाषा में कहीं-कहीं कुछ दोष आ गए हैं। उन्होंने सर्वनामों, अव्ययों और विभक्तियों का लोप कर दिया है। इसलिए अर्थ लगाना कठिन हो जाता है। जायसी के संबंधवाचक सर्वनामों के लोप के बारे में रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि इस मामले में जायसी अंग्रेज कवि ब्राउनिंग से भी आगे निकल गए हैं। इसी तरह उन्होंने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिसमें अप्रयुक्तत्व दोष हैं, जैसे - बिसवास। दरअस्ल यह शब्द विश्वासघात के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बिसवास, बिसासी या बिससापी का विश्वासघात और विश्वासघाती के अर्थ में प्रयोग घनानंद और दूलह कवि ने भी किया है। कहीं-कहीं जायसी ने फारसी के पूरे के पूरे वाक्य को ले लिया है, किंतु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं। और जहाँ ये सामासिक पद प्रयुक्त हुए हैं वे संस्कृत के अनुसार नहीं, विपरीत क्रम से हुए हैं। जैसे - **लीक पखान और किरिन रवि।**

जायसी ने बोलचाल की अवधी के अलावा बीच-बीच में नए-पुराने, पूरबी-पच्छिमी कई प्रकार के भाषा-रूपों को भी अपनाया है। इसलिए उनकी भाषा स्वच्छ, सुबोध और मधुर होते हुए भी अव्यवस्थित है। लेकिन न्यून पदत्व, विभक्तियों, संबंधवाचक सर्वनामों और अव्ययों के लोप के बावजूद जायसी की भाषा में जितनी मिठास और सादगी है उतनी किसी कवि में नहीं। रामचंद्र शुक्ल के अनुसार जायसी की भाषा का माधुर्य ''भाषा का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। वह संस्कृत की कोमलकांत पदावली पर अवलंबित नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए है। जायसी की पहुँच अवध में प्रचलित लोक भाषा के भीतर बहते हुए माधुर्य स्रोत तक ही थी।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी की भाषा वह 'बहता नीर' है जिसमें ताजगी है और जो जन-जन की भाषा है। जायसी चूँकि लोकजीवन से गहराई से जुड़े थे इसीलिए उनकी भाषा भी उसी भाषा का अनुसरण करती है जिसे अवध में लोग बोलते थे। इसीलिए जायसी की भाषा में अवधी के मुहावरे, कहावतें और लोकोक्तियाँ भी अनायास आ गई हैं जिससे उनकी भाषा अधिक व्यंजनात्मक हो गयी है।

8.8 सारांश

इस इकाई में आपने भारतीय और फ़ारसी काव्य परपरा का अध्ययन करते हुए हिंदी प्रेमाख्यान, **पदमावत** में प्रेम कथा, उसकी प्रबंधात्मकता में लोकतत्व तथा उसकी भाषा का परिचय प्राप्त किया।

भारतीय और फ़ारसी काव्य में प्रेम का विशिष्ट स्थान है। भारत में प्रेम को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। आध्यात्मिक क्षेत्र में मधुरा भक्ति इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जिस तरह फारसी लोककथाओं के आधार पर मसनवियाँ लिखी गयीं, उसी तरह हिंदी में भी प्रेम कथाओं और लोककथाओं के आधार पर प्रेमाख्यान लिखे गये। जायसी ने भी इतिहास और लोककथा का समन्वय कर **पदमावत** की रचना की।

आपने देखा कि हिंदी से पहले संस्कृत, पालि और अपभ्रंश में भी लोककथात्मक काव्यों की रचना की गयी है। हिंदी के पहले सूफ़ी कवि असाइन ने विक्रम-बैताल की कथा के आधार पर **हंसावली** की रचना की थी। **पदमावत** लोकगाथात्मक काव्य ग्रंथ है। अन्य सूफ़ी कवियों की तरह जायसी ने भी फ़ारसी सूफ़ी काव्य के कुछ आदर्शों को अपनाया है। लेकिन उनका रुझान ज्यादातर भारतीय है। उन्होंने नागमती वियोग खंड को लोककाव्य बारहमासा की तर्ज़ पर लिखा है। उन्होंने नागमती को रानी से सामान्य स्त्री, रत्नसेन को राजा से योगी और पदमावती को राजकुमारी से सामान्य युवती की तरह चित्रित किया है। अर्थात् जायसी ने राजन्य वर्ग का सामान्यीकरण किया है।

पदमावत लोकतत्वों से भरपूर है। उसकी आंतरिक संरचना किंवदंतियों और निजंधरी कथाओं जैसी है। **पदमावत** में भारतीय लोकजीवन, लोकविश्वास, लोकधारणाएं आदि समाहित हैं। पनघट हो या विवाह के समय हल्दी लगाने की रस्म, बारात देखने का दृश्य हो चाहे पदमावती-नागमती के सती होने का प्रसंग, पदमावती-सुए के संवाद, सभी घटनाएं लोकतत्वों से प्रेरित हैं।

जायसी ने **पदमावत** का रूप-विधान लोककथात्मक रखा है। रसात्मकता के संचार के लिए प्रबंधात्मकता का जैसा घटनाक्रम होना चाहिए, **पदमावत** का वैसा ही है। **पदमावत** की कथा दो विरोधी प्रकृत्ति की घटनाओं के बावजूद सुगठित है और उसमें प्रवाह भी है।

जायसी की भाषा अवधी है। उनकी कविता का प्राण आंतरिक रूप से लोकसंगीत है और बाह्य रूप से ठेठ अवधी का माधुर्य। उनकी भाषा जनसामान्य द्वारा बोली जाने वाली अवधी है और वह उसके व्याकरण के अनुकूल है। हालांकि जायसी की भाषा में कुछ अप्रयुक्तत्व दोष भी हैं, किंतु इसके बावजूद जायसी की भाषा में जितनी मिठास है वह दूसरे कवियों में नहीं है।

8.9 अभ्यास/प्रश्न

1. फ़ारसी सूफ़ी काव्य और हिंदी सूफ़ी काव्य में क्या अंतर है?
2. क्या पदमावत सूफ़ी काव्य है अथवा प्रेम काव्य?
3. लोकतत्व से आप क्या समझते है? पदमावत में वर्णित लोकतत्वों का परिचय दीजिए।
4. जायसी की भाषा का प्राण लोक संगीत है। जायसी की भाषा के संदर्भ में इसका विवेचन कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
कबीर वाणी, अली सरदार जाफ़री, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
जायसी, विजयदेव नारायण साही, हिंदुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद।
जायसी, डॉ० परमानंद श्रीवास्तव, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
जायसी ग्रंथावली (भूमिका), रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
भारतीय चिंतन परंपरा, के. दामोदरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।
सांप्रदायिकता और संस्कृति के सवाल, प्रो० इरफान हबीब, सहमत, दिल्ली।

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

खंड

3

भक्तिकाव्य-2 (सगुण काव्य)

इकाई 9
भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर काव्य का महत्व 5

इकाई 10
सूरदास के काव्य में प्रेम 22

इकाई 11
मीरा का काव्य और समाज 38

इकाई 12
मीरा का काव्य सौंदर्य 53

इकाई 13
तुलसी के काव्य में युग संदर्भ 67

इकाई 14
एक कवि के रूप में तुलसीदास 83

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें 101

खण्ड-3 (भक्ति काव्य-2 : सगुण काव्य) का परिचय

पिछले खंड (खंड-2) में आपने कबीर और जायसी का अध्ययन किया था। इस खंड में हम भक्तिकाल के अन्य तीन रचनाकारों - सूर, मीरा और तुलसी - का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस खंड में इन तीनों रचनाकारों पर दो-दो इकाइयाँ तैयार की गई हैं जिनका विवरण इस-प्रकार है:

इकाई-9 : भक्ति आंदोलन में सूर काव्य
इकाई-10 : सूरदास के काव्य में प्रेम
इकाई-11 : मीरा का काव्य और समाज
इकाई-12 : मीरा का काव्य सौंदर्य
इकाई-13 : तुलसी के काव्य में युग संदर्भ
इकाई-14 : एक कवि के रूप में तुलसीदास

इन सभी इकाइयों में भक्तिकाल के संदर्भ में उपर्युक्त उल्लिखित कवियों का मूल्यांकन किया गया है। इकाई 9 में सबसे पहले सूरदास और उनके युग का परिचय दिया गया है। इसके बाद अष्टछाप के कवियों का परिचय देते हुए इनमें सूरदास का महत्व बताया गया है। भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूरदास की चर्चा करते हुए भक्ति आंदोलन में कृष्ण भक्ति धारा और सगुण-निर्गुण द्वंद्व में सूर की भूमिका पर विचार किया गया है। सूरदास की प्रेमाभक्ति का भी विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इकाई के अंत में सूर की काव्य भाषा और शिल्प का विवेचन किया गया है।

इकाई 10 में सूर की कविता के विभिन्न पक्षों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। सूर प्रेम के कवि हैं। उन्होंने अपनी कविताओं में वात्सल्य और शृंगार का बड़े ही मनोयोग से चित्रण किया है। सूर की राधा उनकी अपनी मौलिक उद्भावना है। इसी तरह भ्रमरगीत भी कवि सूर की मौलिकता और सृजनात्मकता का उत्तम उदाहरण है। सूर की कविताओं में प्रकृति मात्र उद्दीपन नहीं है बल्कि वह लोक जीवन का अभिन्न अंग बनकर प्रकट हुई हैं।

इकाई 11 और इकाई 12 मीरा पर केंद्रित है। मीरा एक विद्रोही रचनाकार हैं। उन्होंने तत्कालीन रूढ़िगत सामंती समाज और नारी पराधीनता का निर्भय होकर विरोध किया है। कृष्ण के प्रति अनन्य भक्ति से उन्हें समाज के विरोध के बावजूद अडिग होकर पूरे समाज को चुनौती देती रही। उनके काव्य में एक खुलापन है। उनके यहां कुछ भी छुपा नहीं है। सबकुछ शीशे की तरह साफ है।

इकाई 13 और इकाई 14 में तुलसीदास और उनकी कविता का विवेचन विश्लेषण किया गया है। इकाई 13 में तुलसीदास के काव्य में चित्रित समाज और तुलसी की विचारधारा का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। इकाई के अंत में राम राज्य की परिकल्पना पर भी विचार किया गया है। इकाई 11 में कविता के बारे में तुलसीदास के विचार, मर्मस्पर्शी जीवन प्रसंगों का चित्रण, और तुलसी के काव्य में चित्रित विस्तृत जीवन फलक का विवेचन किया गया है। अंत में तुलसी की काव्य भाषा, उनकी कविताओं में प्रयुक्त छंद और रामचरितमानस के रूपविधान की चर्चा की गई है।

इकाई 9 भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर काव्य का महत्व

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 महाकवि सूरदास और उनका युग
9.3 अष्टछाप और सूरदास
9.4 भक्ति आंदोलन और सूरदास
  9.4.1 भक्ति आंदोलन में कृष्णभक्ति धारा
  9.4.2 सगुण-निर्गुण द्वन्द्व में सूर की भूमिका
9.5 सूर काव्य में प्रेमाभक्ति
9.6 सूरदास की भाषा और रूप विधान
  9.6.1 सूर की काव्य भाषा
  9.6.2 सूर काव्य का रूप विधान
  9.6.3 सूर काव्य में प्रगीतात्मकता
9.7 सारांश
9.8 अभ्यास/प्रश्न

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ खंड 3 की पहली इकाई है। इसमें सगुण काव्य के प्रतिनिधि कवि सूरदास का महत्व प्रतिपादित किया जाएगा। इसे पढ़ने के बाद आप :

- कवि सूरदास, अष्टछाप और उनके युग का परिचय प्राप्त कर सकेंगे,
- भक्ति आंदोलन में सूरदास का महत्व प्रतिपादित कर सकेंगे,
- सूर काव्य में प्रेमाभक्ति का निरूपण कर सकेंगे, और
- सूर काव्य की भाषा और रूपविधान को स्पष्ट कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

सूरदास भक्ति युग के प्रमुख कवि हैं। ये कृष्णभक्ति काव्य परंपरा के सिरमौर हैं। अष्टछाप के कवियों में इनका स्थान प्रमुख है। सूर की काव्यात्मक विशिष्टता और उत्कृष्टता का आधार है --

क) संगीत का कलात्मक उपयोग
ख) ब्रजभूमि की लोकसंस्कृति का आत्मसातीकरण
ग) वात्सल्य चित्रण
घ) स्त्री-पुरूष संबंधों का स्वच्छंद चित्रण।

सूर भक्त कवि और कृष्ण के उपासक हैं। पुष्टिमार्गी होने के कारण सूर की भक्ति प्रेमाभक्ति थी। इसमें समर्पण को ही सब कुछ माना गया है। सूर ने अपने काव्य में उपास्य कृष्ण के प्रति प्रेम प्रकट करने के लिए उनके रूप, व्यक्तित्व, परिवेश, क्रियाकलाप, लीला आदि का चित्रण सहज मानवीय रूप में किया है।

इस इकाई में इन पक्षों पर विचार करने के साथ-साथ सूर की भाषा और शिल्प पर भी विचार किया गया है। 'सूरदास की भाषा और रूपविधान' के अंतर्गत सूर की काव्य भाषा और रूपविधान पर विचार किया गया है। सूरदास ब्रजभाषा में कविता रचने वाले पहले प्रमुख कवि हैं। उन्होंने ब्रज प्रदेश को

लोक संस्कृति और वाचिक परंपरा की उत्कृष्टता प्रदान की और उसे कलात्मक उत्कर्ष प्रदान किया। संगीतात्मकता उनके काव्य का अप्रतिम गुण है। इसमें एक कथा है पर यह प्रबंध-काव्य नहीं है। सूरसागर के कथानक की विशृंखला इसका प्रमुख कारण है। आइए इन पक्षों पर विस्तार से विचार किया जाए।

9.2 महाकवि सूरदास और उनका युग

सूरदास के जीवन-वृत्त के संबंध में डॉ. दीन दयाल गुप्त और डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा के निष्कर्षों को प्राय: स्वीकार कर लिया गया है। उल्लिखित विद्वानों के अनुसार सूरदास का जन्म 1478 ई. में हुआ था और उनकी मृत्यु तिथि अनुमानत: 1577 ई. और 1581 ई. के बीच पड़ती है।

भक्तिकाल के किसी भी कृतिकार के जीवन-वृत्त से संबंधित तथ्यों को लेकर अभी भी विवाद बना हुआ है। इस नोकझोंक में पड़े बगैर इस सर्वमान्य तथ्य के आधार पर हमें उस युग की विवेचना करनी चाहिए कि सूरदास के पदों की रचना पन्द्रहवीं सदी के अंतिम दशक में आरंभ हुई होगी और उनकी रचनाशीलता सोलहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक नि:संदिग्ध रूप से जारी रही होगी। सूरदास की रचनाओं से यह ज़ाहिर होता है कि वे निरगुनिया संतों के काव्य से परिचित थे। प्रेममार्गी सूफी काव्यधारा से सूर परिचित थे या नहीं - इस बात की तरफ कहीं से कोई संकेत नहीं मिलता है। भक्तिकालीन रचनाकारों के आपसी संबंधों को लेकर फैले प्रवादों में यह बात भी प्रचलित है कि किसी समय सूर और तुलसी की भेंट हुई थी। इस प्रवाद की पुष्टि अभी तक नहीं हुई है।

ब्रजभाषा में कृष्णभक्ति से संबंधित गीत, गायन, कीर्तनकाव्य और संगीत की यह मिली-जुली परंपरा सूरदास को कहाँ से मिली? आप लोगों ने यह अवश्य ही सुना या पढ़ा होगा कि राधाकृष्ण से संबंधित भक्तिगीत की कीर्तन परंपरा के सूत्रपात में जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और चैतन्य का बहुत बड़ा योगदान है। आपने यह भी सुना होगा कि सूरदास पहले दैन्य और विनय के पद ही गाते थे। जब महाप्रभु वल्लभाचार्य से उनकी भेंट हुई तो आचार्य जी ने उनसे कहा : घिघियाते क्यों हो, भगवान की लीला का गान करो। इसके बाद से सूरदास के भक्तिगीतों में दास्य भाव और आत्मदीनता की प्रवृत्ति समाप्त हो गई और वे सख्य भाव से प्रेमभक्ति के गीत गाने लगे। वल्लभाचार्य की प्रेरणा से ही सूरदास श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्णकथा को गीत-संगीत में रूपांतरित करने लगे। श्रीमद्भागवत में कृष्ण के लोकमंगलकारी और लोकरक्षक व्यक्तित्व की भी कुछ छटाएँ और छवियाँ हैं। अत: सूरसागर में संकलित आपको सैकड़ों ऐसे पद मिलेंगे जिन्में कृष्ण लोगों की रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत उठाए हुए मिलेंगे, कालिया नाग को नियंत्रित करते हुए मिलेंगे; कंस का वध करते हुए दिखाई पड़ेंगे, जनसाधारण को पीड़ित करने वाले राक्षसों का दमन करने वाले स्वरूप में उपस्थित होंगे, महाभारत के योद्धा रूप में विस्मित कर रहे होंगे। पर सूरदास की काव्य-प्रतिभा का चमत्कार आपको ऐसे आख्यान-प्रसंगों में कम ही दिखाई पड़ेगा। सूरदास का मन रमता है राधाकृष्ण, गोप-गोपिका, नंद-यशोदा और ब्रज की हरीभरी प्रकृति की जीवन्त क्रियाओं और मनोरम रूपों के चित्रण में। सूर की चित्रण-शैली में ब्रज की लोकसंस्कृति लिपटी हुई चली आती है तथा सूर के स्वर-संगीत में जनभाषा के रूप में ब्रजभाषा की मृदुता की और मधुरता की कलकल ध्वनि सुनायी पड़ती रहती है।

संगीत के नवोत्थान और मध्यकालीन भारत के लोकजागरण के बीच बड़ा गहरा संबंध है। सूरदास उस युग की नवोन्मेषकारी सांस्कृतिक प्रक्रिया और नयी भावधारा के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

कबीर, जायसी और तुलसी की तुलना में सूरदास की एक अलग किस्म की विशिष्टता इस जातीय संगीत के नवोत्थान के संदर्भ में समझी जानी चाहिए और इसकी सांगोपांग विवेचना के बाद ही सूर के प्रगीतात्मक काव्य के वास्तविक महत्व का पूरा खुलासा होगा। सूर के काव्य को नृत्य, रास, वाद्यसंगीत, गायकी और ब्रज लोकगीत के बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। यह युग पुरन्दर दास, त्यागराज, तानसेन, बैजू बावरा, स्वामी हरिदास जैसे महान कलाकारों का था। सूरदास ललित कलाओं के पारस्परिक आदान-प्रदान और घनिष्ठ अंत:क्रिया के साक्षी थे। बल्कि उनकी स्वयं की सृजनात्मक कला

का विकास इसी प्रक्रिया के अंदर से हुआ था। अतः सूर-साहित्य की समालोचना के कलात्मक और ऐतिहासिक संदर्भों पर अलग से भी विचार करने की आवश्यकता है।

भक्तिकाव्य के विवेचन में हिन्दी समालोचना चाहे तो इतिहास के राजनीतिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्य पर एकांगी रूप से निर्भर कर जाती है, या शास्त्रीय वाद-विवाद, भाष्य और टीका की उद्धरणी पर अवलम्बित हो जाती है। बारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में नया जागरण और कलात्मक उत्कर्ष आया – इसे नये विश्लेषण और विवेचन का प्रस्थान बिंदु नहीं बनाया जाता।

9.3 अष्टछाप और सूरदास

हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य को सबसे अधिक प्रेरणा देने वाले महाप्रभु वल्लभाचार्य (1478 ई. - 1530 ई.) पुष्टिमार्ग के संस्थापक और प्रवर्त्तक थे। उनकी मृत्यु के बाद उनके दूसरे पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ (1515 ई. 1585ई.) पुष्टि संप्रदाय के आचार्य के पद पर आसीन हुए। उनकी बाल्यावस्था अरैल में व्यतीत हुई थी किंतु सन् 1566 ई. में अर्थात् 51 वर्ष की उम्र में ब्रज में आ बसे थे। इसी साल उन्हें सम्राट अकबर की ओर से एक फरमान प्राप्त हुआ जिसके अनुसार गोकुल की भूमि उन्हें माफी में धर्मार्थ के निमित्त मिल गई थी।

श्रीनाथ जी के मंदिर में सेवा, भोग, उत्सव आदि की व्यवस्था करते हुए उन्होंने पुष्टि संप्रदाय के प्रचार में पर्याप्त योगदान किया था। गोस्वामी विट्ठलनाथ की पहल पर ही अष्टछाप का संगठन किया गया था। उनके पिता के चार शिष्य - कुंभनदास, सूरदास, परमानन्ददास, और कृष्णदास पहले से ही तैयार थे। अब स्वयं गोस्वामी विट्ठलनाथ के चार शिष्य - चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी और नन्ददास भी नया कार्यभार स्वीकार करने के योग्य हो गये थे। अतः इन आठों को लेकर अष्टछाप का गठन किया गया। वस्तुतः ये आठ भक्त श्रीकृष्ण के अष्टसखा के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

सूरदास के समान ही परमानन्ददास भी पुष्टिमार्ग में दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व ही कवीश्वर, संगीतकार और कीर्तनकार के रूप में अपनी क्षमता और प्रतिभा प्रमाणित कर चुके थे। इसी तरह कुंभनदास महाप्रभु वल्लभाचार्य के निकट संपर्क में बहुत पहले से थे और पुष्टिमार्ग में दीक्षा प्राप्त कर चुके थे। 'भक्तन को कहा सीकरी सों काम' वाला लोकप्रसिद्ध पद इन्हीं का है। अष्टछाप के चौथे कवि और कीर्तनकार कृष्णदास थे। वे जाति से शूद्र थे, पर महाप्रभु ने उन्हें मंदिर का भेंटिया बनाया था। कविता में वे सूरदास से टक्कर लेते थे।

अष्टछाप के अन्य चार कवियों में सर्वाधिक ख्याति नन्ददास को मिली है। भ्रमरगीत परंपरा की प्रगीत रचना में कलात्मक योगदान की दृष्टि से भी नन्ददास की महत्ता स्वीकार की जाती है। छठे भक्त श्री चतुर्भुजदास थे जो अपने पिता श्री कुंभनदास की भाँति गृहस्थ जीवन बिताते हुए श्रीनाथ जी की सेवा में सदैव तत्पर रहते थे। भक्ति और कविता -दोनों उन्हें उत्तराधिकार में मिली थी। सातवें भक्त गोविन्दस्वामी भी प्रगीतात्मक पदावली के रचयिता और अच्छे गायक थे। संगीत में उन्हें दक्ष माना गया है। यह भी जनश्रुति है कि प्रसिद्ध संगीतकार तानसेन उनसे संगीत की शिक्षा लेने आते थे। अंतिम भक्त और कवि छीतस्वामी थे। कहते हैं कि उनके पद सुनने के लिए अकबर वेश बदलकर उनके पास आते थे।

सम्पूर्ण भक्ति-आंदोलन में किसी आचार्य के नियंत्रण में कवियों-गायकों और कीर्तनकारों के किसी संगठित मंडल का उल्लेख नहीं मिलता है। अष्टछाप जैसा समूह बाद में भारतेंदु मंडल, मतवाला मंडल, प्रगतिशील लेखक संघ या इप्टा के रूप में आधुनिक काल में ही प्रचलन में आया। 1499 ई. से 1583 ई. के बीच तक अर्थात् लगभग 84 वर्ष तक अष्टछापी भक्त कवियों का अस्तित्व रहा। डॉ. गोवर्धन नाथ शुक्ल ने 'अष्टछाप का सांप्रदायिक पक्ष' नामक अपने निबंध में बताया है कि "अष्टछाप की स्थापना भगवान श्रीनाथ जी की अष्टयाम रागसेवा के निमित्त हुई थी।" उक्त शोध निबंध में डॉ.

शुक्ल की तरफ से यह सूचना भी दर्ज है कि श्रीनाथ जी के मंदिर में ध्रुपद-धमार पद्धति पर लीला-कीर्तन का प्रबंध गोस्वामी विट्ठलनाथ की व्यवस्था के अंतर्गत किया गया था। चूंकि यह मंदिर पहाड़ की चोटी पर था, अत: स्थानीय जनसाधारण का नियमित तौर पर दर्शन-पूजन आदि संभव ही नहीं था। अष्टछाप के कीर्तनकारों द्वारा श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध में वर्णित प्रसंगों के आधार पर ही लीलागान होता था। महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्यों में सूरदास और गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में नंददास को छोड़कर शेष छह कवि गायकों ने विष्णुपद छंदों में ही लीलागान किया है। विष्णुपद छंद ब्रज की ध्रुवपद शैली के लिए उपयुक्त माना जाता था। विष्णुपद छंद के अतिरिक्त इन कवि गायकों ने गहरी तन्मयता में भाव-विभोर होकर धमार, होरी आदि भी रचे हैं।

अष्टछाप के कवि गायक जिस समय ध्रुवपद धमार शैली में गीतकीर्तन रच रहे थे, उन्हीं दिनों समानान्तर रूप से फतहपुर सीकरी के शाही महल में खयाल शैली के तहत कुछ खास तरह के 'रसिया' गाने की प्रथा चल पड़ी थी। जब तक अष्टछाप के कवि गायक जीवित रहे तब तक तो रसिया की यह प्रथा श्रीनाथ जी के मंदिर में पहुंच नहीं पायी। परन्तु अष्टछापी कवियों तथा गोस्वामी विट्ठलनाथ की मृत्यु के बाद रसिया गाने की प्रथा श्रीनाथ जी के मंदिर में भी धीरे-धीरे पहुंच गयी।

9.4 भक्ति आंदोलन और सूरदास

भक्ति की भावधारा की एक सामान्य प्रवृत्ति भक्ति आंदोलन के सभी रचनाकारों में असंदिग्ध रूप में मिलती है। इस सामान्य प्रवृत्ति की अनिवार्य उपस्थिति के कारण ही आपको बार-बार बताया गया है कि सूरदास एक भक्त कवि थे। वे ऐसे भक्त थे जिसके इष्टदेव के दरबार में जातपाँत के आधार पर कोई भेदभाव न था। इस प्रकार की वैचारिक निष्ठा जातपाँत और धर्म-मज़हब के भेदभाव से जर्जर हो रहे तत्कालीन समाज के भौतिक अस्तित्व के लिए ऐतिहासिक आवश्यकता बन गई थी। इस आवश्यकता के प्रति कबीर, जायसी, सूर और तुलसी की सम्मिलित सहमति थी - यही वह लोकसामान्य भावभूमि थी जो इन चारों भक्त कवियों को एक-दूसरे से जोड़ती थी। भक्ति आंदोलन के रचनाकारों के बीच जनभाषाओं को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने के सवाल पर भी समान ढंग की प्रतिबद्धता और सहमति थी। इसीलिए आप यह देखते हैं कि सूरदास उस जनभाषा में अपनी कविता रच रहे थे जो साहित्यिक-सांस्कृतिक दृष्टि से अपरिष्कृत और पिछड़ी हुई थी; यद्यपि अपनी प्रगीत परंपरा के लिहाज से ब्रजभाषा लोक कंठों में रची बसी हुई थी और इसी वजह से सुमधुर हो गई थी। अन्य भक्त कवियों के समान सूरदास भी शास्त्रीयता के आग्रह और उसकी जकड़बंदी से मुक्त थे तथा अपने जमाने के गृहस्थ आश्रम में रहने वाले लोकसमाज को संबोधित कर अपने पदों की रचना कर रहे थे।

उपर्युक्त तीन सामान्य प्रवृत्तियों के कारण ही सूरदास की इतनी ख्याति नहीं है। सूर की अपनी कुछ निजी विशिष्टताएं भी हैं जो उन्हें भक्तिकाल के क्लासिक कृतिकार का दर्जा प्रदान करने में अन्यतम महत्व रखती हैं। इन निजी विशिष्टताओं में चार बातों का उल्लेख अवश्य ही होना चाहिए -संगीत का कलात्मक उपयोग, ब्रजभूमि की लोकसंस्कृति का आत्मसातीकरण, वात्सल्य चित्रण और स्त्री-पुरुष संबंधों में स्वच्छंदता अथवा उन्मुक्तता का अनुमोदन। भक्तिकाव्य में जीवनदशाओं की बहुरंगी छवियों के अंकन से जो रागात्मक समृद्धि आयी है, उसके मूल स्रोत की खोज करने पर पता चलता है कि सूर के समान प्राय: सभी रचनाकारों की ऐसी ही निजी विशिष्टताएं हैं जो संवेदनाओं के विस्तार में नि:संदिग्ध रूप से सहायक सिद्ध हुई हैं। अगर भक्ति आंदोलन से सूरदास के काव्य को निकाल दिया जाए तो वह एकांगी और विकलांग प्रतीत होगा। इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि भक्तिकाव्य के विकास और उसके रागात्मक वैविध्य में सूरदास का कितना निर्णायक महत्व है।

सूरकाव्य के कलात्मक और ऐतिहासिक महत्व का वस्तुगत ढंग से समुचित मूल्यांकन के लिहाज से यह जरूरी है कि आप पहले यह जानने का प्रयत्न करें कि भक्तिकाव्य में कृष्णभक्तिधारा का क्या महत्व है।

9.4.1 भक्ति आंदोलन में कृष्णभक्ति धारा

कृष्ण कोई ऐतिहासिक व्यक्तित्व थे या पुराणकारों की कल्पनामूर्ति - इस विवाद से अभी तक धर्मशास्त्र और इतिहास को छुटकारा नहीं मिल पाया है। कृष्ण (आंगिरस) का प्राचीनतम उल्लेख स्तुतियों की रचना करने वाले ऋषि के रूप में ऋग्वेद में पाया जाता है; इसके बाद छांदोग्य उपनिषद, महाभारत, जातक कथा, भागवत, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में थोड़े विस्तार से मिलता है। साहित्य में ईसा की पहली शताब्दी में लिखित 'गाथा सप्तशती' में कृष्णकथा का वर्णन उपलब्ध होता है।

प्राचीन पुराणों में केवल भागवत में गोपाल कृष्ण की कथा सम्यक रूप से वर्णित की गयी थी, परंतु उसमें भी राधा का नामोल्लेख तक नहीं मिलता। पद्मपुराण और उससे भी कहीं ज्यादा ब्रह्मवैवर्त पुराण में ही राधाकृष्ण की प्रेम-रोमांस से परिपूर्ण कथा विस्तार से की गयी है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि लोक साहित्य, गीत और कथाओं में कृष्ण के विविध रूपी असंख्य आख्यान प्रचलित रहे होंगे। अपने इस अनुमान की पुष्टि में वे मध्यकालीन जनभाषाओं की काव्यपरंपरा में कृष्णभक्ति साहित्य के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं।

सवाल यह है कि ये कृष्ण थे कौन? इसके उत्तर में निर्विवाद रूप से सभी स्वीकार करते हैं कि कृष्ण शूरसेन प्रदेश के सात्वत-वृष्णि वंशीय क्षत्रियों के कुलदेवता थे। लोक में उनका प्रचलित नाम गोपाल कृष्ण था। अश्वघोष के 'बुद्धचरित', हाल सातवाहन की 'गाहासत्तसई', तमिल भाषा के आलवार भक्तों के भक्तिगीत संग्रह 'प्रबंधम्' आदि से होते हुए कृष्णकथा की परंपरा बारहवीं सदी के जयदेव के 'गीत गोविन्द' में परिपक्व और परिपुष्ट हो जाती है। कृष्ण, राधा और गोपियों की कथा के माध्यम से शृंगार और भक्ति का सम्मिश्रण जयदेव के गीतगोविन्द में अनुपम माधुर्य का उदाहरण प्रस्तुत करता है। भाव विभोर कर देने वाली तन्मयता की सृष्टि करने में भी जयदेव के गीत अद्वितीय माने जाते हैं। शृंगार और भक्ति की सम्मिलित भावभूमि पर कृष्णकथा का यह नया साहित्यिक विकास जयदेव के बाद मैथिली के रचनाकार विद्यापति के प्रगीतों में खूब लोकप्रिय हुआ। चौदहवीं सदी की मैथिली की भाषिक संरचना तथा जयदेव की परंपरा में गेय पदावली के माधुर्य के कारण विद्यापति को 'अभिनव जयदेव' की उपाधि से अलंकृत किया गया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में ब्रजभाषा की सोलहवीं सदी वाली कृष्ण काव्यपरंपरा के प्रेरक और प्रवर्त्तक के रूप में जयदेव और विद्यापति की चर्चा की गयी है। उनकी स्थापना है कि कृष्णचरित के गान में भौतिककाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहायी उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया।

कृष्ण कथा की उक्त शृंगारिक परंपरा से हिन्दी भक्तिकाव्य का उद्भव मानने पर डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा को आपत्ति है। उनका कहना है कि सोलहवीं शताब्दी का कृष्णभक्ति काव्य धार्मिकता और इहलौकिकता के संदिग्ध सम्मिलन से प्रारंभ नहीं हुआ। विद्यापति से उसने प्रेरणा नहीं ग्रहण की। उसका प्रणयन विशुद्ध धार्मिक वातावरण में, प्राय: सांप्रदायिक तत्वावधान में हुआ। उसका तात्कालिक मूल आधार प्रत्यक्षत: 'श्रीमद्भागवत' में वर्णित कृष्णकथा है; यद्यपि हिन्दी कृष्णभक्ति काव्य 'भागवत' या 'ब्रहमवैवर्त' आदि किसी भी पुराण में वर्णित कृष्णकथा की लीलाओं में बँधा नहीं है। उसने अपनी भावना की पोषक सामग्री लेने में पुराणों की अपेक्षा लोक-साहित्य से कहीं अधिक स्वच्छंदतापूर्वक सामग्री ग्रहण की है।

डॉ. मैनेजर पांडेय ने 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' नामक अपनी पुस्तक मे कृष्णकथा की परंपरा का विस्तृत विवेचन किया है। उत्तरी भारत के कृष्णकाव्य या सोलहवीं सदी के हिन्दी कृष्णकाव्य जैसे अमूर्त दृश्यफलक के बजाय शूरसेन प्रदेश या ब्रज प्रदेश के कृष्णभक्ति परंपरा के आरंभ की ठोस विवेचन करना उन्होंने आवश्यक समझा। इसलिए उन्होंने यह नतीजा निकाला है कि वल्लभाचार्य ने ब्रजप्रदेश में कृष्णभक्ति को सुसंगठित और व्यवस्थित रूप में स्थापित किया।

हिन्दी भक्तिकाव्य में कृष्णभक्ति से संबंधित पुष्टि मार्गीय, गौड़ीय, राधावल्लभी और हरिदासी संप्रदायों के योगदान की चर्चा की जाती है। कृष्णाश्रयी भक्ति की अनेकानेक शाखा-प्रशाखा के आचार्यों और भक्त कवियों द्वारा रचित साहित्य परिमाण में विपुल है। अगर साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से निर्ममतापूर्वक चयन करना पड़े तो कहना पड़ेगा कि राधावल्लभी संप्रदाय के हरिवंश गोस्वामी की

पदावली रागात्मक संवेदना और माधुर्य की दृष्टि से अवश्य ही उल्लेखनीय है। इनके साथ हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास, ध्रुवदास, हित वृन्दावनदास आदि की भी चर्चा की जाती है।

कृष्णभक्ति काव्य में नन्ददास, रसखान और मीरा के उल्लेखों से ही इस भावधारा को परिपूर्णता मिलती है। मीरा किसी संप्रदाय में शामिल नहीं हुई थीं। अत: उनकी भक्तिभावना पर निर्गुण संतमत और गिरिधर नागर के प्रति अनन्य प्रेम की दोहरी छाप दिखायी देती है।

सूरदास समेत सभी कृष्णभक्त कवियों का एक ही लक्ष्य था - रस, आनन्द और प्रेम की युगलमूर्ति राधाकृष्णा की लीला का गायन। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास ग्रंथ में कृष्णभक्ति शाखा के विवेचन के अंतर्गत यह मान्यता रखी गयी है कि कृष्णभक्ति परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है, उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्णभक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े-बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनन्त सौंदर्य का समुद्र है।

कृष्णाश्रयी काव्यधारा की कृतियों में लोकसंग्रह, लोक कल्याण और लोकचिंता के अभाव को आचार्य शुक्ल ने बार-बार रेखांकित किया है।

9.4.2 सगुण-निर्गुण द्वन्द्व में सूर की भूमिका

भक्ति आंदोलन के भीतर सगुण-निर्गुण का द्वन्द्व बहुत ही तीखा हो गया था। सोलहवीं सदी में कृष्णभक्ति की नयी धारा के प्रसार के क्रम में भगवान की सगुण लीला का गान ब्रजप्रदेश में ही नहीं, भारत के अन्य अंचलों में भी लोकप्रिय होने लगा। भक्त कवि सूरदास कृष्ण के लीलामय सगुण रूप के अनन्य भक्त हो गये। वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टिमार्ग में दीक्षित किया।

सूर का काव्य एक ओर जहां स्त्री-पुरूष संबंधों की स्वच्छंदता और उन्मुक्त प्रेमभावना का समर्थन करता है, वहीं उस जमाने के शास्त्रीय और दार्शनिक विवादों में भी हस्तक्षेप करता है। 'भ्रमरगीत' के उद्धव-गोपी संवाद में ज्ञान बनाम भक्ति, सगुण बनाम निर्गुण की बहस अपने प्रखर रूप में व्यक्त हुई है। इस तर्क-वितर्क, दार्शनिक ऊहापोह और वैचारिक टकराहट के भीतर अनेकानेक संदर्भ ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि सूरदास नाथपंथियों, सिद्धों और संतों की दलीलों का खंडन कर रहे हैं। सैकड़ों ऐसे पद हैं जिनमें योग, ज्ञान और निर्गुण-निराकार ब्रह्म के अस्तित्व पर शंका व्यक्त की गई है, आपत्ति की गयी है और उनकी निस्सारता सिद्ध की गयी है। उद्धव-गोपी संवाद वस्तुत: निरगुनिया मत से सूर की मुठभेड़ का छाया-बिम्ब प्रतीत होता है। गोपियों की अश्रुपूरित, भावाकुल और करुण मनोदशा स्वयं में उद्धव को निरुत्तर करने, उन्हें चुप करने, खामोश करने की तार्किक क्षमता रखती है। पिछले पांच-छह सौ सालों से चले आ रहे वैचारिक द्वन्द्वों में सूरदास अवतारवाद का अनुमोदन करते हैं और कृष्ण की सगुण मूर्ति की उपासना के पक्षधर के रूप में सामने आते हैं।

उद्धव स्वयं ज्ञानमार्गी हैं और ब्रह्म की निर्गुण-निराकार सत्ता में विश्वास रखते हैं। कृष्ण उनके ज्ञान गर्व को चूर करना चाहते थे। इसलिए गोपियों के पास उद्धव को भेजते हैं। गोपियां निर्गुण की साधना कैसे कर सकती हैं, वे तो कृष्ण की सगुण लीला के रस और प्रेम में पगी हैं; कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद विरह-व्याकुल हो रही हैं। उद्धव द्वारा निर्गुण साधना, योग साधना, नाथपंथी वज्रयानी साधना का उपदेश सुनकर गोपियां पूछती हैं -

निर्गुण कौन देस को वासी?
मधुकर! हंसि समुझाय, सौंह दै बूझति सांच, न हांसी।।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी?
कैसो बरन भेस है कैसी केहि रस में अभिलासी?
पावैगो पुनि कियो आपना जो रे! कहैगो गांसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सौ सुर सबै मति नासी।।

गोपियां उद्धव से निर्गुण ब्रह्म का परिचय जानना चाहती हैं। यह निर्गुण ब्रह्म किस देश का वासी है? हे भौंरे (उद्धव), हमें अच्छी तरह से समझा दो। हम शपथ खाकर तुमसे सच्ची-सच्ची बात जानना चाहती हैं, कोई मज़ाक नहीं कर रही हैं - कोई हंसी नहीं उड़ाना चाहती हैं। हम वास्तव में जानना चाहती हैं कि उस निर्गुण का पिता कौन है? उसका रूप रंग तथा बनावा कैसा है? वह किस रस के योग की अभिलाषा करता रहता है? गोपियां पूछती हैं - हमारा प्रेमी तो प्रेमरस में अनुरक्त है पर यह निराकार ब्रह्म किस रस की इच्छा रखता है? हे उद्धव, यदि तुमने इन बातों का गलत उत्तर दिया तो अपने किये का फल पाओगे। गोपियों की ये दलीलें सुनकर उद्धव ठगे से रह गये, मौन हो गये और उनकी बुद्धि पंगु-सी हो गई।

सूरदास गोपियों के माध्यम से निर्गुण मतवाद के खंडन में ब्रह्म चिंतन संबंधी दार्शनिक विवादों के अस्त्रागार से अपने तर्क नहीं लाते। गोपियां बार बार लौकिक जीवन की कसौटी पर परम सत्ता या उपास्य अलौकिक सत्ता की अवधारणा को परखती हैं। इस वाद-विवाद-से यह स्पष्ट है कि सूरदास लौकिक जगत के मानवीय संबंधों को दर्शन के केंद्र में रखते हैं, ब्रह्मचिंतन संबंधी अमूर्त्त और वायवीय अवधारणाओं से अपनी जीवन-दृष्टि को मुक्त रखना चाहते हैं। इस गोचर लौकिक जगत से परे कोई अलौकिक परम सत्ता है। उसे योग क्रियाओं के माध्यम से पाया जा सकता है - यह कल्पना गोपियों को सन्निपात के मरीज का प्रलाप प्रतीत होती हैं। गोपियां उद्धव से व्यंग्य करती हैं - आप बड़े सयाने हो-

ऊधो! जानि परे सयान।
नारियन को जोग लाए, भले जान सुजान।।
निगम तू नहिं पार पायो कहत जासों ज्ञान।
नयन त्रिकुटी जोरि संगम जेहि करत अनुमान।।
पवन धरि रबि-तन निहारत, मनहिं राख्यो मारि।
सूर सो मन हाथ नाहीं गयो संग बिसारि।।

हे उद्धव ! आप तो बड़े चतुर मालूम पड़ते हो। योग का उपदेश स्त्रियों को आप देने आये हैं। आप ज्ञान-साधना द्वारा जिस निर्गुण ब्रह्म को जानने की बात कहते हैं उसको तो वेद भी नहीं जान पाये। आप हमें उस ब्रह्म का उपदेश देते हो जिसकी प्राप्ति के लिए नेत्रों की त्रिकुटी की ओर योगी ध्यान लगाते हैं। वे प्रणायाम करके एकटक निर्निमिष दृष्टि से सूर्य की ओर देखते रहते हैं और अपने मन पर नियंत्रण रखते हैं पर ऐसी साधना हमसे संभव नहीं है चूंकि हमारा मन तो हमसे बिछुड़ कर कृष्ण के पास सिधार गया है। उस मन पर हमारा नियंत्रण कहाँ रहा?

गोपियां पूछती हैं - "रूप न रेख, बरन जाके नहिं'' उससे तुम प्रेम करने का उपदेश देते हो। पहले यह बताओ - "अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूं हो पावत।'' सूरदास का सबसे बड़ा तर्क प्रेम है जिसकी कोई लौकिक सत्ता नहीं, जिससे कोई रिश्ता कायम नहीं हो पाता, जिससे रोज़-रोज का जीवन-व्यवहार और लेनदेन नहीं है, उसके प्रति लगाव कैसे हो सकता है? उसकी भक्ति कैसे हो सकती है? जिससे कभी मिलना संभव नहीं है, उसके रूप, उसके व्यक्तित्व की धारणा ही नहीं हो पाती। इसके विपरीत जिससे संबंध बन जाता है और प्यार हो जाता है, उसके लिए अपने को उत्सर्ग करने की भावना सहज ही उत्पन्न हो जाती है :-

ऊधो प्रीति न मरन बिचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जरत अंग नहिं टारै।।
प्रीति परेवा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि कंटक आपु प्रहारै।।
प्रीति जात जैसे पय पानी जानि अनपपौ जारै।
प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक ताबि तानि सर मारै।।
प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपौ हारै?
सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की कहु कैसु निरूवारै।।

हे उद्धव! जब किसी से प्यार होता है तो प्यार करने वाला मृत्यु की परवाह नहीं करता। प्रेम के कारण पंतगा आग की लपटों में कूद पड़ता है और जल मरता है। जलते समय वह अपने अंगों को भस्मीभूत होने से बचाता नहीं। प्रेम के कारण कबूतर आकाश में ऊँचा से ऊँचा चढ़ता जाता है - और जब गिरने लगता है तो अपने को संभाल भी नहीं पाता। प्रेम के कारण ही भौंरा केतकी के फूल के अंदर बैठ जाता है और कांटों की चोट सहता रहता है। प्रीति के कारण ही पानी दूध में मिलकर आग के उबाल को सहता है और जल जाता है। वीणा की स्वर-लहरी से प्रीति के कारण एक स्थान पर बैठा हुआ हिरण शिकारी के बाण का शिकार हो जाता है। प्रीति के कारण ही माँ अपने बेटे के लिए हर प्रकार का कष्ट उठाती हुई अपने स्वत्व को होम कर देती है। गोपियाँ कहती हैं - ऐसा ही हमारा प्रेम कृष्ण के प्रति है। इस प्रेम से अब छुटकारा कहां है?

'भ्रमरगीत' को सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी अंश माना जाता है। यह एक प्रकार का उपालंभ काव्य भी है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल सगुण-निर्गुण विवाद में सूरदास के भ्रमरगीत पदों की विवेचना करते हुए इस मान्यता पर जोर देते हैं कि भक्ति शिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से - हृदय की अनुभूति के आधार पर, तर्कपद्धति पर नहीं - किया है। सगुण-निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से ले आये हैं जिससे संवाद में बहुत रोचकता आ गई है। भागवत में यह प्रसंग नहीं है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र इस सगुण-निर्गुण विवाद में सूरदास और तुलसीदास को एक तरफ रखते हैं और दूसरी तरफ नाथपंथियों, सिद्धों और संतों को रखते हैं। सवर्ण हिन्दू समाज के पंडितों - पुरोहितों पर व्यंग्योक्तियों के बाण बरसाने वाले नाथों, सिद्धों और संतों के प्रसंग में आचार्य मिश्र जी कहते हैं - ज्ञान की कोरी वचनावली और योग की थोथी साधनावली का यदि साधारण लोगों में विशेष प्रचार हो तो अव्यवस्था फैलने लगती है। निर्गुण पंथ ईश्वर की सर्वव्यापकता, भेदभाव की शून्यता, सब मतों की एकता आदि लेकर बढ़ा जिस पर चलकर अनपढ़ जनता ज्ञान की अनगढ़ बातें और योग के टेढ़ेमेढ़े अभ्यासों को ही सबकुछ मान बैठी तथा दंभ, अहंकार आदि दुर्वृत्तियों से उलझने लगी। ज्ञान का ककहरा भी न जानने वाले उसके पारंगत पंडितों से मुँहजोरी करने लगे। अज्ञान से जिनकी आँखें बंद थीं वे ज्ञान चक्षुओं को आँख दिखाने लगे।

आचार्य मिश्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि ज्ञानमार्गी धारा "लोकविरोधी धारा" थी। वे यह भी मानते हैं कि यह तत्कालीन उद्वेगजनक प्रवृत्ति ही थी जिसका उच्छेद करने के लिए सूर ने 'सागर' की ये उत्ताल तरंगें लहरायीं।

ज्ञानयोग के प्रतिपक्ष में साकार उपास्य देव के लिए प्रेमभक्ति की भावना सूर के काव्य में निर्विवाद रूप से उपस्थित है, इसमें कोई संदेह नहीं है। सूर ने सगुण-निर्गुण के विवाद में ज्ञान या योगमार्ग को संकीर्ण, कठिन तथा नीरस बताया तथा भक्तिमार्ग को विशाल राजपथ जैसा सरल और सरस माना है। विश्व की रूपविभूति और जीवनलीलाओं में मन को रमाने का जैसा अवसर भक्ति भावना के माध्यम से मिलता है, वैसा अंतःसाधना के चक्करदार, रहस्यमय और गुह्य पथ से मिलना संभव नहीं है। सूर की यही तर्क पद्धति है जो भोलीभाली गोपियों के संवाद के माध्यम से रसभरी भक्ति की रमणीयता से सराबोर है। सगुण-निर्गुण विवाद की यह द्वन्द्वात्मकता ही भ्रमरगीत प्रसंग का प्राण है।

गोपियों की प्रेममग्न तन्मयता, विह्वलता और भावना में पगी तर्कशीलता के आगे अंततः उद्धव हार मान जाते हैं। उद्धव जब लौटकर मथुरा आते हैं और श्री कृष्ण को अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाते हैं तो एक तरह से अपनी पराजय मान लेते हैं -

माधव जू! मैं अति सचु पायो।
अपने जानि संदेस-ब्याज करि ब्रजनन मिलन पठायो।
छमा करौ तौ करौं बीनती जो उत देखि हौं आयो।
श्रीमुख ज्ञानपंथ जो उचरयो तिन पै कछु न सुहायो।।
सकल निगम सिद्धान्त जन्म-भ्रम स्यामा सहज सुनायो।
नहिं स्रुति, सेष, महेस, प्रजापति जो रस गोपिन गायो।।
कटुक कथा लागी मोहिं अपनी, वा रस-सिंधु समायो।

उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषाहि बुझायो।
तुम्हरी अकथ-कथा तुम जानो हम जन नाहिं बसायो।
सूरदास सुंदर पद निरखत नयनन नीर बहायो।।

हे कृष्ण! माधव जी! मैंने ब्रज में जाकर सचमुच अति सुख प्राप्त किया - गोपियों के संसर्ग से मुझे अपार सुख मिला। आपने ज्ञान-संदेश देने के बहाने मुझे ब्रज के लोगों से मिलने भेजा था। यदि आप क्षमा करें तो मैं विनती करके उन सब बातों का वर्णन करना चाहता हूँ जिन्हें मैं वहाँ देखकर आया हूँ। आपने अपने श्रीमुख से जिस ज्ञानपंथ का उच्चार किया था, वह उन्हें जरा भी नहीं सुहाया। जन्मभर के परिश्रम के बाद जो वैदिक सिद्धांत का ज्ञान होता है, उसे तो श्यामा (राधा) ने सहज ही सुना दिया। जिस रस का गान गोपियों ने किया है, वह वेद, शेषनाग, शिव और ब्रह्मा को भी प्राप्त नहीं है। उनके सामने मुझे अपना ज्ञानमार्गी उपदेश कड़वी कथा समान लगा और मैं स्वयं ही उनके प्रेमरस के सागर में समा गया। मैंने उधर ब्रज में आपका ही रूप सर्वत्र देखा और मेरी आपके विषय में सारी तृषा - सारी जिज्ञासा शांत हो गयी। आपकी कथा वस्तुतः अकथनीय - अनिर्वचनीय सी है; उसे आप ही जान सकते हैं। हम जैसे लोग उसे जान नहीं सकेंगे। इस तरह उद्धव ने अपना वृत्तान्त सुनाने के बाद श्री कृष्ण के सुन्दर चरणों को निहारा और अपने सौभाग्य पर अपने ही नेत्रों से हर्ष से भरे आँसू बहाये।

सगुण-निर्गुण विवाद में उद्धव का यह चित्र प्रस्तुत कर सूरदास मानवीय संवेदना का एक भाव-विह्वल परिणाम दिखलाते हैं कि किस तरह गोपियों के आगे उद्धव हार कर लौटे हैं।

9.5 सूर काव्य में प्रेमाभक्ति

प्रेमाभक्ति, पुष्टिभक्ति, रागानुगा भक्ति या रागात्मिका भक्ति - ये सभी पारिभाषिक पद एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। सूर की भक्ति पद्धति को परिभाषित करने के लिए प्रायः इसी पद या शब्दावली का उपयोग किया जाता है।

वल्लभाचार्य के संप्रदाय का नाम पुष्टिमार्ग था। सूरदास को इस संप्रदाय की दीक्षा स्वयं वल्लभाचार्य ने दी थी। भगवान के अनुग्रह या भगवत कृपा के रूप में पुष्टि की व्याख्या की गई है। वल्लभाचार्य ने प्रवाह मार्ग, मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग - इन तीनो मार्गों में पुष्टिमार्ग को श्रेष्ठ बताया था। वल्लभ मत में प्रवाह मार्ग का अर्थ है दुनियादारी और सांसारिकता के भवचक्र में फंसे रहना; मर्यादामार्ग का अर्थ है वैदिक जीवन प्रणाली का अनुसरण और पुष्टिमार्ग का अर्थ है आत्मसमर्पण युक्त रसात्मक प्रेम के द्वारा भगवान की आनन्दलीला में लीन रहना। इस तरह पुष्टिमार्ग का जो भी अनुयायी होता है उसके लिए भगवान लीला पुरूषोत्तम हैं। भक्त अपनी प्रेमाभक्ति के लिए भगवान के अनुग्रह पर निर्भर करता है।

वल्लभ-मत के अंतर्गत यह मान्यता प्रचलित है कि जीवों पर अनुग्रह करने के लिए ही भगवान अवतार ग्रहण करते हैं। उनके अवतार का प्रयोजन लीला करना है। यह लीला आकस्मिक घटना नहीं बल्कि भगवान की नित्य लीला है। चूंकि भक्त की भक्ति भावना भगवान के अनुग्रह पर निर्भर करती है - अतः यह वैष्णवों की नवधा भक्ति से भिन्न है और इसकी भिन्नता स्थापित करने के लिए ही इसका नामकरण पुष्टिभक्ति के रूप में किया गया है। भक्ति की इस पद्धति में भजन-पूजन नहीं होता - बल्कि भगवान की लीला के प्रति रागात्मक लगाव होता है, गहरी अनुरक्ति होती है और सच्ची प्रेमभावना होती है। अतः इस लगाव, अनुरक्ति और सच्ची प्रेम भावना की व्यंजना करने के लिए भक्ति की इस पद्धति को रागानुगा, प्रेमलक्षणा या प्रेमाभक्ति का नाम दे दिया गया है।

पुष्टिमार्ग में भगवान के रूप में श्रीकृष्ण के परमानंद रूप की आराधना या उपासना की व्यवस्था की गई है। श्रीकृष्ण सौंदर्य, आनन्द और रस के आगार हैं। वेश-विन्यास, गृह-प्रसाधन, पाक-कला, संगीत और काव्य - सबको पुष्टिमार्ग में पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। दरअसल पुष्टि मार्गीय भक्ति गृहस्थ धर्म का निर्वाह करने वाले जन-साधारण की प्रवृत्तिमार्गी उपासना पद्धति के रूप में विकसित हुई थी। सांसारिक

आकर्षणों का निषेध करने वाला यह भक्तिमार्ग नहीं था। इसीलिए लौकिक मानवीय संबंधों के परिप्रेक्ष्य में सूर की प्रेमाभक्ति का भावसौंदर्य अच्छी तरह पुष्पित-पल्लवित हो सका था।

पुष्टिमार्गी भक्ति संप्रदाय के भीतर गृहत्यागी साधुओं की कोई व्यवस्था नहीं है। इस उपासना मार्ग के अंदर कोई कर्मकांड भी स्वीकार नहीं किया गया है। वस्तुत: इस भक्तिमार्ग में त्याग को कोई स्थान प्राप्त नहीं है; समर्पण ही सब कुछ माना गया है। सूरदास के काव्य को पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों की यांत्रिक परिणति या काव्यानुवाद के रूप में देखने की प्रवृत्ति पर अनेक समीक्षकों ने अपनी आपत्ति दर्ज करायी है। सूर के काव्य में जिस प्रेमाभक्ति की भावधारा मिलती है, उसे सांप्रदायिक अर्थों में खांटी पुष्टिमार्गीय सिद्ध करना एक दु:साध्य कार्य है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा इस प्रसंग से संबंधित विवादों में हस्तक्षेप कर यह बता चुके हैं कि सूरसागर में शुद्धाद्वैत या पुष्टिमार्ग की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग नहीं मिलता। यह स्पष्ट है कि वे शंकर अद्वैत के विरोधी थे और अद्वैतवाद के उस संशोधित रूप के समर्थक थे जिसमें भक्त और भगवान तथा भक्ति के साधन – उपकरणों की पृथक स्वीकृति भी संभव हो सके। उसे शुद्धाद्वैत कहें या द्वैताद्वैत, कदाचित इस विषय में सूरदास विशेष चिंतित नहीं थे।

सूरदास के उपास्य श्रीकृष्ण हैं जिनके प्रति गहरा अनुराग और प्रेमपूर्ण भावावेग व्यक्त करने के लिए उनके रूप, व्यक्तित्व, परिवेश, क्रियाकलाप, लीलामय स्वरूप आदि का चित्रण सहज मानवीय संबंधों के गतिमान संदर्भों के बीच से किया गया है। अपनी इस काव्य-कला की अनूठी प्रतिभा के स्फुरण के लिए वे पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों की तोतारटंत शब्दावली पर निर्भर नहीं करते। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की दृष्टि में यह ब्रजवासियों के श्रीकृष्ण संबंधी रस में भरा हुआ सागर ही सूरसागर है। ब्रज के समस्त जीवन का सार-रस --माता के हृदय का रस, पिता के सुख का रस, सखाओं के सहवास का रस, प्रियतमा गोपियों के संयोग-वियोग का रस जो संपूर्ण कृष्णमय रस हैं, यही सूरसागर है।

रागानुगा भक्ति का पुष्टिभक्ति या विशिष्टता का विवेचन डॉ. मुंशीराम शर्मा ने अपने शोधग्रंथ 'महाकवि सूरदास : एक अध्ययन' नामक पुस्तक में किया है। वस्तुत: सामाजिक विधि-निषेध की मर्यादाओं में यह प्रेमाभक्ति बंधी हुई नहीं होती। उल्लिखित पुस्तक के अंतर्गत "मर्यादाभंग और स्वच्छंद प्रेम" नामक एक उपखंड है जिसमें बतलाया गया है कि सूर की रागानुगा भक्ति की कल्लोलिनी धारा मर्यादा के तटबंध को तोड़ती-फोड़ती हुई उद्दाम वेग से बढ़ती जाती है। डॉ. मुशीराम शर्मा के शब्दों में सूर की गोपियाँ इतनी स्वच्छंद हो जाती हैं कि वे कृष्ण के हाथ से मुरली छीन कर बजाने लगती हैं। कृष्ण का मुकुट खुद अपने सिर पर धारण कर लेती हैं और कृष्ण को अपना शीश फूल पहना देती हैं। उनके वस्त्र स्वयं पहन लेती हैं और स्वयं ही कृष्ण बन जाती हैं, जबकि कृष्ण को अपना वस्त्र पहनाकर उन्हें राधा बना देती हैं। कृष्ण राधा के रूप में मान मनुहार कर बैठ गये और गोपियाँ कृष्ण बनकर उनकी मनुहार करने लगीं। पुष्टिमार्गीय भक्ति के निरूपण में मर्यादा भंग, वस्त्रों के क्रमभंग, आभूषणों के धारण में स्थान भंग जैसी स्वच्छंद नाट्यभंगिमाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने में सूरदास अद्वितीय हैं। इस प्रकार के वर्णन वस्तुत: रागानुगा भक्ति के निरूपण के अंतर्गत लीला-चित्र माने जाने चाहिए। रास लीला, होली लीला, जलकीड़ा आदि में भी इसी प्रकार के स्वच्छंद संबंध के वर्णन अनेक स्थलों पर रेखांकित किये जा सकते हैं। राधा कृष्ण से हठ करती हैं कि वह उसे अपने कंधों पर बिठायें। लौकिकता के आश्रय में ही प्रेम दिव्य आभा ग्रहण कर आलोकित हो जाता है।

सूरसागर में इस प्रेमलक्षणा भक्ति का सांगोपांग चित्रण हुआ है- कहना चाहिए कि प्रेम के प्रारंभ, विकास और उसकी चरम परिणति - सभी भावदशाओं के चित्रों से सूरकाव्य भरा पड़ा है। रागानुगा भक्ति को प्रेम की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया गया है। 'भक्ति रसामृत सिंधु' नामक श्री रूपगोस्वामी के भक्तिशास्त्र संबंधी ग्रंथ में रागानुगा भक्ति को अंतिम सीढ़ी माना गया है। कृष्ण के प्रति राधा या गोपियों का प्रेम इस कोटि का है। 'भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य' नामक डॉ. मैनेजर पांडेय के शोधग्रंथ में सूरदास की भक्तिभावना का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। उनकी मान्यता है कि माधुर्यभाव की मधुर भक्ति रागात्मिक भक्ति का श्रेष्ठ रूप है। इस मधुर शक्ति का स्थायी भाव माधुर्य, कांता रति या मधु रति है। इस माधुर्य भाव की भक्ति का चरम रूप राधा तथा अन्य गोपियों से कृष्ण के स्वच्छंद प्रेम संबंध में व्यक्त हुआ है। सूरसागर में स्त्री-पुरूष संबंधों के बीच सामाजिक

मर्यादाओं के बंधन से बंधा हुआ संस्कार कहीं भी परिलक्षित नहीं होता बल्कि स्वकीया-परकीया की नायक-नायिक भेद वाली शास्त्रीय दृष्टि से मुक्त यह प्रेमाभक्ति है। मैनेजर पांडेय ने ठीक ही कहा है कि राधा और कृष्ण परम चैतन्य के ही दो रूप हैं। उनका प्रेम पुरातन है। वे सनातन हैं और उनका यह लौकिक रूप लीलारूप है। उनकी गुप्त लीला शाश्वत है, प्रेम शाश्वत है, लेकिन इस प्रकट लीला में लोकलाज एवं कुलकानि की चिंता है। रासलीला में राधा नायिका हैं। वे रास के मध्य विराजमान हैं। कृष्ण जगनायक हैं और राधा जगदीश प्रिया, जगतजननी और जगत रानी है। वृंदावन में राधाकृष्ण का विहार नित्य है। रासलीला में राधा स्वकीया है। वे दोनों मूर्तिमान राग-रागिनी हैं। रासलीला में राधा जीव है और सभी गोपियां देह। राधा गोपियों की आत्मा है। रासलीला के पश्चात ग्रीष्म लीला, युगल समागम, मान लीला, दम्पति विहार, खंडिता प्रकरण, झूलन और वसंतोत्सव के सहारे राधा कृष्ण की प्रेमलीला चलती है।"

यह उल्लेखनीय है कि प्रेमाभक्ति सिर्फ संयोगावस्था में ही नहीं होती। वियोग के क्षणों में भी प्रेमी की स्मृति सताती रहती है और आंखों में प्रेमी का नित्य लीला स्वरूप जगमगाता रहता है। डॉ. पांडेय तो विरह दशा में ही प्रेमाभक्ति की तन्मयता का उत्कर्ष मानते हैं। उनके अनुसार सूरदास ने सिद्धांत रूप में भी प्रेम में विरह की दशा की आवश्यकता पर बल दिया है। वियोग प्रेम की सिद्धावस्था है। वह चित्त की समाधि अवस्था है जहाँ तन्मयता, तद्रूपता और तल्लीनता का चरमोत्कर्ष दिखाई पड़ता है।

9.6 सूरदास की भाषा और रूप विधान

सूरदास भी भक्तिकाल के समानधर्मा कृतिकारों की तरह ही 'भाखा' के कवि थे। उन्होंने स्वयं अपनी रचनाएँ लिखी नहीं थीं। उनकी विनम्र आत्मस्वीकृति है कि भागवत के द्वादस स्कंधों को उन्होंने भाखा के पदों में गाकर कहा है - सूरदास सोई कहे, पद भाखा करि गाइ।। - यह बहुत ही महत्वपूर्ण उक्ति है।

तेरहवीं सदी के बाद से लगातार आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के प्रमाण मिलते हैं। ब्रजभाषा भी हिन्दी क्षेत्र की एक आधुनिक भारतीय भाषा है। सूरदास अपने पदों की रचना इसी जनभाषा में करने लगे, इन पदों को गाकर सुनाने लगे - ये पद संगीत के सुरों में ढले हुए थे। धीरेन्द्र वर्मा यह मानते हैं कि ब्रजभाषा का साहित्य में प्रयोग सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ से मिलता है, जब ब्रजप्रदेश में गौड़ीय वैष्णव और वल्लभ संप्रदाय अथवा पुष्टिमार्ग के केन्द्र स्थापित हुए। सूरदास साहित्यिक ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे। उनके उपरांत हिन्दी प्रदेश के लगभग समस्त कृष्णभक्त कवियों ने अपनी रचनाएँ ब्रजभाषा में ही लिखीं, जिसके फलस्वरूप ब्रजभाषा हिन्दी प्रदेश की प्रमुख साहित्यिक भाषा बन गयी। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी का हिन्दी रीति साहित्य भी ब्रजभाषा में ही लिखा गया। यह भक्तिकाल की ब्रजभाषा का अधिक परिमार्जित और साहित्यिक रूप है तथा इस पर पूर्वी ब्रज (कन्नौजी) का प्रभाव कुछ अधिक मिलता है।

ब्रजभाषा में रची गई सूरदास की पदावली पर विचार करते समय सबसे पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इस बात की ओर ध्यान गया कि इतनी "परिष्कृत और परिमार्जित भाषा" के पीछे कोई काव्यपरंपरा अवश्य ही होनी चाहिए । उनकी टिप्पणी थी सूरसागर की रचना इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण है कि आगे होने वाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं। अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीतिकाव्य परंपरा का - चाहे वह मौखिक ही रही है - पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।

उपर्युक्त दोनों विद्वानों की टिप्पणियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा में काव्य-परंपरा का सूत्रपात सूरदास ने ही किया था। उनके पहले के किसी भी ब्रजभाषा कवि की कोई उल्लेखनीय कृति का उल्लेख तक नहीं मिलता है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह के शोधग्रंथ 'सूरपूर्व ब्रजभाषा' में भी ऐसी किसी उल्लेखनीय कृति का प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि सूरदास के पहले

ब्रजभाषा की साहित्यिक परंपरा का अस्तित्व था और सूरदास ने उस परंपरा से सीख कर अपनी भाषा और काव्य शैली का परिष्कार किया था। डॉ. मैनेजर पांडेय के सूरदास संबंधी शोधग्रंथ से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। उनकी मान्यता है कि सूरदास कवियों के कवि इसलिए भी हैं कि उन्होंने ब्रजभाषा काव्य की जो परंपरा निर्मित की, वह बाद के लगभग चार सौ वर्षों तक चलती रही। सूर को समाज और साहित्य से जो ब्रजभाषा मिली थी उसे पहले से अधिक विकसित, परिष्कृत और अभिव्यंजक बनाकर उन्होंने बाद के कवियों को सौंपा।

सूरदास का काव्य ब्रज प्रदेश की लोक संस्कृति और उसकी वाचिक परम्परा से प्राण शक्ति खींचकर पला, बढ़ा और परिष्कृत हुआ था। सूरसागर के पद संगीत की स्वरलहरी की आवश्यकताओं के अनुसार ढले और रचे गये प्रतीत होते हैं। श्रोतामंडली को सुनाने के लिए ये पद कहे और गाये गये थे। लिखित पाठ के रूप में इनका सृजन न होना यह बतलाता है कि श्रुतिमधुर शब्दमैत्री, सुर और ताल के आग्रह और लोक कंठ की धुनों के प्रचलित रूपों से इन पदों की गेयता काव्यबंध और छंद का गहरा रिश्ता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की इस प्रसंग से संबधित उक्ति अविस्मरणीय है कि आचार्यों की छाप लगी हुई आठ वीणाएँ श्री कृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी। सूरसागर के पदों की ब्रजभाषा का प्रगीतात्मक स्वरप्रवाह भक्तिकालीन काव्यसृजन की प्रक्रिया में संगीत के निर्णायक अनुरोध और अनुशासन का महत्व भी दरसाता है। आज भी बड़े से बड़े गायक ब्रजभाषा, अवधी और मैथिली के ही भजन या पद गाते हैं। इस तथ्य से यह संकेत मिलता है कि मध्यकाल की वाचिक परंपरा का संगीत से अविच्छिन्न संबंध था।

सूरदास के पदों में लोकसंगीत और शास्त्रीय संगीत - दोनों की राग-रागिनियाँ उपलब्ध होती हैं। डॉ. मनमोहन गौतम का अनुमान है कि श्रीनाथ जी के मंदिर में गाये जाने वाले कीर्तन की रचनाओं को सुनने वाले दोनों प्रकार के श्रोतासमूह वहाँ मौजूद होते थे। अत: "जैसा समुदाय होता था, उसी के अनुरूप सूरदास जी भजन गाते थे।"[1]

9.6.1 सूर की काव्य भाषा

सूरकाव्य की सर्जनात्मक बनावट और कलात्मकता के निर्माण में भाषासौष्ठव का अपूर्व योगदान है। समग्र काव्यार्थ की निर्मिति में काव्यभाषा एक संश्लिष्ट उपादान की तरह होती है। सूरसागर की काव्यभाषा के सौंदर्य, नाद तत्व और व्यंजकता को देखकर आचार्य रामचंद्र को आश्चर्य हुआ था। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानो दीर्घ काल से चली आ रही किसी मौखिक काव्य-परंपरा में सूरदास दीक्षित हुए हों। उनकी उक्ति अविस्मरणीय है-

ध्यान देने की बात है कि चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण, कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ उनकी जूठी जान पड़ती है।

ब्रजक्षेत्र की जनपदीय बोली किस तरह एक विकसित काव्यभाषा का रूप ग्रहण करती है, यह एक अलग समस्या है, जिसपर भाषाशास्त्र के विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। यहाँ सूरदास के प्रसंग में पहली बात ध्यान देने की यह है कि सूर की काव्यभाषा ब्रजक्षेत्र की रोजमर्रा की बोलीबानी से अलग नहीं है। पहले से चली आती हुई मौखिक गीत-परंपरा और ब्रज क्षेत्र की दिनचर्या की ठोस संवादमयता - इन दोनों को एक अंधे कीर्तनकार ने किस तरह अंत: गुम्फित किया, किस तरह उसे अर्थव्यंजना की दृष्टि से परिष्कृत किया और हजारों पदों की रचना कर पंद्रहवी-सोलहवीं सदी में संस्कृति के उच्चतर आसन पर ब्रजभाषा को प्रतिष्ठित कर दिया - इन सभी पहलुओं का विद्वानों ने बार-बार उल्लेख किया है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सूर की काव्यभाषा का अपूर्व सामर्थ्य बतलाते हुए मूलत: दो कसौटियों को निर्णायक मानते हैं - (क) शब्दों की मितव्ययिता तथा (ख) चित्रमयता। इन दोनों ही कसौटियों पर

सूरकाव्य की परख करते हुए वे कहते हैं - **सूरदास में ये दोनों गुण हैं। दूसरे गुण में तो सूरदास की समता संसार के कुछ ही कवि कर सकते हैं।**

सूर के पदों का काव्योत्कर्ष मूलत: वक्रोक्ति, श्लेष, व्यंग्यार्थ और माधुर्य गुण से संपन्न शब्दमैत्री पर निर्भर करता है। कला की दृष्टि से इतनी समृद्ध काव्यभाषा बोलचाल और दैनंदिन बातचीत की नाटकीयता के बिना संभव ही नहीं हो पाती। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विभावना, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार सूर की काव्यभाषा में सहज ही उमड़े चले आते हैं। चूँकि ऐंद्रिक चित्रों की रचना में वे अपूर्व कलाकौशल का परिचय देते हैं, अत: सूरसागर की पदावली चित्रमयता से जगमग करती रहती है। साधर्म्यमूलक अलंकार सूर की सम्मूर्त्तन कला के उपादान बनकर आते हैं। मानव आचरण, विश्वसृष्टि और ब्रज की ग्रामीण प्रकृति से सूरदास अपने उपमान चुनते हैं। ये उपमान कृतिकार के अभिप्रेत कथ्य और उसकी काव्यवस्तु को श्रोता या पाठक के सम्मुख ऐंद्रिक रूप में प्रस्तुत देते हैं। सूरदास इस कला के उस्ताद माने जाते हैं।

तोक्यो विश्वविद्यालय, जापान के एक विद्वान प्रोफेसर तकुशोकू ने सूरसागर की काव्यभाषा के अनुशीलन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है - **सूरसागर के अंदर साहित्यिक भाषा संस्कृत और लोकभाषा ब्रज के बीच विशेष विरोध का न होना या, दूसरे शब्दों में, दोनों का समन्वेय होना नीचे दी हुई प्रक्रियाओं से संभव हुआ होगा।**

(1) **संस्कृत शब्दों को ग्रहण करने में सूरदास ने ऐसे शब्दों को प्राथमिकता दी जिनकी ध्वनि-व्यवस्था ब्रजभाषा की दृष्टि से सरल हो। अत: जहां तक इस वर्ग के शब्दों का संबंध है गृहीत संस्कृत तत्सम शब्द और ब्रजभाषा में कम अंतर आया है।**
(2) **जब सूरदास जटिल ध्वनि व्यवस्था वाले संस्कृत शब्द ग्रहण करने को बाध्य हुए तो उन्होंने उन शब्दों को ब्रजभाषा के गठन के अनुरूप बदल दिया।**

व्यंजन-गुच्छ युक्त तत्सम शब्द 'दुग्ध', 'हृदय', 'कृष्ण' आदि के बजाय दूध, हिय, कान्ह, कन्हैया, वगैरह के प्रयोग ही सूरदास को भाते हैं। नँद, आँखि, नहिं, भईं, कुंवर, क्यौं, मोकौं जैसे प्रयोगों से स्पष्ट है कि सूर की भाषा में ध्वनिव्यवस्था की दृष्टि से आनुनासिकता की ही भरमार है। ब्रजभाषा के सभी व्यंजन सूर के काव्य में प्रयुक्त हुए हैं - उदाहरण के लिए 'य' के स्थान पर 'ज', 'व' के स्थान पर 'ब', 'श' के स्थान पर 'स'।

सूरकाव्य में अरबी-फारसी की शब्दावली भरी पड़ी है। ब्रजभाषा ने इस शब्दावली को पचा लिया है; जैसे - अबीर, अमीर, खसम, जबाब, मुसाहिब, अकल, खबर, खरच, खवास, गुलाम, जमानत, जहाज, तलफ, दगा, सन्दूक, महल, फौज, जौहर, गुमान, दस्तक, सरदार, दीवान, मेहमान आदि।

क्रियाव्यापार की अभिव्यक्ति में सूर ने ब्रजक्षेत्र की रोजाना बोलचाल में रचे बसे ध्वन्यात्मक शब्दों का सार्थक उपयोग किया है - अरबराइ, कलमलात, किलकना, गहगहात, घहरानि, चटचटात, झुनझुन, धकधक, झपतार, झमकत, झमकिन आदि सैकड़ों शब्द सहज ही मिल जाते हैं। 'सूरदास' नाम से डॉ. हरबंस लाल शर्मा ने जिस पुस्तक का संपादन किया है, उसमें डॉ. कैलास चंद्र भाटिया का निबंध संकलित है। इस निबंध में सूर की भाषा पर विस्तार से विचार किया है। डॉ. भाटिया से भिन्न स्तर पर डॉ. मैनेजेर पांडेय का विश्लेषण खास तौर पर उल्लेखनीय और पठनीय है। सूरदास पर लिखित अपनी पुस्तक में उन्होंने सूर की अभिव्यक्ति के स्वरूप की छानबीन करते हुए भाषा के बारे में विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। कलात्मक स्तर पर सौंदर्यानुभूति की दृष्टि में सूर की काव्य भाषा की विशेषता पर उनकी टिप्पणी है- **सूरदास रूपकप्रधान चिंतन के सहारे ही अलंकारों का प्रयोग करते हैं और बिम्ब, प्रतीक, अन्योक्ति आदि की रचना भी करते हैं। इस पद्धति से काव्यभाषा में वाग्विदग्धता, उपचारवक्रता और अभिव्यक्ति के सौंदर्य का विकास हुआ है।"**

छंद

सूरसागर के पदों में जहाँ भी वर्णन या कथा की प्रमुखता है, वहाँ दोहा, रोला अथवा रोला-दोहा का मिश्रित रूप तो मिलता ही है, दोहा-चौपाई के मिश्रण से निर्मित नवीन छंद रूपों का भी प्रयोग मिलता है। प्रगीतात्मकता अथवा गेयता के अनुरोध से छंदों के मिश्रित अथवा नये रूप उपयोग में लाये गये हैं।

जहाँ नाटकीय उतार-चढ़ाव वाले घटनाप्रसंग हैं, उदाहरण के लिए दानलीला आदि में, वहाँ रोला-दोहा का मिश्रित छंद मिलता है। पदरचना के अंत में दस मात्राओं की एक पंक्ति जोड़कर गेय पद को और भी मनोहर बना दिया गया है।

सूरदास ने दोहा और चौपाई छंदों में भावप्रवाह की रक्षा के लिए दोहा-चौपाई छंदों में भी जगह-जगह नये ढंग से परिवर्तन किये हैं। उदाहरण के लिए फाग और होली के वर्णनों में ब्रज लोकगीत और संगीत का सम्मोहक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अनेक स्थलों पर मात्राओं में परिवर्तन किये गये हैं। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा का अनुमान है कि कदाचित सूरदास ने ही सबसे पहले चौपाई की दो अर्धालियों के बाद 13 मात्राओं की एक पंक्ति जोड़कर एक त्रिपदी छंद का प्रयोग किया था। बाद में सूर के प्रयोगों की प्रभावोत्पादकता और मनोहारिता को देखकर राधा बल्लभ संप्रदाय के कवियों में खासकर सेवक जी, हरिराम व्यास, चतुर्भुज दास आदि ने इसका खूब प्रयोग किया।

दोहा को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी का जातीय छंद मानते हैं। कृष्ण-काव्य परंपरा में इस छंद का अत्याधिक उपयोग सबसे पहले सूरदास ने ही किया था। सूरसागर में अनेक पद ऐसे हैं जिनमें सूक्तियों के रूप में मार्मिक वक्तव्य दोहा छंद में ही प्रस्तुत किया गया है। दोहे के कलात्मक उपयोग के प्रमाण के रूप में 'सूर पच्चीसी' की चर्चा की जाती है, चूंकि ये पच्चीसों दोहे अपने आप में एक स्वतंत्र काव्यखंड भी हैं और इसके एक-एक दोहे पृथक-पृथक भी अपनी सार्थकता रखते हैं।

सूरसागर में कवित्त, सवैया, छप्पय, कुंडलिया, हरिगीतिका, अरिल्ल आदि का भी अनेक स्थलों पर कथा, भाव या संगीत के अनुरोध से उपयोग किया गया है।

सूरसागर में छंदों की विविधता है। गीतिकाव्य में नयी उद्भावनाओं के अनुसार छंदों के नये-नये प्रयोग कृष्णभक्त कवियों ने ही किये थे। सूरदास इस परंपरा के सूत्रधार और प्रवर्त्तक थे।

9.6.2 सूर काव्य का रूप विधान

सूरसागर अथवा महाकवि सूरदास के काव्य का रूपविधान क्या गीतिकाव्य जैसा है या प्रबंधकाव्य जैसा? अथवा इसमें दोनों का सह-अस्तित्व है? आभ्यंतरिक अभिव्यंजना और कथावाचन की शैली में वर्णनात्मकता – इन दोनों के जटिल संयोजन से सूरसागर की पदावलियाँ रूपविधान के विश्लेषण की दृष्टि से समालोचकों के लिए अभी भी गुत्थी बनी हुई हैं।

रामायण, महाभारत आदि की तरह अथवा रामचरितमानस के समान सूरसागर का कथानक सुसंगठित और सुसम्बद्ध नहीं है। महाकाव्य में कोई एक कथा होती है, उसका नायक होता है और घटनाओं का क्रम विकास होता है। अगर इस दृष्टि से देखें तो सूरसागर में भी एक कथा है, उसका नायक है और घटनाओं का आरोह-अवरोह भी है। पर मात्र इतनी समानता से सूरसागर को क्या हम महाकाव्य की संज्ञा दे सकते हैं? नहीं, इसे हम महाकाव्य नहीं मान सकते। हिन्दी समालोचना में अभी तक किसी ने भी इसे प्रबंधकाव्य या महाकाव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है। इसके पीछे मुख्य कारण है सूरसागर के कथानक की विशृंखलता। पर इस विशृंखलता के बावजूद इसमें कथाकृति का आस्वाद और उसकी सरसता आदि से अंत तक है। इसमें कथा का नियोजन सर्गबद्ध नहीं है; इसकी कथा कांडों में भी विभाजित नहीं है। इसकी कथा का ढाँचा पुराणों में निबद्ध संरचना का अनुसरण करता है – अर्थात् श्रीमद्भागवत के समान इसकी कथायोजना भी बारह स्कंधों में बँटी हुई है। ऊपर से देखने पर बारह स्कंध तो हैं, पर वास्तविकता में इसकी कथासंरचना लीलाप्रसंग का अनुसरण करती है। डॉ. मैनेजर पांडेय की दृष्टि में लीलाक्रम के अनुसार सूरसागर को सात भागों में बाँटा जा सकता है – (1) विनय के पद, (2) बाललीला, (3) वृन्दावन लीला, (4) माधुर्य लीला (अनुराग, चीरहरण, पनघटलीला, दानलीला, रासलीला और विरह लीला), (5) मथुरा लीला (6) द्वारिका लीला और (7) अवतार लीला। सूरसागर में कथारस का अव्याहत प्रवाह उसके कथानक की एकात्मकता का प्रमाण है। "अव्यावहत कथारस" और "प्रगीतात्मकता" – दोनों की उपस्थिति के कारण कुछ समीक्षक इसे "गीतात्मक महाकाव्य" की संज्ञा देते हैं। ऐसे समीक्षकों में उल्लिखित डॉ. मैनेजर पांडेय भी हैं। उनकी मान्यता है कि इसका महाकाव्यत्व इसके आकार में कम, इसकी आत्मा के रूप में अधिक है। अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण सूरसागर एक नये प्रकार का महाकाव्य है। यह साहित्य की शास्त्रीय परंपरा से स्वतंत्र लोकगीतों का संरचना के अनुसार रचित गीतात्मक महाकाव्य है।

9.6.3 सूर काव्य में प्रगीतात्मकता

सूरदास की ख्याति मुक्तक रचनाकार के साथ-साथ गीतकार के रूप में भी रही है। यह माना जाता है कि सूर के अधिकांश पद प्रगीतात्मक अर्थात लिरिकल हैं। अंग्रेजी में काव्य के रूपविधान के विविध प्रकारों में लिरिक को बहुत महत्वपूर्ण माना गया है। रोमांटिक काव्यांदोलन के पहले भी अंग्रेजी में लिरिक या प्रगीत की रचना की गई थी, पर रोमांटिक कवियों द्वारा लिखित गीतों की कलात्मक विवेचना के बाद इसकी महत्ता क्रमशः बढ़ती गई है। हिन्दी के छायावादी काव्य की समालोचना के क्रम में प्रगीतात्मकता, आत्मपरकता और गेयता - इन तीनों काव्य-तत्वों की अक्सर चर्चा सुनायी पड़ती है। मध्यकाल के भक्तिगीतों, भजनों और कीर्तनों के कला-रूपों की पहचान की कोशिश में गीत या प्रगीत के रूपबंध की छानबीन की गई है और यह माना जाने लगा है कि सूर के अधिकांश पदों में गीतात्मकता है। ये गाये जाने के लिए रचे गये थे। इनमें भावानुभूति की गहरी आंतरिकता है।

दरअसल काव्य-बंध या रूपविधान का कोई सार्वकालिक, सार्वभौम, शाश्वत और सनातन स्वरूप नहीं होता है। हिन्दी में गीत जैसी काव्य-विधा अलग-अलग समय के विशिष्ट साहित्यिक-सामाजिक संदर्भों में अपना स्वरूप बदलती रही है। अन्य भाषाओं और बोलियों की लिखित या वाचिक परंपराओं से आदान-प्रदान के क्रम में भी गीत नामक इस कला-विधा ने भिन्न-भिन्न काल में नयी अभिव्यक्ति प्रणाली की तलाश की है। उदाहरण के लिए हम जयदेव, विद्यापति, चंडीदास आदि की गीत परंपरा में ब्रजप्रदेश को अंदर विकसित गीतात्मक पदावली की सृजन प्रकृति की विवेचना कर सकते हैं।

सूर काव्य के रूपविन्यास के विश्लेषण की प्रक्रिया में यह बताया जाता है कि 'प्रगीत' की जो खास पहचान है, उस कसौटी पर सूर के पद खरे नहीं उतरते। यह उल्लेख किया जाता है कि प्रगीत में वर्णनात्मकता नहीं होनी चाहिए, कोई आख्यान या कथातत्व नहीं होना चाहिए। पर सूरसागर के अधिकांश पदों में वर्णनात्मकता के साथ-साथ कथातत्व भी है। डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने सूर काव्य के गीतितत्व की व्याख्या करते हुए उल्लिखित गुत्थी को सुलझाया है। उनकी मान्यता है कि **कृष्ण काव्य के बृहद आकार में ऐसा अंश भी है जिनके गीतिपदों में गीतिकाव्य के बहुत कम लक्षण मिलेंगे, जिनमें न तो कवि की गहन स्वानुभूति होगी, न भाव की संहति तथा जिनमें भावात्मकता के स्थान पर वर्णनात्मकता ही अधिक होगी। स्वयं 'सूरसागर' में अनेक लम्बे और वर्णनात्मक पद हैं जिनमें घटना और इतिवृत्त की प्रधानता तथा भाव की न्यूनता और विश्रृंखलता है।**

वस्तुतः ये पद गेय भी नहीं है और न वे कवि की किसी गहरी अनुभूति को ही व्यक्त करते हैं। परन्तु कृष्णकाव्य में गीतिपदों की लोकप्रियता और सफलता का ही यह एक प्रमाण कहा जाएगा कि वर्णनात्मक कथा प्रसंगों को भी गीतिपदों की शैली में रचा गया है।

कृष्णकाव्य के गीतिपदों की अंतिम किंतु सबसे अधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसमें स्वानुभूतिमूलक भावाभिव्यक्ति के साथ-साथ कृष्णकाव्य के अनेक प्रसंगों का प्रायः क्रमबद्ध रूप में वर्णन मिलता है। 'सूरसागर' में गोपाल कृष्ण की संपूर्ण कथा प्रायः पदों में ही गाई गई है। जैसा कि पीछे कहा गया है, 'सूरसागर' के गीतिपदों में वर्णित संपूर्ण कृष्णलीला में एक सामान्य कथानिबद्ध प्रबंधात्मकता अपने पूर्ण रूप में है। उसके अंतर्गत विशिष्ट कथानकों को गीतिपदों की शैली में ही और अधिक सुसंबद्धता और पूर्वापर प्रसंग-संदर्भ के साथ रचा गया है; यहाँ तक कि उन्हें प्रसंग से भिन्न करके समझने में प्रायः भूल हो सकती है, और फिर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इन पदों में भी गीति तत्व प्रायः अक्षुण्ण रहा है। कृष्णकाव्य की यह अतुलनीय विशेषता है कि उसमें प्रबंध और गीति के परस्पर विरोधी लक्षण एकाकार हो गये हैं।

काव्य के पुराने प्रचलित रूप-विधानों में महान कृतिकारों की सर्जना शक्ति और उनकी नई उद्भावनाओं से परिवर्तन होते रहे हैं। प्रगीत के स्वरूप और रचनातंत्र में सूरदास तथा अष्टछाप के अनेक रचनाकारों ने ऐसा ही परिवर्तन किया है। संभवतः इसीलिए डॉ. मनमोहन गौतम ने अपने निबंध 'सूर के गीतिकाव्य का स्वरूप विश्लेषण' में यह निष्कर्ष निकाला है कि उनकी "गीतपद्धति अनेक तात्विक विरोधों का सहज समन्वय है।" उनका तर्क है कि सूर का समस्त काव्य राधाकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है और चूँकि ये वर्णन राग-रागनियों में ढले हुए हैं, अतः इन्हें हम वर्णनात्मक गीतिकाव्य की संज्ञा दे सकते हैं। इन गीतों में भक्त सूरदास का आत्मनिवेदन कभी [illegible] रूप में और

कभी कृष्ण-कथा के भिन्न-भिन्न पात्रों के माध्यम से व्यक्त होता है। अत: इन प्रगीतों में भक्त सूरदास की आत्माभिव्यंजना भी तीव्रतर रूप में व्यक्त हुई है। डॉ. मनमोहन गौतम सूरदास के प्रगीत कौशल की व्याख्या करने के क्रम में यह उल्लेख करते हैं सूर के पदों में रागात्मक अन्विति का सफलतापूर्वक निर्वाह मिलता है। उन्हीं के शब्दों में - रागात्मक अन्विति गीतिकाव्य की धुरी है। पद में एक ही भाव आदि से अंत तक विद्यमान रहता है। इसी अन्विति के कारण गीत अपने में सर्वथा पूर्ण होता है। पूर्वापर संबंध की अपेक्षा नहीं होती - गीत की अन्विति तभी श्रेष्ठ होती है जब उसमें विचारों की बौद्धिकता एवं इतिवृत्तात्मकता का अभाव हो। सूरदास जी के गीतों में भाव और स्वरों की संगति प्राय: प्राप्त होती है।

आत्माभिव्यंजना या आत्मपरकता, एक भाव की अन्विति तथा गेयता - इन तीन तत्वों के कारण सूरदास के गीत लोकप्रिय हुए हैं। पर सूरकाव्य की प्रगीतात्मकता के विवेचन के क्रम में संगीतज्ञ सूरदास के गायन और वादन को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। "सूरकाव्य में शब्द और स्वर की समवेत परम्परा" शीर्षक डॉ. अम्बाशंकर नागर के निबंध में बताया गया है कि सूर उत्कृष्ट कोटि के संगीतज्ञ थे। उन्होंने पदों की रचना राग-रागनियों एवं तालों के आधार पर की थी। वे कीर्तनिये थे। पुष्टिमार्गीय सेवा पद्धति में अष्टयाम सेवा एवं कीर्तन का विशेष विधान है। सूर ने विशेष तथा संकीर्तन के हेतु ही विभिन्न रागिनियों एवं तालों में श्रीकृष्ण की लीलाओं के ध्रुवपदों की रचना की थी।

डॉ. नागर का अनुमान है कि बहुत प्राचीनकाल से काव्य और संगीत की समवेत परंपरा चली आ रही थी। सूरदास उसी पुरानी परंपरा की एक मजबूत कड़ी थे, चूँकि उनके कृतित्व में काव्य और संगीत का समागम है। भक्तिकाल के संदर्भ में डॉ. रामविलास शर्मा ने भी काव्य और संगीत के गहरे संबंधों की पड़ताल की है। "भारतीय साहित्य की भूमिका" नामक अपनी नई पुस्तक में उन्होंने "संगीत का इतिहास और भारतीय नवजागरण को समस्याएँ" नामक एक लम्बा अध्याय लिखा है। इसी में 'ध्रुवपद और सूरदास' शीर्षक एक छोटी सी टिप्पणी भी है। चार पंक्तियों के अक्षरप्रधान गीत ध्रुवपद के रूप में सूरदास द्वारा गाये जाते थे। रामविलास शर्मा ऐसे गीतों के नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीत के एक प्रकार अर्थात ध्रुवपद के रूप में अविस्मरणीय महत्व की चीज़ मानते हैं। उनकी टिप्पणी है - मुख्य बात यह है कि सूरदास के लिए गायन, वादन और नृत्य - तीनों संगीत की समन्वित इकाई हैं।

सूर की पदावली अथवा उनके प्रगीतों में संगीत तत्व की उपस्थिति पर रामचंद्र शुक्ल का भी ध्यान गया था। उन्होंने कहा था - सूर की रचना जयदेव और विद्यापति से गीतकाव्यों की शैली पर है, जिसमें सुर और लय के सौंदर्य या माधुर्य का भी इस- परिपाक में बहुत कुछ योग रहता है। सूरसागर में कोई राग या रागिनी छूटी न होगी, इससे या संगीत प्रेमियों के लिए भी बड़ा भारी खजाना है।

भक्तिकाल में लिखे जाने वाले प्रगीतों में गेयता को एक अनिवार्य अवयव के रूप में स्वीकार किया जाता था। अत: सभी भक्त कवियों के गीत संगीत की स्वरलहरी में ढाल कर रचे गये हैं। प्रगीत रचना की दृष्टि से सूरदास के गीतकाव्य के स्वरूप निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान सूरपूर्व ब्रजभाषा के कवियों का है। सूरपूर्व ब्रजभाषा के कृष्णलीला विषयक पदों के रचयिताओं में निम्बार्क संप्रदाय के तीन कवि - श्री भट्ट (सं.1352 वि.), हरिव्यास देवाचार्य (सं. 1320 वि.) और परशुराम देव (सं. 1450 वि.) उल्लेखनीय हैं। सूरपूर्व ब्रजभाषा काव्यपरंपरा पर अपने शोधग्रंथ में डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने उल्लिखित कवियों के अतिरिक्त विष्णुदास का भी उल्लेख किया है जिन्होंने सूरदास से पचास साल पहले ही राग-रागिनियों में निबद्ध पदों की रचना की थी। इसके अलावा ब्रजक्षेत्र के ग्रामगीतों और लोकगीतों का भी सूर पर गहरा प्रभाव दिखाई देता है। इन ग्रामगीतों और लोकगीतों में लीलापदावली और रासलीला की नृत्यगायन परंपरा का प्रभाव विभिन्न रूपों में आकर मिश्रित हो गया होगा - ऐसा अनुमान क्षितिमोहन सेन और हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है। रासलीला के नृत्य-क्षण में गाये जाने वाले ध्रुपदों की रचना सूरदास ने की थी। शरदोत्सव में रासलीला के गीत, झूलन प्रसंग में झूले के गीत, पावस ऋतु में सावन भादो के गीत, वसंतोत्सव, फाग, होली आदि के गीत सूरसागर में भरे पड़े हैं। चांचर, झुमका, होरी, धमार, के गीतों के माध्यम से प्रेमोन्मत्त गोप-गोपियों के दृश्यचित्र भी सूरसागर में विविध रूपों में आये हैं। इनके अलावा कृष्ण जन्मोत्सव के समय के बधाई गीत, सोहिलौ, मंगलगीत, नामकरण; अन्नप्राशन, वर्षगांठ कर्णछेदन आदि के संस्कारगीत भी सूरसागर में हैं। पर्व त्योहारों में

गोर्वधन पूजा, दीपमालिका, अन्नकूट आदि के गीतों से ब्रज लोकसंस्कृति की बहुरंगी छवि अंकित होती है।

श्री नाथ जी के मंदिर में प्रात: काल के जागरण से लेकर रात्रि काल के विश्राम तक अष्टयाम कीर्तन गीत गाये जाते थे – उनके साथ वाद्यसंगीत की भी व्यवस्था थी। ये कीर्तन गीत राग-रागिनियों में निबद्ध होते थे। बौद्धों के महायान पंथ के साथ सामूहिक कीर्तन की प्रथा आरंभ हुई। बाद में चैतन्य महाप्रभु ने इसे उत्तर भारत में व्यापक रूप से फैलाया। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में कीर्तनसेवा को विशेष महत्व प्रदान किया गया था और सूरदास को खास तौर पर इसी कार्य के लिए मंदिर में नियुक्त किया गया था। सूरसागर में ऐसे सैकड़ों पद हैं जो मूलत: श्रीकृष्ण की लीला का कीर्तन करती हैं – कहीं आख्यान के रूप में, कहीं वर्णन के रूप में, कहीं स्तुति के रूप में। कीर्तन गीतों में एक ही स्थिति या लीला के वर्णन में आवृत्ति भी होती है। डॉ. सत्येन्द्र तो संपूर्ण सूरसागर को "कीर्तनकाव्य" की संज्ञा देते हैं। कथा कहने के लिए सूरदास प्राय: बिलावल राग में कीर्तन गाते थे। इससे स्पष्ट है कि सूर की काव्य रचना में संगीत कितना निर्णायक महत्व रखता था।

सूर के पद नृत्य की गति और स्वरलहरी का अनुसरण करते हैं। सूरसागर . रासलीला के अनेक पद हैं। रासनृत्य मंडलाकार होता है। उसमें नर्तकी की प्रधानता होती है। रासनृत्य के बीच कोई गीत भी गाया जाता है और मंडलाकार नर्तक-नर्तकी समूह के बीच केंद्र में राधा और कृष्ण की उपस्थिति होती है। रास के साथ उससे मिलता–जुलता हल्लीसक नृत्य का भी उल्लेख मिलता है। बाद में रासनृत्य का ही यह भी एक प्रकार माना जाने लगा। रासलीला में गाना, नाचना और विभिन्न प्रकार के बाजे का बजना – एकसाथ होता था। सूरसागर के रासलीला संबंधी पद नृत्य की सुसंगति में रचे गये थे – ये पद सिर्फ गाने के लिए नहीं होते थे; नृत्य के बीच गाने के लिए होते थे। उदाहरण के लिए 'नृत्यत स्याम नाना 'रंग' या 'विराजत मोहन मंडल रास' जैसे गीतों को इस संदर्भ में पढ़ा जा सकता है।

9.7 सारांश

इस इकाई में आपने भक्ति आंदोलन के संदर्भ में सूर काव्य के महत्व की जानकारी प्राप्त की। इसमें आप सूर के जीवन, रचना, रचना वैशिष्ट्य और भाषागत विशिष्टता से परिचित हुए। उनकी कविता में ब्रज की लोक संस्कृति बोलती प्रतीत होती है। उनकी कविता गीतों में ढली है। अपने आराध्य कृष्ण की उपासना के लिए सूर ने ये पद गाकर रचे थे। इसलिए इसमें नृत्य, रास, वाद्यसंगीत, गायकी और ब्रज लोकगीत का गहरा प्रभाव है। बारहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में नया जागरण और कलात्मक उत्कर्ष आया जिसमें सूरदास का योगदान महत्वपूर्ण है। श्रीनाथ जी के मंदिर में अष्टछाप के कवि गायक ध्रुवपद, धमार शैली में गीत कीर्तन करते थे। सूरदास ऐसे भक्त कवि थे जिसके इष्टदेव के दरबार में जातपाँत के आधार पर कोई भेदभाव न था। यही वह लोकसामान्य भावभूमि थी जिनपर सभी भक्त कवियों की सहमति थी। निर्गुण और सगुण को लेकर भक्त कवियों में असहमति थी और सूर ने तो निर्गुण पर सगुण की श्रेष्ठता जतलाने के लिए ही भ्रमगीत प्रसंग की रचना की। सूर की भक्ति प्रेमाभक्ति थी, जिसमें कृष्ण के प्रति समर्पण ही सबकुछ था।

9.8 अभ्यास/प्रश्न

(1) भक्ति आंदोलन में सूर का महत्व स्थापित कीजिए।
(2) सूरदास की काव्यात्मक उत्कृष्टता के प्रमुख आधारों की चर्चा कीजिए।
(3) सूर काव्य की भाषा पर विचार कीजिए।
(4) सूरदास का काव्य साहित्य और संगीत के समागम का उत्तम उदाहरण है। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत/असहमत हैं। युक्तिपूर्ण उत्तर दीजिए।

इकाई 10 सूरदास के काव्य में प्रेम

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 सूर के काव्य में प्रेमानुभूति
10.3 सूर का वात्सल्य वर्णन
10.4 सूर काव्य में शृंगार
10.5 सूर की नयी उद्भावनाएँ
  10.5.1 सूर काव्य में राधा
  10.5.2 सूरदास का भ्रमरगीत
10.6 सूर का प्रकृति वर्णन
10.7 सारांश
10.8 अभ्यास/प्रश्न

10.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में हमने सूरदास पर समग्र रूप से विचार किया था। इस इकाई में हम सूर के काव्य का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़ने के बाद आप :

- सूर के काव्य में प्रेमानुभूति को रेखांकित कर सकेंगे,
- सूर के वात्सल्य और शृंगार वर्णन की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- सूरदास की नई उद्भावनाओं, यथा राधा और भ्रमरगीत, की विशेषताएँ जान सकेंगे, और
- सूर के प्रकृति वर्णन की विशिष्टता को पहचान सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

सूर प्रेम के कवि हैं। पिछली इकाई में आप पढ़ चुके हैं कि सूरदास पुष्टिमार्गी थे जिसमें ईश्वर के प्रति समर्पण ही सब कुछ था। कृष्ण भक्ति परंपरा में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की विस्तार से व्यंजना हुई है। बाल वर्णन हो या शृंगार वर्णन कृष्ण की मनोहर छवि चारों ओर विद्यमान है। शृंगार वर्णन में जो स्वच्छंदता और उन्मुक्तता सूर के काव्य में मिलती है, वह न पहले मौजूद थी और न ही बाद में यह परंपरा सुरक्षित रह सकी। सूर के कृष्ण और गोपियाँ स्वच्छंद हैं, लोकबंधन में जकड़े हुए नहीं हैं। सूरदास ने अपने पदों में वात्सल्य और शृंगार रस की अजस्र धारा बहा दी है; इस इकाई में इसपर विस्तार से विचार किया गया है। सूरदास ने श्रीमद्भागवत से कृष्णकथा अवश्य ली है पर उन्होंने उसे प्रेमाभक्ति के रंग में रंग डाला है और कई नए प्रसंगों की उद्भावना की है। राधा का चरित्र सूर ने अपने हिसाब से गढ़ा है। 'भ्रमरगीत' सूर का योगदान है जो मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्धपूर्ण है। यह अनुपम उपालंभ काव्य है। बार-बार इस बात की चर्चा की जाती है कि सूरकाव्य में प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित हुई है; आलंबन के रूप में प्रकृति काव्य का विषय बनकर नहीं आई है। इस इकाई में यह बताया गया कि महत्वपूर्ण यह नहीं है कि प्रकृति उद्दीपन के रूप में आई है या आलंबन के रूप में बल्कि महत्व इस बात का है कि प्रकृति चित्रण में सूर का दृष्टिकोण क्या है? इस दृष्टिकोण की चर्चा इकाई में की गई है और बताया गया है कि सूर का मन गाँवों में बसता था और उन्होंने गाँव की प्रकृति का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है।

10.2 सूर के काव्य में प्रेमानुभूति

कृष्णभक्ति परंपरा में राधा कृष्ण को आराध्य मानकर बड़े विस्तार से प्रेम तत्व की अभिव्यक्ति की गई है। सूरदास ने 'सूरसागर' में कृष्णजन्म से लेकर कृष्ण के मथुरा जाने को कथा कही है। सूरदास ने

कृष्ण के बाल सुलभ भावों और चेष्टाओं का स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किया है। 'सूरसागर' में सूरदास ने वात्सल्य रस की धारा बहा दी है। सूर ने बाल क्रीड़ाओं और वात्सल्य से सने माता पिता के प्रेम का निश्छल चित्रण किया है। इन चित्रणों में सूर का प्रेम छलक-छलक पड़ता है।

स्त्री-पुरूष संबंधों के चित्रण में इतना खुलापन सूर तथा अन्य कृष्णभक्त कवियों में ही मिलता है। सूर के पहले के नाथ, सिद्ध या संत कवियों ने तो स्त्री को माया का प्रतिरूप और सारी सांसारिक बुराइयों की खान बता रखा था। तुलसीदास के यहाँ भी स्त्री के प्रति प्राय: ऐसा ही दृष्टिकोण मिलेगा। आपके मन में यह प्रश्न उठ रहा होगा कि कबीर और तुलसी के बीच - इस अंधे गायक सूरदास के काव्य में स्त्री स्वाधीनता तथा स्त्री-पुरुष संबंधों के मामले में इतनी स्वच्छंदता की यह नयी प्रवृत्ति कहाँ से आ गई? कुछ इतिहासकारों ने ब्रजक्षेत्र में आभीरों की उपस्थिति के आधार पर पशुचारण सभ्यता के अवशेष के रूप में इस स्वच्छंदता की व्याख्या की है। उनका मानना है कि आभीरों के समाज में स्त्री-पुरुष दोनों समान रूप से खुले तौर पर खेती और पशुपालन में श्रम करते हैं - अत: पितृसत्तात्मक सामंती समाज की मर्यादाओं, नैतिक विधि-निषेधों का दुराग्रह अभी आरंभ नहीं हुआ था। इसीलिए ब्रजक्षेत्र में राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीतों की परंपरा स्थानीय लोकसंस्कृति में काफी पुराने समय से चली आ रही थी। सूरदास उस परंपरा को प्रेमाभक्ति के परिप्रेक्ष्य में परिष्कृत रूप दे रहे थे। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस तर्कपद्धति का अनुमोदन करते हैं। वे इस तथ्य का भी उल्लेख करते हैं कि सूर के अभ्युदय से पहले ही बैजू बावरा के भी ऐसे ही गीत उपलब्ध हैं।

यूनान के पशुचारण काव्य (पिस्टोरल पोएट्री) का उल्लेख करने के बाद आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस प्रेमानुभूति के सामाजिक पहलुओं की बड़ी अच्छी विवेचना की है:

कवियों को आकर्षित करने वाली गोप जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरने के लिए सबसे अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य आदि और जो व्यवसाय आगे चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए - उनमें उतनी स्वच्छंदता न रही। कविश्रेष्ठ कालिदास ने अपने रघुवंश-काव्य के आरंभ में दिलीप को नन्दिनी के साथ वन-वन फिराकर उसी मधुर जीवन का आभास दिखाया है। सूरदास जी ने जमुना के कछारों के बीच गोचारण के बड़े सुन्दर-सुन्दर दृश्यों का विधान किया है। यथा-

मैया री। मोहिं दाऊ टेरत।
मोकों बन फल तोरि देत हैं, आपुन गैयन घेरत।।

यमुना तट पर किसी बड़े पेड़ की शीतल छाया में बैठकर कभी सब सखा कलेऊ बाँट कर खाते हैं कभी इधर-उधर दौड़ते हैं।

गाय चराते हुए, साथ-साथ खेलते-कूदते हुए, हास-परिहास के बीच निर्बन्ध रूप में परस्पर साहचर्य का संबंध सिर्फ ग्वालबाल के साथ ही नहीं, गोपिकाओं से भी विकसित हो रहा है। गोकुल के गाँव में - एक निश्चित सुपरिभाषित ग्रामीण अंचल में, ब्रजभूमि के बीच जहाँ इस लीला का दिग्दर्शन कराया जा रहा है, वह अपने आप में एक ठोस भौगोलिक इकाई है, कोई अमूर्त्त आध्यात्मिक काल्पनिक इकाई नहीं है। यह जीता-जागता, धूल भरा मैला सा आँचल - ठोस रूप में नंद बाबा, माता यशोदा, वृषभानु, तमाम ग्वाल बाल, गोपिकाओं, तथा राधा और कृष्ण का सुपरिचित अपना गाँव है। इस गाँव में बचपन से ही राधा और कृष्ण का साहचर्य है पहली बार जब कृष्ण राधा से मिलते हैं तो उस मिलन के नाटकीय उतार चढ़ाव को सूरदास अंकित करते हैं -

खेलन हरि निकसे ब्रजखोरी।
कटि कछनी पीतांबर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चक डोरी।
मोर मुकुट कुंडल स्रवनन बर दसन दमक दामिनि छबि थोरी।
गये स्याम रवि-तनया के तट अंग लसति चन्दन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा नयन बिसाल भाल दिये रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठ रूलत झकझोरी।

संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छबि तन गोरी।
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी।

कृष्ण खेलने निकले हैं। पहली बार राधा को देखते हैं। कैसा सुंदर रूप ! गोरी देह, नीला वस्त्र और पीठ पर वेणी। किशोरी - अल्पवयस, आँखें बड़ी-बड़ी और माथे पर रोरी। यह युवाकाल की परिणत बुद्धि के क्षण में परस्पर मिलन नहीं है - जिसमें साँस तेज चलने लगे और कंठ में बोली फँस जाये। यहाँ तो कोई संकोच नहीं है, कोई झिझक नहीं। कृष्ण ने पूछा - क्यों जी, तुम हमारे साथ खेलने क्यों नहीं चलती? हम तुम्हारा कुछ चुरा लेंगे - **तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलने चलौ संग मिलि जौरी।**. अगले दिन के खेलने के लिए कृष्ण ने कहा - सखी तुम हमारे घर आकर मुझे खेलने को बुला लेना। तुम्हें वृषभानु बाबा की कसम, सुबह-शाम एक बार मेरे पास जरूर आना - **तुमहिं सौंह वृषभानु बाबा की प्रात-साँझ एक फेर।** मन में कुछ भी नहीं छुपाते कृष्ण। साफ कहते हैं - तुम कितनी सीधी हो। इसीलिए तो तुम्हारे साथ रहने को जी चाहता है - **सुधी निपट देखियत तुमको तातैं करियत साथ।** धीरे-धीरे यह प्रेम पल्लवित होने लगता है। अब तो राधा को घर भी नहीं सुहाता - **अति विरट तनु भई ब्याकुल घर न नेकु सुहाइ।**

एक दिन नन्द ने दोनों से कहा आस पास ही खेलते रहना, दूर न जाना। राधिका को ताना मारा - सुनी तुमने नंद बाबा की बात? खबरदार, अगर मुझे छोड़के जाओगे तो फौरन पकड़ के ले आऊँगी। अच्छा हुआ जो मुझे सौंप गये। अब मैं तुम्हें छोड़ने वाली नहीं हूँ। तुम्हारी बाँह पकड़ के तुम्हें क्षण भर के लिए भी न छोड़ूँगी - पकड़े बैठी रहूँगी - तुम्हारी रखवाली जो करनी है। अगर रखवाली में ढील होगी तो अम्मा मुझे डाँट-फटकार लगायेंगी। **बाँह तुम्हारी नेक न छड़ि हौं महरि खीझि हैं हमको।** राध कृष्ण के बीच या गोपियों के साथ कृष्ण की यह प्रेमलीला वृन्दावन में, यमुना तट पर, गोकुल की गलियों में, पनघट पर, कभी कभी गाय चराते वक्त, कभी दही बेचते वक्त - नोकझोंक, हास-परिहार, व्यंग्य-विनोद और झीनाझपटी के साथ नयी नयी भंगिमाओं में अंकित हुई है।

संयोग शृंगार के इन स्वाभाविक प्रेमचित्रों में कामशास्त्र के नायक-नायिका भेद की कृत्रिमता नहीं है। साहचर्यजनित स्वाभाविक प्रेमानुभूति के चित्रों से सूरसागर भरा पड़ा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल स्त्री-परुष संबंध की सहजता के सामाजिक मनोविज्ञान की विवेचना करते हुए ठीक ही कहते हैं कि **वृन्दावन के उसी सुखमय जीवन के हास परिहास के बीच गोपियों के प्रेम का उदय होता है। गोपियाँ कृष्ण के दिन-दिन खिलते हुए सौंदर्य और मनोहर चेष्टाओं को देख मुग्ध होती चली जाती हैं और कृष्ण कौमार्य अवस्था की स्वाभाविक चपलतावश उनसे छेड़छाड़ करना आरंभ करते हैं। हास-परिहास की छेड़छाड़ के साथ प्रेमव्यापार का अत्यन्त स्वाभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है। किसी की रूपचर्चा सुन या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर हाय-हाय करते हुए इस प्रेम का आरंभ नहीं हुआ है। नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-बोलते, वन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में। इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते हैं; सहसा उठे हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिसमें अनेक प्रकार के प्रतिबंधों और विघ्न बाधाओं को पार करने की लम्बी चौड़ी कथा खड़ी होती है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छंद हैं। वे लोक-बंधनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं।**

10.3 सूर का वात्सल्य वर्णन

भक्तिकाल के कवियों में ही नहीं, उसके बाद के विभिन्न युगों के कृतिकारों के बीच भी सूरदास वात्सल्य रस के अप्रतिम चितेरे माने जाते हैं। इस क्षेत्र में उनसे टक्कर कोई नहीं ले सकता। बाल मनोदशाओं और बालक्रीड़ाओं के सूक्ष्म से सूक्ष्म हर पहलू का जैसा रूपांकन सूरदास के काव्य में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही है।

'सूरसागर' में कृष्ण जन्म की आनन्द बधाई के दृश्यचित्रण से बाललीला का अंकन शुरू हो जाता है। बाल कृष्ण का एक रूप है - पलक हरि मूँदि लेते हैं; कबहुँ अधर फरका वै। दूसरा रूप है "उभय पलक पर'' स्वप्न जागरण। तीसरा रूप है हाथ और पाँव का अँगूठा मुँह में लेना। पालना झूलने, यशोदा की गोद में खेलने, स्तनपान करने, घुटनों के बल चलने, डगमगा कर गिर पड़ने, मथानी की आवाज के साथ नाचने का प्रयत्न करने, दूध न पीने का हठ करने, चोटी बढ़ने के प्रलोभन पर दूध पीने, माँ द्वारा चंद्रमा दिखाये जाने पर चंद्रमा माँगने का हठ करने, माखनचोरी के लिए तरह-तरह की बालोचित युक्तियाँ निकालने --इस प्रकार की सैकड़ों बालोचित कीड़ाओं के चित्र सूरसागर में भरे पड़े हैं। सूर का काव्य बाल मनोविज्ञान की चित्रमंजूषा बन गया है। नीचे लिखे पदों में बाललीला का गान सुना जा सकता है-

(1) जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोइ कछु गावै।
(2) कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
(3) हरि किलकत जसुदा की कनिया।
(4) सुतमुख देखि जसोदा फूली।
हरखित देखि दूध की दंतियाँ, प्रेम मगन तनु की सुधि भूली।
(5) सोभित कर नवनीत लिये।
घुटरूनु चलत रेनु तन मंडित मुख दधि लेप किये।
(6) किलकत कान्ह घुटुरूवन आवत।
मनिमय कनक नन्द कै आँगन निज प्रतिबिम्ब पकरिबे हो, धावत।
(7) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत, डगमगाइ धरनी धरै पैया।
(8) मैया कबहिं बढैगी चोटी
(9) कजरी को पय पिपहु लला तेरी चोटी बाढ़ै।।

सूक्ष्म निरीक्षणों से भरापूरा सूर का बालवर्णन मनोविज्ञान की अनेक प्रक्रियाओं को दरसाता है। उत्सुकतावश बालकृष्ण पूछते हैं - मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी? दूसरी अवस्था अभियोग की है। बच्चा अपने अभिवावक के सामने अपने से बड़े की शिकायत करते हैं। बाल कृष्ण आरोप लगाते हैं -

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझाय।
मोसौं कहत मोल को लीन्हौ , तू जसुमति कब जायौ।।
कहा करौं इहि रिस के मारैं, खेलन हौं, नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, को है तेरो तात।
गोरे नन्द, जसोदा गोरी, तू कत स्यामल गात।
चुटकी दै दै ग्वाल नचावत, हँसत सबै मुसुकात।
तू मोही कौं मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन मुख रिस समेत लखि, जसुमति सुनि सुनि रीझै।।

बालक कृष्ण की अटपटी क्षुब्ध अवस्था में - उनकी खीझ भरी मनोहारी क्रियाओं में बाल मनोविज्ञान का जो चित्र अंकित हुआ है, वह अनुपम है -

खीझत जात माखन खात।
अरुन लोचन, भौंह टेढ़ी, बार-बार जंभात।
कहुं रुनझुन चलत घुटुरुनि धूरि धूसर गात।
कबहुं झुकि कै अलख खींचत, नैन जल भरि जात।
कबहुं तोतर बोल बोलत, कबहुं बोलत तात।
सूर हरि की निरिखि सोभा, निमिष तजत न मात।

जरा-जरा सी बात पर बच्चे का तुनकना और अपने प्रतिद्वन्द्वी की कल्पना स क्षुब्ध होना सूर ने कितनी अच्छी तरह दिखाया है -

माखन खात हंसत किलकत हरि, पकरि स्वच्छ घट देख्यौ
निज प्रतिबिम्ब निरखि रिस मानत, जानत आन परेख्यौ
मन मैं माष करत, कछु बोलत, नंद बाबा पै आयौ।
वा घट मैं काहू कैं लरिका, मेरौ माखन खायौ।
महर कंठ लावत, मुख पोंछत चूमत तिहिं ठां आयौ।
हिरदै दिए लख्यौ वा सुत कौं, तातैं अधिक रिसायौ।
कह्यौ जाइ जसुमति सौं ततछन, मैं जननी सुत तेरौ।
आजु नंद सुत और कियौ, कछु कियौ न आदर मेरौ।

बच्चों में मां-बाप पर प्रेम की एकाधिकार भावना प्रबल होती है। इसी मनोदशा में ईर्ष्या होती है। कृष्ण बड़ी अच्छी तरह अकेले माखन खा रहे हैं। सहसा घड़े की तरफ नजर आती है और उसके अंदर के निर्मल जल में उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। वे मान बैठते हैं कि दूसरा कोई बालक भी आ गया है और वह उनका हिस्सा माखन खा रहा है। बाल कृष्ण गुस्से से तुनकते हुए नंद से शिकायत करते हैं। नंद बच्चे को हृदय से लगा लेते हैं और घड़े के पास जाकर कृष्ण को गोद में लेकर खड़े हो जाते हैं। घड़े के जल में इस प्रतिबिम्ब को देखकर बालकृष्ण और भी दुःखी हो उठते हैं - उनका प्रतिद्वन्द्वी अब तो नंद की गोद में पहुँच गया है। उन्हें नंद के प्रेम पर ही आशंका हो जाती है और माँ यशोदा के पास शिकायत करने पहुँच जाते हैं - अब मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, नंद बाबा का नहीं क्योंकि वे किसी दूसरे लड़के को गोद में लिये हुए हैं और मेरा अनादर कर रहे हैं। यशोदा कृष्ण के साथ घड़े तक गईं - घड़े को हिलाया ताकि पानी की हिलकोर में प्रतिबिम्ब टूट फूट जाय। फिर तो कृष्ण माँ यशोदा से खुश हो गये।

बालरूप और बालक्रीड़ा के सौंदर्य का वर्णन करते-करते सूरदास की काव्य-प्रतिभा कभी मंद नहीं पड़ती। सौंदर्य की अनिर्वचनीयता के वर्णन क्षण में यशोदा के मुँह से कहलवाते हैं -

कहाँ लौं बरनौं सुन्दरताई।
खेलत कुँवर कनक आँगन में नैन निरखि छबि पाई।

जिस तरह शृंगार रस के अंतर्गत संयोग और वियोग - दो पक्षों के चित्र सूर ने खींचे हैं, उसी तरह वात्सल्य में भी संयोग वात्सल्य और वियोग वात्सल्य का वर्णन किया गया है। जब अक्रूर श्री कृष्ण को लेने गोकुल आते हैं, उस समय वियोग की आंशका से माँ यशोदा का हृदय धड़कने लगता है-

कहा काज मेरे छगन मगन कौ नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक सुत मेरे प्रान हरन कौ काल-रूप है आयौ।।

वात्सल्य वर्णन में सूरदास माँ यशोदा की विभिन्न भाव-दशाओं के भी अपूर्व चित्र खींचते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की यह मान्यता है कि बाललीला वर्णन से कहीं अधिक यशोदा के मातृ हृदय के चित्रण में सूरदास को अद्वितीय सफलता मिली है। कृष्ण की बाल-लीला, उनके हठ, उनकी मनोरम क्रीड़ा, उनकी खीझ, उनकी शिकायत आदि से माता यशोदा के हृदय का छलकता हुआ आह्लाद जितनी कलात्मक बारीकी से अंकित किया गया है, श्रीकृष्ण के मथुरा प्रवास के समय वियोगिनी यशोदा की व्याकुलता, करुणा और उद्वेलित भावनामयता के चित्रण में भी वैसी ही कलात्मकता के दर्शन होते हैं। आचार्य द्विवेद्वी के शब्दों में - यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृहृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। 'माता' संसार का ऐसा पवित्र रहस्य है जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नहीं। सूरदास जहाँ पुत्रवती-जननी के प्रेमपल्लवित हृदय को छूने में समर्थ हुए हैं वहाँ वियोगिनी माता के करुणा-विगलित हृदय को भी उसी सतर्कता से छू सके हैं।

भक्तिकाव्य के सभी समालोचकों ने सूर के वात्सल्य वर्णन की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल यह मानते हैं कि जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही पर उसमें बालसुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आयी, उसमें रूपवर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहीं नहीं।

सूरदास के वात्सल्य वर्णन की अभूतपूर्व कलात्मक प्रौढ़ता का कारण कहाँ है? मैनेजर पांडेय का विश्लेषण यह बताता है कि सूरदास वर्ण्य विषय के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसकी अभिव्यक्ति करते हैं। वे जब बालकृष्ण की लीलाओं, चेष्टाओं और मनोभावों की व्यंजना करते हैं तो स्वयं बालक बने प्रतीत होते हैं और जब माँ यशोदा की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करते हैं तो मातृहृदय से युक्त जान पड़ते हैं। सूर की गहरी अनुभूति और तन्मयता के कारण उनकी कविता में 'तदाकार परिणति' की अद्‌भुत क्षमता है।

10.4 सूर काव्य में शृंगार

भक्ति आंदोलन में सिर्फ वर्णाश्रम व्यवस्था का ही विरोध नहीं है, आर्थिक और सांप्रदायिक भेदभाव का भी विरोध है; हर प्रकार के पाखंड, आडम्बर, रूढ़िवाद और सड़े गले रीति रिवाजों का भी विरोध है। ईश्वर के दरबार में सभी मनुष्य बराबर हैं - और भक्ति के रास्ते बराबरी के इस हक को सहज ही पाया जा सकता है। भक्तिकाव्य की यह लोकसामान्य भावभूमि है जिस पर कबीर, जायसी, सूर, तुलसी सभी अलग-अलग रास्ते से आकर इकटठे मिल जाते हैं।

भक्तिकालीन उपर्युक्त सामान्य भावधारा के अलावा हर कृतिकार की कुछ निजी विशेषताएँ भी हैं, उसका अपना विशिष्ट योगदान भी है, उसकी पृथक् काव्यभंगिमा भी है। अगर इस दृष्टि से सूरदास के काव्य का मूल्यांकन करें तो आपको पता चलेगा कि स्त्री-पुरुष संबंधों का जैसा वैविध्यपूर्ण और सप्राण चित्रण सूरदास ने किया है, वैसा उस युग के किसी अन्य कृतिकार से संभव ही नहीं हो सका। विधि-निषेध और सामाजिक मर्यादाओं की जकड़बंदी से मुक्त रतिभाव अपने नैसर्गिक रूप में सूर काव्य में दिव्य छटा लिये हुए हैं। यह प्रेम वर्णन लौकिक भी है और अलौकिक भी। लौकिक इसलिए कि यह रतिभाव हाड़मांस के मनुष्यों की स्वाभाविक तृष्णा, कामना और लालसा के संसार को सामने लाकर - सहृदय, श्रोता, भक्तजन - सबके लिए आनन्द की सृष्टि करता है। अलौकिक इसलिए है कि आसक्ति और काम भावना की शारीरिक अभिव्यक्तियों पर रागानुगा भक्ति का उदात्त आलोक जगमगाता रहता है। शृंगार और भक्ति का प्राय: ऐसा ही सम्मिश्रण जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और चैतन्य में भी दिखायी पड़ता है। एक हद तक मीरा में भी इस प्रवृत्ति के लक्षण दिखायी देते हैं। रतिभाव की लौकिकता और मधुर उपासना की अलौकिकता के बीच कलात्मक सामंजस्य के निर्वाह में सूर की काव्यभंगिमा अपूर्व कौशल का परिचय देती हैं। यह तकनीक प्रगीतधर्मी वर्णनशैली में अच्छी तरह विन्यस्त हो गई है। लौकिक आनन्द और इष्टदेव की उपासना - दोनों को काव्यानुभूति के स्तर पर मिला लिया गया। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी सूर के शृंगार वर्णन में पुष्टिमार्गीय भक्तिदर्शन का गहरा प्रभाव देखते हैं। उनके अनुसार पुष्टिमार्गी भक्त यह अनुभव करता है कि यह देह अपनी नहीं, भगवान की है। समस्त विषयभोगों और देहादि का समर्पण शुद्ध पुष्टिमार्ग कहा गया है। ज्ञान की इस मार्ग में आवश्यकता नहीं है, उसका कोई प्रयोजन ही नहीं है। केवल प्रेम ही इसके लिए बस है। सूरदास जी की यह प्रेममयी भक्ति थी।

सशरीरी प्रेमासक्ति के वर्णन में, कामोद्दीपक संयोग शृंगार के चित्रण में सूरदास को क्यों झिझक हो - जब राधा और गोपियों को इस प्रसंग में जरा भी नैतिक झिझक और मर्यादा हानि का बोध नहीं है। गोपियों का तर्क यह है कि इस शरीर की सृष्टि जिसने की है, उसे ही इस शरीर को सौंपने में लज्जा कैसी, झिझक कैसी, कंजूसी कैसी? पुष्टिमार्ग के भक्त-जन शरीर को अपवित्र चीज़ नहीं मानते - चूंकि

यह शरीर उसी परमसत्ता की पावन कृति है। भगवान की लीला अपूर्ण रह जायेगी अगर लीलापुरूषोत्तम को शरीर न सौंपा जाय। भगवान भी नित्य है और भक्त जनों का यह शरीर भी नित्य-है। इसलिए राधा और गोपियाँ दैहिक मानमर्यादा भूल जाती हैं - तन्मयता के क्षण में संसार का विस्मरण हो जाता है। पंडित नंद दुलारे वाजपेयी की यह मान्यता है कि सूरदास राधा का श्रीकृष्ण में अनन्यत्व दिखाकर ही संतोष नहीं करते, सारे ब्रजमंडल की गोपियों की भी राधा की ही प्रतिमूर्ति बना देते हैं। जो सुख राधा ने कृष्ण के साथ एकाकार होकर प्राप्त किया उसे गोपियों ने अपना ही सुख मान लिया। मान ही नहीं लिया, बना भी लिया। इस प्रसंग का चित्रण सूरसागर में अधिक विस्तार के साथ किया गया है। श्री कृष्ण सूरसागर में 'बहुनायक' कहे गये हैं। वे प्रत्येक गोपी के साथ प्रेम करते हैं। किसी को छलते नहीं, किसी के साथ विहार करते और किसी के घर प्रातःकाल दर्शन देते हैं। इस प्रकार बारी-बारी से सबको प्रसन्न करते हैं।

सूर के शृंगार वर्णन के प्रसंग में भक्तिरस या मधुररस की भी चर्चा की जाती है। चूँकि यह भगवत् विषयक रति है, अतः शारीरिक आसक्ति, शरीर समागम, काम-वासना आदि उदात्त रूप ग्रहण कर लेती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी रूपगोस्वामी के "भक्तिरसामृत सिंधु" में बताये गये मधुर रस की विवेचना के प्रसंग में बताते हैं कि श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों की रति या राधा की प्रेमासक्ति जड़ जगत की गर्हित वस्तु नहीं रह जाती - जड़ जगत में जो रति सबसे नीची है, वही भगवद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृंगार रस जो जड़ जगत में सबसे निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक शृंगार होने पर मधुर रस हो जाता है, यद्यपि भक्तिशास्त्र की मर्यादा के अनुसार इसे शृंगार नहीं कहा जा सकता। केवल ब्रज सुंदरियों के लिए शृंगार और मधुर एक रस हैं; क्योंकि उनके लिए काम और प्रेम में भेद नहीं है।

स्त्री-पुरूष संबंधों में सूर के काव्य में किसी भी प्रकार के नैतिक व्यवधान, कृत्रिम रूप से आरोपित बंधन आदि का न होना यह बतलाता है कि शृंगार और प्रेम की सामाजिक अवधारणा प्रस्तुत करने में यह महाकवि अपने समकालीनों से सर्वथा भिन्न है। इस बहस को अमूर्त्त सैद्धांतिक विवेचना के कुहासे से निकालने के उद्देश्य से कुछेक ठोस उदाहरणों को देखना आवश्यक है।

गगन घहराइ जुरी घटा कारी।
पौन झकझोर चपला चमकि चहूँ ओर
सुवन तन चितै नँद डरत भारी।।
कह्यो वृषभानु की कुँवरि सों बोलि कै
राधिका कान्ह घर लिये जा री।।
दोउ घर आहु संग नफ भयो स्याम रँग
कुँवर कर गह्यो वृषभानु बारी॥
गये वन ओर नवल नंद किसोर
नवल राधा नये कुंज भारी।
अंग पुलकित भये मदन तिन तन जये
सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी।।

सूर-काव्य में अंकित प्रेमानुभूति का बहु-आयामी मूल्यांकन करते हुए मैनेजर पांडेय उसे ऐतिहासिक संदर्भ में रखकर दिखाने का प्रयास करते हैं। जयदेव और विद्यापति के शृंगार वर्णनों की थोड़ी सी छाया सूर पर है - इसे दबे स्वर में वे मान लेते हैं। इसके बाद उनका कहना है कि सूरदास ने संयोग में आलिंगन, चुम्बन आदि के जो चित्र खींचे हैं उनके मूल में जयदेव के गीतगोविन्द की प्रतिध्वनि है। मूल्यांकन के इसी साँचे को बरकरार रखते हुए वे कहते हैं - जयदेव और विद्यापति के संयोगवर्णन में शरीर का विलास अधिक है, किंतु सूरदास के संयोगवर्णन में मन की सूक्ष्म गतियाँ अधिक प्रकट हैं। रतिकेलि के अनन्तर रतिचिन्हों, से विभूषित राधा के दो शब्द चित्रों की तुलना से यह बात स्पष्ट होगी। संयोग के बाद की राधा का एक शब्दचित्र सूर ने इस रूप में निर्मित किया है:

लटें उघरारी कहीं छूटि-छूटि आनन पै,
भींजी हैं फुलेलनि सौं आली हरिसंग केलि।
सौंधें अरगजा अरु मरगजी सारी अंग,
कहूँ दरकी कुचनि पर अंगिया नवेली।।
नैन अरसात अरु बैनहूँ अटपटात,
जति ऐंड़ाति गात गोरि बहियानि झेलि।
सूर प्रभु प्यारी प्यारे संग करि रंग रास,
अरस परस दोऊ अंकम धरयौ है मेलि।

दूसरा चित्र जयदेन का इस प्रकार है:

व्यालोल: केशपाशस्तर लित मलकै : स्वेदलोलो कपोलौ।
स्पष्टा-दष्टाधर: श्री: कुचकलशरुचा हारिता हारयष्टि:।।
कांची कांचिद्गताशां स्तनजघनपदं पाणिनाच्छाद्य सद्य:।
पश्चयन्ती चोत्मरूपं तदीप विलुलितं स्रग्धरेपं धुनोति।।

इन दोनों शब्दचित्रों को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूरदास का शब्दचित्र गतिशील है उसमें आंगिक मुद्राओं और मन की गति एवं दशा की व्यंजना हो रही है, लेकिन जयदेव का शब्दचित्र स्थूल उपकरणों से सुसज्जित है।

वाच्यार्थ में रतिक्रियाओं की चलचित्रात्मक अभिव्यक्ति हो या सांकेतिक व्यंजना हो - सूर के संदर्भ में मुख्य बात है प्रेमसंबंधों की साहचर्यजनित नैसर्गिकता। आचार्य शुक्ल ने इस प्रवृत्ति को जयदेव, विद्यापति आदि से अलगाते हुए प्रेमसंगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा की संज्ञा दी है। ब्रजभूमि के आभीरों की दीर्घकाल से चली आ रही स्वच्छंद जीवनधारा, ग्रामप्रकृति के मुक्त प्रांगण में निर्बन्ध विचरण के बीच स्वाभाविक रूप में अंकुरित प्रेम और काम संबंध की निर्विकार उद्दाम भावना सूर की शृंगारिकता को एक सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में पेश करती है। यह शृंगार अकुंठ रतिसंबंध, अकुंठ तृष्णा और अकुंठ तृप्ति के इर्दगिर्द केन्द्रित है।

स्त्री-पुरूष के सहज स्वाभाविक संबंध के विकास के रास्ते में कालक्रम से उत्तर भारत के हिन्दीभाषी समाज ने पितृसत्तात्मक नीतिनियम की अर्गला बना दी। दलितों और शूद्रों की तरह स्त्रियों को भी नीचा स्थान दिया गया बल्कि स्त्रियों को सारी बुराई, पारिवारिक बंधन और सांसारिक भवबाधा की जड़ बताया गया। ब्रजवासियों का पशुचारी समाज सूरदास के काल तक उक्त प्रवृत्ति का अपवाद प्रतीत होता है। ब्रज लोकनृत्य में स्त्री-पुरुष की उन्मुक्त सहभागिता का एक दृश्य सूरदास ने चित्रित किया है जिसमें मंडलाकार सभी नाच रहे हैं। युवतियाँ भी हैं, युवक भी। राधा और कृष्ण बीच में हैं। तीव्र चपल नृत्यगति के बीच सहसा कृष्ण के कुंडल से राधा की लट अटक गई है, एक ही वनमाला के बीच दोनों आ गये हैं - लगभग आलिंगन जैसी देहभंगिमा और घनिष्ठ सामीप्य का दृश्यचित्र है। बत्तीस अक्षरों का यह विशुद्ध कवित्त - संगीत की दृष्टि से निःसंदेह रूप में ध्रुपद हैं। रामविलास शर्मा की टिप्पणी है - युवतियों के घेरे के बीच वे होड़ करते हुए नाचते हैं और मुँह से ताता थेई बोल निकालते हैं। उदात्त शृंगार की ऐसी व्यंजना हिन्दी काव्य में कम हुई है।

अगर ब्रज लोकजीवन में स्त्री-पुरुष को ऐसी स्वच्छंदता न मिली होती तो कीर्तनिया सूरदास श्रीनाथ जी के मंदिर में बैठकर ऐसे दृश्यों की कल्पना कहाँ से कर लेते? कबीर, जायसी या तुलसी के काव्य में ऐसी कल्पना क्यों नहीं है? इसका सिर्फ एक ही उत्तर है - वह यह कि कबीर ब्रज की लोकसंस्कृति से परिचित नहीं थे; जायसी और तुलसी भी नहीं थे। ये वर्णव्यवस्था और पितृसत्तात्मक समाजतंत्र से जकड़े हुए परिवेश के बीच पले बढ़े थे। पारिवारिकता, गृहस्थ जीवन और गोचारण के अनिवार्य संदर्भों में ही कृष्ण तथा राधा के प्रणय जीवन का मर्म वास्तविक रूप में खुलता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी की व्याख्या है कि सूर के काव्य में समूचा घर-परिवार कुटुम्ब चित्रित होता है। कृष्ण की ब्यौरवार दिनचर्या, संस्कारों और उत्सवों के क्रमिक चित्रण में एक पूरा परिवार और ग्रामीण समाज उभर

कर सामने आता है। आगे चलकर युवा कृष्ण का जीवन भी एकदम निरपेक्ष या एकांतिक नहीं है, पूरा गाँव किसी न किसी रूप में उसमें भागीदार है। वसंतोत्सव और रास के विविध सामूहिक आयोजन इसके व्यावहारिक प्रमाण हैं।

10.5 सूर की नयी उद्भावनाएँ

सूरदास ने श्रीमद्भागवत से कृष्णकथा अवश्य ली है, पर हर जगह नीरस भाव से नकल कर निष्प्राण पद्यरचना नहीं की है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की स्थापना है - **सूर की बड़ी भारी विशेषता है नवीन प्रसंगों की उद्भावना** । सूरसागर की कृष्णकथा में सैकड़ों स्थलों पर घटना-संदर्भ बदलकर आख्यान को सर्वथा नया रूप प्रदान कर दिया गया है, जबकि श्रीमद्भागवत में उन घटना-प्रसंगों की प्रस्तुति भिन्न रूपों में की गई है। अपनी मौलिक सूझबूझ, प्रतिभा के स्फुरण तथा सृजन-कल्पना की उन्मुक्त उड़ान के लिए सूरदास ने बाललीला, सख्यभाव, राधा कृष्ण के बीच प्रेमसंबंध के विकास, गोपियों के साथ लीलाविहार, भ्रमरगीत आदि कथा प्रसंगों पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। कृष्ण के जनप्रिय और लोकमंगलकारी रूपों को रमणीय रूप में प्रस्तुत करने पर सूर का कोई जोर नहीं है। कृष्ण के बाल रूप, सखा रूप और युवा प्रेमी रूप पर ही सूरदास रीझे हैं। अतः एक भावमर्मी कवि के रूप में यद्यपि सूर की सृजनशीलता और रमणीय संवेदना के क्षेत्र सीमित हैं, पर इन सीमित क्षेत्रों का कोना-कोना वे झाँक जरूर आये हैं।

श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों से कृष्णकथा के विभिन्न प्रसंगों को लेने के बावजूद सूरदास अपनी मौलिक काव्यप्रतिभा और उद्भावना शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत कर पाये - इसके पीछे मूल कारण क्या है? प्रो. कल्याणमल लोढ़ा इस प्रसंग में रामचरितमानस, श्रीमद्भागवत और सूरसागर का अंतर स्पष्ट करते हुए बताते हैं कि **जहाँ तुलसीदास राम के देवत्व और अवतारी रूप को कभी नहीं भूलते, वहाँ सूरदास अपने आराध्य का सदैव स्मरण करते हुए भी उनके लोकसामान्य सहज मानवीय रूप को कभी दूर नहीं होने देते। यही तत्व श्रीमद्भागवत और सूरसागर का मूल रचनात्मक भेद स्पष्ट करता है।** अपने प्रिय चरित्र के सहज पारिवारिक संबंधों, उसके स्वाभाविक मानवीय रूपों और उसके लौकिक पहलुओं को क्रियाशील और गतिमान संदर्भों में प्रस्तुत करने के लिए उनकी कल्पनाशीलता को पंख लग जाते हैं, वे स्वतः नये-नये प्रसंगों की अवतारणा करने लगते हैं और पौराणिक कथारूढ़ि उनकी प्रतिभा को अवरुद्ध नहीं कर पाती। कृष्णकथा के लौकिक और पारिवारिक-मानवीय पक्षों के भीतर एक से एक नये रागात्मक पक्ष का भावोन्मेष सूर की काव्यकला को विलक्षणता प्रदान करता जाता है। कृष्ण का सर्वजनसुलभ रूप, समरस होकर अपना पार्थक्य खो देना, माखनचोरी, रासक्रीड़ा, ग्वालबाल के साथ खेलकूद - और सबसे उत्तम बात यह कि ब्रजभूमि के लोकरिवाजों के बीच घटती हुई तमाम तरह की लीलाएँ।

10.5.1 सूर काव्य में राधा

श्रीमद्भागवत में राधा नहीं है। महाप्रभु वल्लभाचार्य की प्रेरणा से भागवत की कृष्णकथा के भिन्न-भिन्न प्रसंगों को कीर्तनकार सूरदास स्वरचित पदों के माध्यम से श्रीनाथजी के मंदिर में गा रहे थे। भागवत या ब्रहमवैवर्त पुराण द्वारा बांधी गयी सीमाएँ कीर्तनकार सूरदास को स्वीकार नहीं हैं। वे बार-बार अपनी मौलिक प्रतिभा और नई उद्भावना शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इसी क्रम में राधा का स्थानीय रंग में रंगा हुआ, ब्रज की लोकसंस्कृति की धूलमिट्टी में लिपटा हुआ एक स्वाधीन और स्वाभिमानिनी नारी चरित्र का कृष्ण की स्वकीया के रूप में चित्र अंकित होता है। इस चरित्र के अनेकानेक चित्रों से सूर का काव्य भरा पड़ा है। भक्त कवि जयदेव के संस्कृत में लिखे प्रगीतों के संग्रह 'गीतगोविन्द' की यह राधा नहीं है। उद्दाम आवेग और निर्बन्ध आसक्ति से पीड़ित राधा का यह चरित्र जयदेव की ही विशेषता है। विद्यापति की राधा की अटूट मुग्धावस्था भी यहाँ नहीं है। सूर की राधा चंडीदास की राधा के समान मोम की पुतली भी नहीं है। यह तो बाल सखी है - होश संभालते ही चिर साहचर्य में पली-बड़ी खेलीकूदी है। गाँव के परिवेश में एक दिन श्रीकृष्ण ब्रज की गलियों से खेलते हुए निकल रहे थे। सहसा क्या देखा - 'औचक ही देखी तँह राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।' सूर

के श्याम पहली नजर पड़ते ही रीझ गये - आँखें ठगी रह गयीं - 'सूर श्याम देखत ही रीझे नैन मिलि परी ठगोरी।' ठगौरी के बावजूद कोई झिझक नहीं है। अकुंठ भाव से निःसंकोच परिचय पूछा -

बूझत श्याम कौन तू गोरी?
कहाँ रहति काकी है बेटी, देंखी नहिं कहूँ ब्रजखोरी।
काहे को हम ब्रज तन आवति, खेलत रहति आपनी पौरी।
सुनत रहत श्रवनन नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम जैहैं, खेलन संग चलौ मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि बातनि भुलइ राधिका गोरी।

कृष्ण राधा से सीधा संवाद स्थापित करते हैं। कहाँ रहती हो? किसकी बेटी हो? तुम्हें तो ब्रज की गलियों में देखा ही नहीं? राधा पूरे स्वाभिमान के साथ अपने दृढ़ स्वर में - आवाज की थोड़ी बहुत कड़ाई के साथ कहती है - मैं तो अपनी पौरी में ही खेलती रहती हूँ। गली-गली भटकने की मुझे क्या जरूरत पड़ी है। मैंने यह जरूर सुन रखा है यानी तुम्हारी ख्याति सुन रखी है कि नंद का बेटा चोरी करता रहता है - मक्खन की चोरी। कृष्ण उसी लहजे में व्यंग्योक्ति की छींटे मारते हैं - तुम्हारा क्या चुरा लूँगा? अरे चलो - खेलने चलो, आओ जोड़ी बना लें और खेलने चलें। निपट सीधी राधा बातों में भूल गई। रसिक शिरोमणि कृष्ण ने बातों ही बातों में राधा को आत्मविस्तृत कर दिया। पहली-पहली भेंट में हुए प्रेम का यह नाटकीय वर्णन सूर की राधा को कुछ अलग प्रकार की कूची और रंगों से चित्रित करता है।

इसके बाद मुग्धा प्रेमिका की विकलता का प्रारंभिक स्वरूप उभरता है -

नागरि मनहिं गई अरूझाइ।
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ।

स्वजनों-परिजनों के बीच यह अकुंठ संबंध अपने स्वाभाविक रूप में विकसित होता है। यशोदा राधिका से उसका परिचय पूछती हैं और उसके बाद उसके बाल सँवार देती हैं। फिर सहज ही अनुमति देती हैं-

खेलो जाइ स्याम संग राधा।
यह सुनि कुँवरि हरख मन कीन्हों मिट गई अंतर बाधा।

एक पद में राधा अपने अंतर्यामी प्रेमी से कहती हैं - तुम्हीं हो गवाह। क्या मैं तुम्हारे सिवा किसी और को जानती हूँ? दूसरे पद में राधा अपनी सखी से कहती है-

सुनु री सखी, दसा यह मेरी।
जब तें मिले श्यामधन सुन्दर संगहिं फिरत गई जनु चेरी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'मध्यकालीन धर्मसाधना' में सूरदास की राधिका के चरित्रांकन पर टिप्पणी है - प्रेम के इस स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में किसी और कवि ने नहीं किया। यह सूरदास की अपनी विशेषता है। वियोग के समय राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है वह भी इस प्रेम के योग्य है। मिलन समय की मुखरा, लीलावती, चंचला और हँसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शांत और गंभीर हो जाती है।

कृष्ण अक्रूर के साथ मथुरा जा रहे हैं। जब श्याम का रथ चल पड़ता है तो राधा कहती है - सखी री, वह देखो रथ जात। स्वामी के चले जाने के बाद राधा अनुभव करती है कि अब तो उसका शरीर कौड़ियों के मोल भी बिकने लायक न रहा - सूरदास स्वामी के बिछुरे कौड़ी भरि न बिकात! अब तो राधा को रात-रात भर नींद नहीं आती - आजु रैनि नहीं नींद परी। कृष्ण के बिना ब्रज के छायाकुंज

बैरी हो गये हैं - बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजै। वियोगिनी राधिका मथुरा जाने वाले पथिक के माध्यम से संदेश भेजती है - सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै।

भ्रमरगीत के पदों में उद्धव से भागी दौड़ी मिलने आने वाली गोपिकाओं में राधा नहीं है। अंत में जिस दिन उद्धव मथुरा के लिए लौटने वाले हैं, उस दिन उद्धव राधा के पास जाकर पूछते हैं - कोई संवाद, कोई संदेश, कोई चिट्ठी पत्री? राधा क्या जवाब दे? उसकी दोनों आँखें उमड़ आती हैं - उनके पैर उलझ जाते हैं और वे थरथरा कर गिर पड़ती हैं।

मथुरा के राजा श्रीकृष्ण महारानी रूक्मिणी और शासनतंत्र के तमाम ऐश्वर्य के साथ जब ब्रजवासियों से मिलने आते हैं तो राधिका भी उस भीड़ के अंतिम छोर पर दुबकी खड़ी हो जाती है। महारानी रूक्मिणी के पूछने पर कृष्ण उस भीड़ में उदास खड़ी 'नीलवसन तन गोरी' राधा की ओर संकेत करते हैं। रूक्मिणी राधा को अपने साथ लिवा गईं। प्रभु वहाँ पधारे जहाँ दोनों ठकुरानी उपस्थित थीं। उसके बाद ही -

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रंग राते राधा माधव रंग रई।
माधव राधा; प्रीति निरंतर रसना कहि न गई।

चिर वियोग के लिए अभिशप्त राधिका उस अमूल्य अवसर का भी लाभ न उठा सकी। भगवान कृष्ण के चले जाने के बाद सिर्फ पछतावा रह गया -

करत कछु नाहीं आज बनी।
हरि आये हौं रही ठगी सी जैसे चित्तधनी।
आसन हरषि हृदय नहिं दीनो कमलकुटी अपनी।
न्योछावर उर अरघ न अंचल जलधारा जु बनी।
कंचुकी तें कुच-कलश प्रकट है टूटि न तरक तनी।
अब उपजी अति लाज मनहि मन समुझत निज करनी।

सूरदास की राधा ऐसी ही है - चिर वियोग में संतप्त, पर स्वाभिमानिनी, अंदर-अंदर उमड़ती हुई, पर समुद्र की तरह गंभीर; कृष्ण से कोई भी मांग नहीं, पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तत्पर।

10.5.2 सूरदास का भ्रमरगीत

अनेक समालोचकों ने भ्रमरगीत प्रसंग को 'सूरसागर' का सर्वोत्कृष्ट अंश बताया है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'सूरसागर' से भ्रमरगीत प्रसंग के पदों को खोजबीन कर निकाला और उसे सुसंपादित कर 'भ्रमरगीत-सार' नाम से पाठक समुदाय के सामने रखा। इस संपादित पुस्तक के प्रारंभिक वक्तव्य में शुक्ल जी ने कहा है कि भ्रमरगीत सूरसागर के भीतर का एक सार रत्न है। यह 400 पदों का संग्रह है। श्रीमद्भागवत के समान ही सूरदास के भ्रमरगीत प्रसंग का पहला पद श्री कृष्ण के वचन उद्धव के प्रति है-

पहिले करि परनाम नंद सो समाचार सब दीजो।
और वहाँ वृषभानु गोप सों जाय सकल सुधि लिजो।।
श्रीदामा आदिक सब ग्वालन मेरे हुतो भेंठियो।
सुख-संदेस सुनाय हमारो गोपिन को दुख मेटियो।।

और अंत में मथुरा लौटने पर उद्धव के कृष्ण के प्रति वचन के अंतर्गत 20 पद हैं। इसके बाद सबसे अंत में कृष्ण के वक्तव्य के रूप में सिर्फ एक पद है -

'ऊधो! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।'
हंस सुता की सुंदरि, कगरी अरु कुंजन की छाहीं।।
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।।
ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं।।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत, तनु नाहीं।।
अनगन भाँति करी बहुलीला जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन है, यह कहि कहि पछिताहीं।।

हे उद्धव! मुझसे भी ब्रज की स्मृति भुलायी नहीं जाती। ब्रज में यमुना नदी का किनारा, कुंजों की छांह, गायें और बछड़े - सबकी याद मुझे बराबर आती रहती है। मुझे यह वातावरण भी नहीं भूलता जब मैं गौशाला को दूध दुहने के लिए जाते हुए ब्रज की गोपियों और ग्वालबालों की कल्पना करता हूँ। वहाँ ग्वालबाल सब कोलाहल करते हैं और परस्पर बाँह पकड़कर नाचते-गाते हैं। यह मथुरा धनवैभव की नगरी है, यहाँ मणियाँ और मोती हैं - पर जब मुझे ब्रज के सुख की याद आती है तो यहाँ का सारा वैभव फीका प्रतीत होता है और हृदय उमड़ आता है, सारी सुधबुध खो बैठता हूँ। मैंने वहाँ अनेक प्रकार की लीलाएँ की थीं- यशोदा और नंद ने उन्हें सहन कर निबाहा था। इतना सब कहने के बाद एक गहरे अवसाद से मौन होकर श्रीकृष्ण चुप हो गये और बार-बार इन स्मृतियों को दोहरा कर मन ही मन पछताने लगे।

भ्रमरगीत के पद स्वतंत्र मुक्तक की अपेक्षा प्रबंधात्मक प्रगीत की विशिष्टता के कारण अद्वितीय प्रतीत होते हैं। भ्रमरगीत प्रसंग की एक कहानी है। उस कहानी के पीछे एक घटना-वृत्त है और पात्रों के संवाद हैं। कहानी यह है कि श्रीकृष्ण अक्रूर के साथ कंस के निमंत्रण पर मथुरा गये और वहां कंस को मारकर अपने पिता वसुदेव का उन्होंने उद्धार किया। इसी बीच कुब्जा नाम की दासी की सेवा से वे प्रसन्न हो गये और उसे अपने प्रेम की स्वामिनी बना बैठे। काफी समय बीत जाने के बाद भी जब वे मथुरा से लौटकर गोकुल वापस नहीं आये तब नन्द, यशोदा, राधा गोपियाँ तथा ब्रज के सभी लोग दुःखी होने लगे। कथा की इसी पृष्ठभूमि में उद्धव को ब्रज भेजा जाता है। चूँकि उन्हें अपने ज्ञान का बड़ा गर्व था और वे भक्तिमार्ग की निंदा करते थे, अतः कृष्ण ने गोपियों की भक्ति की तन्मयता का दिग्दर्शन कराकर उनका ज्ञानगर्व दूर किया।

आप संभवतः यह अवश्य जानना चाहेंगे कि इन गीतों को भ्रमरगीत की संज्ञा क्यों दी गई है? उद्धव के ब्रज में दिखाई पड़ते ही सारे ब्रजवासी उन्हें घेर लेते हैं। वे नन्द यशोदा से संदेशा कह चुकने के उपरान्त गोपियों की ओर ध्यान केंद्रित कर कृष्ण के संदेश के रूप में ज्ञानचर्चा आरंभ करते हैं। इस बीच में एक भौंरा उड़ता उड़ता गोपियों के पास आकर गुनगुनाने लगता है-

यहि अंतर मधुकर इक आयो।
निज सुभाव अनुसार निकट होइ सुन्दर सब्द सुनायो।।
पूछन लागीं ताहि गोपिका कुब्जा तोहिं पठायो?
कैधों सूर स्याम सुंदर को हो हमें संदेसो लायो?

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार भौंरे के आकस्मिक आगमन से गोपियों को एक पात्र मिल गया - **फिर तो गोपियाँ मानो उसी भ्रमर को संबोधन करके जो जी में आता है, खरी खोटी, उलटी सीधी, सब सुना चलती हैं। इसी से इस प्रसंग का नाम 'भ्रमरगीत' पड़ा है। कभी गोपियाँ उद्धव का नाम लेकर कहती हैं, कभी उसी भ्रमर को संबोधित करके कहती हैं - विशेषतः जब परूष और कठोर वचन मुँह से निकालना होता है। शृंगार रस का ऐसा 'उपालंभ काव्य' दूसरा नहीं है।**

ये गीत संबोधित तो हैं भ्रमर को, पर वास्तविकता में उद्धव से तर्कवितर्क और उलाहने के रूप में रचित हैं, अतः अन्योक्ति पद्धति के काव्य के रूप में इनकी महत्ता स्वीकार कर ली गई है। इन गीतों की

सरसता और मधुरता इसी बात में है कि ये सीधे वाच्यार्थ पर निर्भर न कर अपने आशय के लिए व्यंजना पर निर्भर करते हैं। नए-नए अनूठे भावों की व्यंजकता के कारण ये गीत प्रसिद्ध हुए हैं।

यद्यपि भ्रमरगीत परंपरा का मूल स्रोत तो श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के 46वें और 47वें अध्याय में है, पर मध्यकालीन जनभाषाओं की काव्यपरंपरा में इसका सूत्रपात सबसे पहले सूरदास ने ही किया था।

भागवत से प्रेरणा लेने के बावजूद सूरदास ने भ्रमरगीत में अपनी ओर से नयी-नयी उद्भावनाएँ की हैं, नये प्रसंग जोड़े हैं और मौलिक काव्यप्रतिभा का अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया है। श्रीमद्भागवत में उद्धव को श्रीकृष्ण ने सिर्फ यही काम सौंपा था कि ब्रजवासियों को सान्त्वना दे आओ, धैर्य धारण करने का संदेश दे आओ। उद्धव के ज्ञानमार्गी होने, उनके ज्ञानगर्व को दूर करने के अभिप्राय से उन्हें गोकुल भेजने का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। यह नयी मौलिक सूझ सूरदास की है। गोचर लौकिक जीवन की रूपविभूति, लीला, दैनंदिन जीवन के क्रियाकलाप, पारिवारिक-सामाजिक संबंधों के राग-विराग आदि की महत्ता स्थापित कर सूरदास सगुणभक्ति का औचित्य प्रतिपादित करते हैं। गोकुल के ग्रामीणजनों के साथ बचपन से ही श्रीकृष्ण रहते आ रहे थे। इन संबंधों को माया अथवा मिथ्या मानने की भावना सूरकाव्य में कहीं भी प्रगट नहीं होती। इस तरह सूरदास का उद्देश्य है निर्गुण भक्ति का खंडन और गृहस्थ जनों की सगुण सांसारिक प्रेमभावना का भक्ति के रूप में मंडन।

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत में गोपियों का तर्कवितर्क, वाद-विवाद, खरी-खोटी, जलीकटी सुनाना आदि है ही नहीं। यह सब सूरदास का कमाल है। गाँव की ये लड़कियाँ कृष्ण के प्रति तन्मयता के कारण, वियोगव्यथा के कारण, अश्रुपंकिल भावुकता के कारण ही सिर्फ याद करने योग्य नहीं है। वे अपना अधिकार माँग रही हैं, गुस्सा और क्षोभ प्रगट कर रही हैं, उद्धव को खरीखोटी सुना रही हैं और अपने प्रेम को सुसंगत साबित करने के लिए तर्कशीलता, उक्तिवैचित्र्य और विदग्धता का भी परिचय देती हैं।

तीसरी बात यह कि श्रीमद्भागवत में राधा का कहीं भी नामोल्लेख तक नहीं है। सूरदास के यहाँ यह राधा जयदेव, विद्यापति और चंडीदास के माध्यम से आयी है; पर इस राधा की प्रेममूर्ति के निर्माण में सूरदास की प्रतिभा काफी कुछ नये तत्वों का समावेश करती है।

10.6 सूर का प्रकृति वर्णन

महाकवि सूरदास यह बताते हुए थकते नहीं कि वृन्दावन की धूल भी धन्य है। ब्रज और वृन्दावन की नैसर्गिक शोभा के समक्ष स्वर्ग और उसकी संपदा भी तुच्छ है। यहाँ जूठन खाकर रहना भी श्रेयस्कर है। ब्रजक्षेत्र की यह मुक्त पद्धति जिसमें सुखद छाया वाली वनस्थली है, सघन कुंजों की भरमार है, जमुना नदी है, गोचारण के लिए अंतहीन आकाश तक फैला चरागाह है। चूँकि ब्रज की इस प्राकृतिक सुषमा और खेत खलिहान के बीच सूर के प्रिय सखा और आराध्य कृष्ण की लीला हुई है - अत: कवि और कथागायक के नाते वे प्रकृति का दामन कभी नहीं छोड़ते। कृषिजीवी और पशुपालक ग्रामलोक के रूप में वृंदावन सूर का अत्यंत प्रिय काव्य-विषय है। मथुरा एक नगर है और गाकुल एक गाँव हैं। सूरदास इन दोनों का कंट्रास्ट भी बार-बार उभारते हैं - भिन्न-भिन्न संदर्भों में इस प्रतिलोम को पूरी तरह उद्घाटित करते हैं। मथुरा वह शासन केंद्र है जहाँ कंस का अत्याचार है, जहाँ अक्रूर और उद्धव रहते हैं, जहाँ कंस की दासी कुब्जा के प्रेमपाश में बंधकर कृष्ण का पतन हुआ है और वहाँ के ऐश्वर्य में डूबकर कृष्ण गोकुल के सीधेसादे लोगों के निश्चल प्रेम को भूल गये हैं। इस तरह मथुरा के बरक्स ब्रज की प्रकृति है, ब्रज का ग्रामलोक है और ब्रज का स्वच्छंद उन्मुक्त नैसर्गिक जीवन है।

शहर बनाम गाँव का यह द्वन्द्व सूरकाव्य में अनेक स्तरों पर उभरा है इस समस्या को लेकर हिन्दी समालोचना में सबसे पहले मैनेजर पांडेय ने ही लोगों का ध्यान खींचा। उन्होंने लिखा भी है - इस बात की ओर शायद ही किसी का ध्यान गया हो कि सूर की कविता में गाँव से शहर के द्वन्द्व की अभिव्यक्ति भी है। यहाँ गाँव और शहर के बीच द्वन्द्व अनेक स्तरों पर है। सबसे पहले सगुण से

निर्गुण, ज्ञान और योग के द्वन्द्व में शहर का विरोध व्यक्त हुआ है। ऐसा लगता है कि उस समय निर्गुण, ज्ञान और योग का अधिक प्रचार शहरों में था और सगुण का गाँवों में। भ्रमरगीत में बार-बार निर्गुण, ज्ञान और योग को नगर से जोड़ा गया है। उद्धव से निर्गुण और योग का उपदेश सुनकर गोपियाँ कहती हैं - 'यह प्रिय कथा नगर नारिन सौं, कहहिं जहां कछु पावहिं।' सूर के अनुसार योग, ज्ञान और निर्गुण का केंद्र है काशी। भ्रमरगीत में बार-बार काशी को निर्गुण, ज्ञान और योग का गढ़ कहा गया है। उद्धव से गोपियाँ कहती हैं - 'यह निरगुन लै तिनहिं सुनावहु, जे मुड़िया सै कासी' या फिर 'जे गाहक निरगुन के ऊधो, ते सब बसत ईसपुर कासी।' सरल-सीधे गाँव वालों को सहज-स्वाभाविक सगुण भक्ति प्रिय है - 'गोकुल सबै गोपाल उपासी।' गोपियों को योग की बातें 'कपट कथा' लगती हैं, गाँव की रीतिनीत के ठीक विपरीत। वे उद्धव से पूछती हैं - 'मधुकर! कौन गाँव की रीति? ब्रज जुवतिन को जोग कथा तुम कहत सबै विपरीत।'

शहर और गाँव के बीच नैतिक द्वन्द्व भी है। सूर के अनुसार गाँव के जीवन और व्यवहार में सहजता, ईमानदारी और सच्चाई है, जबकि शहर अनैतिकता, छल-प्रपंच और चालाकी का गढ़ है। गाँव की गोपियों की कथा शुद्ध प्रेमकथा है और शहरी प्रेम कपटकथा है। ब्रजवासी जिस शहर से परिचित हैं वह मथुरा है - सत्ता और शक्ति का केंद्र, अत्याचार और शोषण का गढ़, छल और प्रपंच का प्रतीक। वह मायानगरी है, गोकुल और गोपियों का सर्वस्व हरण करने वाली। मथुरा गोपियों के लिए कंस, अक्रूर और उद्धव का ही नहीं, कुब्जा का भी नगर है।

ब्रजवासी लोगों की दृष्टि में मथुरा काजर की कोठरी है-

> वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे।
> तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भंवारे।

दूसरी तरफ ब्रजवासी बुद्धिहीन, निपट सरल लोग हैं-

> हम अहीरि मतिहीन बापुरी, हटकत हूँ हठि करत मिताई।
> वे नागर मथुरा निरमोही, अंग अंग भरे कपट चतुराई।

शहर और गाँव के इस द्वन्द्व की चेतना के संदर्भ में सूर की सहानुभूति निःसंदिग्ध रूप से गाँव के साथ है। सूर की गोपियों को बार-बार प्रतीति होती है कि श्रीकृष्ण अभी भी ब्रज के निर्धन प्रेमियों द्वारा भेंटस्वरूप दी गई घुंघची की माला से ही आकृष्ट होंगे, यद्यपि वे महाराज हो गये हैं, मोती और लाल की गिनती नहीं है; उनके पास अपार संपत्ति हो गई है-

> यद्यपि महाराज सुख-संपत्ति कौन गनै मोतिन अरु लालैं।
> तदपि सूर आकरषि लियो मन उर घुंघचिन ही मालैं।

सूर के काव्य में प्रकृति उद्दीपन के रूप में चित्रित हुई है; आलम्बन के रूप में प्रकृति काव्य का विषय बनकर नहीं आई है - काव्यशास्त्रीय दृष्टि से निकाले गये इन निष्कर्षों के आधार पर हम सूरकाव्य में चित्रित प्रकृति को सही संदर्भों में समझ ही नहीं पाते। प्रश्न यह है कि प्रकृति स्वयं आलम्बन है या उद्दीपन?

आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में फणीश्वर नाथ रेणु के 'मैला आँचल' के प्रकाशन के साथ पूर्णिया जिले के एक अंचल विशेष के चित्रण को लेकर आंचलिकता पर खूब बहस हुई। इसके पहले वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों में चित्रित बुंदेलखंड को लेकर स्थानीय रंग की खूब चर्चा हुई।

भक्ति आंदोलन के रचनाकारों में सूरदास की अद्वितीय महत्ता के कारणों की खोज में ब्रजप्रदेश की प्रकृति और लोकसंस्कृति के अन्योन्याश्रित सबंध को अक्सर दृष्टि से ओझल कर दिया जाता है। सूर की सौंदर्यानुभूति और कलात्मक स्तर पर उसकी प्रस्तुति के मूल में बैठा हुआ यह गहरा ब्रज प्रेम, यह गहरी

आंचलिकता और प्रकृति के मुक्त प्रांगण में पल्लवित गोप-गोपिका तथा राधाकृष्ण के परस्पर संबंध एक जटिल प्रकृति चित्रों में अंतर्निहित भावानुभूति और राग-संवेदना को भी नहीं समझा जा सकता। यह एक समग्र सौंदर्यानुभूति है - इसमें सिर्फ कृष्णकथा नहीं है, सिर्फ स्त्री-पुरुष संबंध नहीं है, सिर्फ बाल-लीला और वात्सल्य नहीं है - यहाँ प्रकृति की गोद ब्रज के लोकतत्वों से सरोबार मानव-जीवन है।

प्रोफेसर कल्याणमल लोढ़ा का एक निबंध 'सूरकाव्य का पुनर्मूल्यांकन' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है कि इसमें प्रकृति चित्रण के प्रश्न को एक व्यापक संदर्भ में उठाया गया है। इसी निबंध में उनकी एक मौलिक विवेचना है। उनका कहना है कि सूर की काव्यचेतना का प्रकृति से पूर्ण तादात्म्य है। उनकी एक स्थापना यह भी है कि ललित, भैरव, बिलावल आदि रागों में उन्होंने जब भी कान्ह कुंवर को जगाया है, ऐसा प्रतीत होता है कि वे प्रकृति के ही जागरण का चित्रण कर रहे हैं। सूर की समस्त रचना-प्रक्रिया, उनका काव्य और संगीत प्रकृति की अभिव्यक्ति बन गया है और यहाँ वे निस्संदेह तुलसीदास से आगे हैं। सूर का सौंदर्यबोध प्रकृतिसौंदर्य से ही अनुप्रेरित है। जहाँ उन्होंने अपने सांस्कृतिक चित्रण में लोकपक्ष को प्रधानता दी है, वहाँ प्रकृति के चित्रण में भी। उनका प्रकृति चित्रण अभिजात वर्ग का कलात्मक व्यापार नहीं है और न उसकी भावभूमि सामंती महलों के वातायन से ही दिखाई देती है।

प्रकृति से ब्रजप्रदेश के लोगों का सीधा संबंध है। कोयल से गोपियाँ कहती हैं - हे कोयल! अपनी यह मधुर वाणी तू कृष्ण को मथुरा जाकर सुना आ। उन्हें बता आओ कि ब्रज के सभी वनों में बसन्त आ गया है- 'कोयल हरि को बोल सुनाव।' एक दूसरे पद में गोपियाँ चातक से कहती हैं - हे पपीहे! ऊँची टेर सुनाकर कृष्ण को हमारी याद दिला दो - 'कराव रे, सारंग! स्यामहिं सुरति कराव।' प्रचलित विश्वास यह है कि कौआ बोलकर जब उड़ जाता है तो प्रिय के आगमन की सूचना होती है। इसी विश्वास के संदर्भ में गोपियाँ कौए से कहती हैं - हे कौए! तुम उड़ क्यों नहीं जाते - 'तौ तू उड़ि न जाए रे काग!' बादलों से इन गोपियों का इतना घरेलू ढंग का गहरा संबंध है कि उनके पाँव पड़ती हैं और कहती हैं हमारी एक चिट्ठी पहुँचा देना -

पा लागौं बीर बटाऊ। कौन देस तें आए।
इतनी पतिया मेरी दीजौ जहाँ स्याम घन छाए।

बादलों को संबोधित अनेक पद हैं। एक पद में गोपियाँ बादलों पर बलिहारी जाती हैं और उनसे कहती हैं कि तुम्हारे रूप के समान ही कृष्णा हैं। वे समुद्र के तटवर्ती क्षेत्र - द्वारिका गये हैं। बादल विरहिनियों का संदेश उन्हें दे दे - 'बलैया लैहौं, हो बीर बादर।'

वर्षा ऋतु में बदली हुई प्रकृति के रूपरंग का अनेक प्रकार से सूरदास ने वर्णन किया है। एक सुदीर्घ वर्णनात्मक पद है जिसमें बताया गया है कि अनेक रंगों के बादल मनोहर वेश धारण कर आ गये हैं। इस समय आकाश की शोभा पहले की तुलना में बहुत अच्छी हो गई है। आकाश में बगुले उड़ रहे हैं। तोतों का झुंड सुशोभित है। चातक और मोर अपनी रट लगाये हुए हैं। बादल जोर से गरज रहे हैं और बिजली चमक रही है। उन्हें देखकर गोपियों के मनों में अभिलाषाएं जाग्रत हो गई हैं। पृथ्वी के शरीर पर तृण-रूपी रोंगटे खड़े हो गये हैं मानो वह अपने प्रिय के आगमन पर हर्षित हो रही है। पेड़ों से लताएँ लिपट गई हैं मानो कोई वियोगिनी अपने पति का आलिंगन कर रही हो। हंस, कोयल, तोता, मैना, और भौरों का समूह गुंजार कर नाना प्रकार से अपने बोल सुना रहा है-

ऐसे भाई पावस ऋतु प्रथम सुरति करि माधव जू आवै री।
बरन बरन अनेक जलधर अति मनोहर वेष।
यहि समय यह गगन सोभा सबन तें सुबिसेष।
उड़त बक, सुक वृन्द राजत, रटत चातक मोर।।
बहुत भाँति चित हित रुचि बाढ़त दामिनी घनघोर।
धरनि तनु तृनरोम हर्षित प्रिय समागम जानि।।

और द्रुमबल्ली वियोगिनि मिलीं पति पहिचानि।
हंस, पिक, सुक, सारिका, अलिपुंज नाना नाद।
मुदित मंगल मेघ बरसत, गत विहग विषाद।।

ब्रज प्रदेश के मुक्त प्रांगण वाली यह प्रकृति वियोग में दुःखदायक हो गई है। कृष्ण के साथ संयोग के क्षणों की यादें ताजा हो आती हैं। एक गोपी अपनी सखी से कह रही है- मैं फूल बीनने नहीं जाऊँगी। भला श्रीकृष्ण के बिना फूलों को मैं कैसे बीन सकती हूँ? हे सखि! मुझे भगवान की दुहाई है कि मैं झूठ बोल बोलूँ। मुझे ये फूल त्रिशूल के समान दुख देने वाले लगते हैं। ढाक के लाल फूल मुझे अग्नि ज्वाला के समान दाहक लगते हैं। ये गिरते हुए फूल अंगार जैसे झड़ रहे हैं -

फूल बिनन नहिं जाऊँ सखी री। हरि बिन कैसे बीनौं फूल?
सुन री सखी! मोहिं रामदोहाई फूल लगत तिरसूल।।
वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार।
हरि बिन फूल झार से लागत झरि झरि पड़त अँगार।।

गोपाल के बिना गोपियों को ब्रजक्षेत्र के तरु-कुंज शत्रु के समान प्रतीत होते हैं - सौत और बैरिन के समान लगते हैं - बिन गुपाल बैरिन भई कुंजै।

संस्कृत काव्यशास्त्र के आलोचनात्मक मानदंडों पर आधारित शास्त्रीय समालोचना में सूर के प्रकृति चित्रों को उद्दीपन के रूप में और आलंकारिक वर्णनों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। जरूरत इस बात की है कि आलोचना की इन रूढ़ियों से मुक्त होकर सूर के प्राकृतिक वर्णन की विवेचना की जाए।

10.7 सारांश

सूर काव्य प्रेमाभक्ति से ओतप्रोत हैं। कृष्ण की बाललीला का चित्रण हो या रासलीला का, सर्वत्र प्रेम का ही साम्राज्य है। बाल मनोविज्ञान की गहरी पकड़ सूरदास को थी। उन्होंने बाल चेष्टाओं का बारीकी से चित्रण किया है। यशोदा और नंद का कृष्ण के प्रति वात्सल्य सबकी आँखें नम कर देता है। यह चित्रण इतना स्वाभाविक है कि सारे कार्यव्यापारों से हम तुरंत तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। सूर ने शृंगार और भक्ति को एक साथ मिलाकर शृंगार को गरिमा प्रदान की है और भक्ति को लोकोन्मुख बनाया है सूर ने श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण की कथा को दुहराया नहीं है बल्कि प्रेमाभक्ति के रंग में उसे पूरी तरह रंग कर प्रस्तुत किया है; नए प्रसंग खड़े किए हैं; नवीन चित्रण किए हैं। सूर की राधा का सृजन सूर ने ही किया है। यह सूर की मौलिक उद्भावना है। इसी प्रकार भ्रमरगीत सूर की मौलिक कल्पना हैं यह उच्च कोटि का मर्मस्पर्शी काव्य है। इसे सूरसागर का रत्न भी कहा गया है। सूर के प्रकृति चित्रण में पूरा ब्रज निखर कर सामने आता है। इसके जरिए ग्रामीण ब्रज प्रदेश के व्यक्तित्व से परिचित होने का मौका मिलता है।

10.8 अभ्यास/प्रश्न

(1) सूर द्वारा चित्रित स्वच्छंद प्रेम पर प्रकाश डालिए।
(2) "शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक किसी कवि की नहीं।" सूरदास के संबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इस कथन से आप कहाँ तक सहमत/असहमत हैं।
(3) सूर के प्रकृति वर्णन की विशिष्टता बताइए।

इकाई 11 मीरा का काव्य और समाज

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 मीरा कालीन रूढ़िगत सामंती समाज और नारी पराधीनता
  11.2.1 वर्णव्यवस्था
  11.2.2 महिलाओं की स्थिति
11.3 मीरा का सामंती रूढ़ियों के प्रति विद्रोह
11.4 मीरा का जीवन संघर्ष
11.5 कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति
11.6 मीरा के गिरधर नागर
11.7 मीरा का विरह वर्णन
11.8 सारांश
11.9 अभ्यास/प्रश्न

11.0 उद्देश्य

सगुण भक्ति के अन्तर्गत आपने सूरदास की कविता का अध्ययन किया। इस इकाई में हम मीरा के काव्य और समाज का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़ने के बाद आप:

- मीराकालीन समाज और नारी पराधीनता का उल्लेख कर सकेंगे ;
- मीरा के सामंती रूढ़ियों के प्रति विद्रोह से परिचित हो सकेंगे ;
- मीरा के जीवन संघर्ष को जान सकेंगे ;
- कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति के स्वरूप को पहचान सकेंगे ;

11.1 प्रस्तावना

मीरा पन्द्रहवीं शताब्दी में संपूर्ण भारत में व्यापक रूप से प्रसारित वैष्णव भक्ति आंदोलन की मूल्यवान कड़ी है। उनके काव्य में भक्ति आंदोलन की प्रगतिशील अन्तर्वस्तु अपनी समग्रता में उद्घाटित है। इसे हम वर्ण व्यवस्था और नारी पराधीनता का संरक्षण करने वाले धर्म, शास्त्र और सामाजिक विधि-विधान के विरोध के रूप में देखते हैं। वस्तुत: मध्यकालीन समाज में धर्म ने सामान्य जनता की मुक्ति के हित में काम न करते हुए घोर शुचितावाद और बाह्याचार को बढ़ावा देकर सामाजिक वैषम्य को और गहरा किया। धर्म, शास्त्र, पुराण आदि ने निम्न वर्णों तथा प्रत्येक वर्ण और वय की स्त्री के लिए कुलीन जाति के पुरूषों की सेवा और अभ्यर्थना को सुनिश्चित करने वाले कर्म, भाग्यफल और पुनर्जन्म विषयक सिद्धान्तों का निर्माण किया। इस प्रकार उन शास्त्रों ने वर्ण व्यवस्था का सबसे मजबूत दार्शनिक आधार तैयार किया। यही कारण है कि मनुष्य और मनुष्य में किसी प्रकार का भेद न मानने वाले भक्ति आंदोलन के लिए ऐसे धर्म और इसकी समर्थक प्रणालियों का विरोध अनिवार्य हो गया। भक्ति आंदोलन का मुख्य आधार धार्मिक विचार या दर्शन नहीं था। इसके भीतर वे सभी सामाजिक शक्तियां सक्रिय थीं जो वर्ण विभाजित सामंती समाज में मनुष्य की मुक्ति के मूल्यवान सवालों के प्रति केन्द्रित थीं। बौद्ध, जैन धर्मों के साथ-साथ सिद्ध संतों, दक्षिण के आलवार भक्तों तथा रामानुजाचार्य, रामानन्द, मध्वाचार्य, नामदेव और चैतन्य महाप्रभु आदि महान संतों ने समय-समय पर इस ब्राह्मण-पुरोहित वर्चस्व वाली वर्ण व्यवस्था से कठिन संघर्ष किया है। कबीर, रैदास, तुलसी, जायसी और मीरा जैसे भक्त कवियों को मध्ययुगीन सामंती रूढ़ियों के विरोध की क्रांतिकारी विरासत इन्हीं आचार्यों और संतकवियों से प्राप्त हुई।

भक्ति युग को व्यापक लोकजागरण का युग कहा जाता है। भक्ति काव्य में मध्ययुगीन सामंती जड़ताओं के विरोध के साथ-साथ समाज और संस्कृति के पुनर्निर्माण की चेतना विद्यमान है। भक्त कवियों की

सबसे बड़ी शक्ति ईश्वर की सर्वव्यापकता व सर्वसुलभता की प्रतिष्ठा कर सामान्य जन में आत्मगौरव का बोध जगाना तथा उनकी मुक्ति आकांक्षा को प्रेरित करना है। इसके लिए उन्होंने जनता को सामंती समाज के धार्मिक-सामाजिक अन्तर्विरोधों के प्रति सचेत किया। उनके द्वारा विकसित ईश्वर के सगुण-निर्गुण स्वरूप में सामान्य जन के विषमतापूर्ण जीवन के प्रति गहरी करूणा और इस विषमता से मुक्ति का प्रयत्न था। इसलिए भक्त कवियों का यह ईश्वर स्वरूप तत्कालीन समाज के दलित-वंचित वर्गों में सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ और भक्तिकाव्य ने व्यापक आंदोलन का रूप ले लिया। इस दृष्टि से हम देखते हैं कि मीरा की कृष्ण भक्ति में भी उनकी वैयक्तिक मुक्ति का प्रयत्न मात्र नहीं है, अपितु उसमें भी अपने समय के अमानवीय अन्तर्विरोधों की पहचान तथा उनसे संघर्ष का पक्ष सबल है। एक ओर तो उनके काव्य में सगुण-निर्गुण काव्य धारा की सम्पूर्ण परंपरा अपने सर्वश्रेष्ठ के साथ समाहित है तो दूसरी ओर वे कबीर, जायसी और तुलसी जैसे कवियों से और आगे बढ़कर मध्ययुगीन समाज में नारी की दारूण स्थिति के प्रति प्रश्न उठाकर भक्तिकाव्य धारा में नारी मुक्ति चेतना का महत्वपूर्ण पक्ष जोड़ती हुई उसकी सामाजिक भुमिका को पूरा करती है। अन्य भक्त कवियों की तुलना में मीरा ने कम लिखा है किन्तु जो लिखा है उसमें उनके कठिन जीवन संघर्ष के साथ गहरी लोकोन्मुखता और भविष्य दृष्टि है। वृन्दावन-गोकुल जैसे नैतिक मानवीय मूल्यों से सजे हुए समाज का वे केवल स्वप्न ही नहीं देखती, अपितु उसके लिए संघर्ष भी करती है। राणा और छद्म कुलमर्यादा का पोषण करने वाले राणा कुल और समाज का विरोध करती हुई मीरा राजसत्ता के विरोध के साथ-साथ पुरूषसत्तात्मक सामंती समाज का विरोध करती है। अलग-अलग भागों और उपभागों में हम इन्हीं पक्षों का अध्ययन करेंगे।

11.2 मीराकालीन रूढ़िगत सामंती समाज और नारी पराधीनता

मीरा का समय सन् 1498 से 1545 तक माना जाता है। वे राजस्थान के प्रसिद्ध राठौर राजा जोधा जी के पुत्र राव दूदा जी की पौत्री तथा राव रत्न सिंह की पुत्री थीं। उनका विवाह मेवाड़ के महाराणा सांगा के पुत्र कुंवर भोजराज के साथ हुआ था। मीरा के समय में दिल्ली में लोदीवंश अपनी जड़ें जमा रहा था। इब्राहिम लोदी के शासनकाल तक उसकी निरंकुशता के कारण लोदियों की राजनैतिक शक्ति बिखरने लगी थी। सन् 1526 में बाबर ने इब्राहिम लोदी को पराजित किया और उसके द्वारा मुगल सल्तनत की नींव पड़ी। इस प्रकार ग्यारहवीं शताब्दी से छिटपुट आक्रमणों और लूटपाट के जरिये भारत में प्रवेश करने वाले अरबों, तुर्कों और अफगानों के द्वारा भारत में इस्लाम धर्म का प्रवेश हुआ। मुगल सत्ता के केन्द्र में मजबूत होने के साथ ही इस्लाम को महत्वपूर्ण राजनैतिक शक्ति प्राप्त होती गयी। राजसत्ता और धर्माचार्यों द्वारा प्रचारित इस्लाम में हिन्दू धर्म के समान ही कट्टरता और भेदभावपरकता थी। इस्लामी धर्माचार्यों की अपेक्षा सूफी संतों ने हिन्दू-मुस्लिम जनता से ज्यादा निकटता प्राप्त की। वे इस्लाम के मनुष्य और मनुष्य के बीच बराबरी के संबंध के कायल तथा बाह्याचारों और धर्म के रूढ़िवादी रूप के विरोधी थे। मनुष्य और ईश्वर में कोई भेद न मानते हुए सांसारिकता और सत्ता से निरपेक्ष होने के बावजूद वे धर्म और राजनीति के अमानवीय रूपों के तीव्र आलोचक थे। उनका जीवन और सिद्धांत मनुष्य और मनुष्य में समानता के विश्वास पर आधारित था। यही कारण था कि प्रायः ये संत मध्ययुगीन भारत के किसान-कारीगर वर्गों के गहरे संपर्क में थे। शासक वर्गों से अपने किसी हित या महत्वाकांक्षा के कारण जुड़ने के लोभ से परे होने के कारण ही ये समाज के धार्मिक-सामाजिक अन्तर्विरोधों के प्रति आक्रामक थे। सूफी संतों की उलमाओं या राजनैतिक आकाओं के मुंह पर खरी-खरी सुनाने के अनेक किस्से लोक में आज भी प्रचलित हैं। भक्ति आंदोलन पर इन सूफी संतों के क्रांतिकारी विचारों का भी प्रभाव पड़ा है। कबीर, दादू, रज्जब तथा जायसी आदि संत कवियों पर यह प्रभाव देखा जा सकता है। मीरा की भक्ति में भी सूफियों की सी अनुरक्ति की दृढ़ता और निर्भय तन्मयता देखी जा सकती है।

11.2.1 वर्ण व्यवस्था

इस्लाम के बढ़ते प्रभाव के कारण वर्ण विभाजित भारतीय समाज में नयी जटिलतायें पैदा हो रही थीं। उच्चकुलीन वर्णों को अपने वंश और रक्त की शुचिता की चिंता थी।

ब्राह्मणों ने, जिन्होंने प्राचीन काल से ही स्वयं को देवताओं के समकक्ष और वर्णाश्रम धर्म का रक्षक घोषित कर रखा था, इन नयी परिस्थितियों में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए जातिभेदपरक अधिक कठोर

नियमों और विधिनिषेधों की रचना की। वर्णव्यवस्था की अमानवीय कठोरता से त्रस्त निम्न जातियां इस्लाम के मनुष्य और मनुष्य के बीच समानतामूलक विचारों से आकृष्ट हो धर्मान्तरण की ओर चली गई। इस प्रकार मुस्लिम धर्म ग्रहण करने वाली अधिकांश जातियां कपड़ा बुनने वालों, चमड़े का काम करने वाले कारीगर, शिल्पी वर्ग की थीं, जिन्हें हिन्दू समाज में अस्पृश्य समझा जाता था। हालांकि मुस्लमान हो जाने के बावजूद इन जातियों की आर्थिक-सामाजिक स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। उन्हें अब भी गुलामों की तरह प्रभुवर्ग की सेवा करनी थी। निम्न जातियों को शिक्षा प्राप्त करने या स्वतंत्र संपत्ति रखने का अधिकार नहीं था। प्राचीन काल से ही शिक्षा अध्यापक होते थे। धार्मिक आचार-विचार और कर्मकाण्ड संबंधी निर्देश इस शिक्षा का महत्वपूर्ण भाग थे। इस प्रकार शिक्षा का संबंध भी शूद्रों को हीन स्थिति में बनाये रखने वाली जाति व्यवस्था से था। मात्र शिक्षा ही नहीं, अपितु न्याय व्यवस्था और सेना का कार्य भी उच्चवर्ग व प्रभुत्वशाली वर्गों के आर्थिक-सामाजिक हितों की रक्षा का था। समस्त उत्पादन का बोझ निचली जातियों के कंधों पर था तथा उच्चवर्ग के राजा, सामंत, सुल्तान आदि इसके उपभाग के लिए थे। मुगल शासकों को अपने उपभोग के लिए ज्यादा कलात्मक विलासिता वस्तुयें अपेक्षित थीं। इसके लिए बाहर से कारीगर, शिल्पी, सैनिक आदि आये। इन तमाम जातियों के प्रवेश से भारतीय समाज में जातिव्यवस्था संबंधी नयी उलझनें पैदा हुई। धर्म की प्रकृति संकीर्ण होती गई तथा समाज में रूढ़िवादिता का जोर बढ़ा। जन्म, कर्म, नियति, भाग्यफल, पुनर्जन्म, जादू-टोना, मंत्र-तंत्र विषयक धारणाओं ने हिन्दू समाज के लिए नयी जकड़ने पैदा कीं। धर्म की इन्हीं अनवरत सीमित होती हुई भूमिकाओं की पहचान करते हुए भक्ति आंदोलन सामने आया। जिस ईश्वर को हिन्दू-मुस्लिम धर्माचार्यों ने वंचित-विपन्न जनता के लिए आंतक बना कर प्रस्तुत किया था उसी ईश्वर को सूफी संतों और निर्गुण-सगुण भक्तों ने समूची वर्ण-व्यवस्था और स्त्री पराधीनता की सामंती रूढ़ियों को चुनौती देने वाली शक्ति के रूप में विकसित किया।

11.2.2 महिलाओं की स्थिति

वस्तुत: सामंती समाज में शुद्र और स्त्री के दमन का अनिवार्य संबंध श्रम के शोषण और संपत्ति के एकाधिकार से है। इस समाज में स्त्री पराधीनता की जड़ें बहुत गहरी थीं। शुद्र के शोषण के पीछे तो वर्ण व्यवस्था का शुचितावाद काम कर रहा था, किन्तु स्त्री चाहे उच्च वर्ण की हो या निम्न वर्ण की सर्वत्र पराधीन और शोषित थी। वर्णव्यवस्था के सूत्रधार मनु ने प्रत्येक वय की स्त्री की पराधीनता को समाज के लिए अनिवार्य बताया। मर्तृहरि ने स्त्री को पुरूष के पतन और विनाश के ओर ले जाने वाली घोषित किया। पुरूषसत्तात्मकता की इस निरंतर मजबूत होती हुई प्रवृत्ति का ही प्रभाव था कि कबीर जैसे संत कवि, जो वर्णव्यवस्था के कटु आलोचक थे 'स्त्री' के संबंध में प्राय: ऐसे सामंती अन्तर्विरोधों से मुक्त नहीं थे। ध्यान देने की बात है कि 'स्त्री' को माया स्वरूप मानते हुए उन्होंने भर्तृहरि की धारणा का ही समर्थन किया। वैदिक युग या उसके बाद बौद्धकाल तक महिलाओं की शिक्षा-दीक्षा के उल्लेख मिलते हैं, किंतु यह स्थिति प्राय: उन स्त्रियों तक सीमित है जो उच्चवंशीय थीं। प्राय: ब्राह्मण स्त्रियों को विदुषी, उपाध्याया या आचार्य होने का गौरव प्राप्त था। वैदों, संहिताओं, धर्मसूत्रों या पुराणों में स्त्री स्वाधीनता का सहज समर्थन नहीं है। महाभारत में भी स्त्री की स्वतंत्रता का विरोध किया गया है। इसी प्रकार की स्त्री निंदा रामायण में भी मिलती है। उसमें स्त्री को धर्महीन, चपल, तीक्ष्ण तथा भेदकर बताया गया है। बौद्धसाहित्य भी स्त्री के प्रति सहज और उदार नहीं है। इस प्रकार पुरूष वर्चस्ववादी इन विचारधाराओं की जड़ें इतनी गहरी थीं कि इन्हें समाज के भीतर से चुनौती मिलना कठिन था। प्रथम शताब्दी आते-आते उच्च वर्ण में भी कन्याओं की शिक्षा-दीक्षा और उपनयन प्रथा का अंत हो गया। यही नहीं प्राय: इसी समय से कन्या के अल्प आयु में विवाह की प्रथा भी जोर पकड़ती दिखाई देती है। मध्यकाल में इस्लाम के आगमन के पश्चात् की राजनैतिक उथल-पुथल ने स्त्रियों के लिए ज्यादा कठिन परिस्थितियों का निर्माण किया। राजपूत वंश में जौहर आदि की प्रथायें वंश की कुलीनता की रक्षा के लिए अनिवार्य हो गयी थीं। उच्च वर्ग की या राजपरिवारों की स्त्रियों का जीवन खाने-पहनने और आराम से रहने की दृष्टि से ज्यादा सुविधाजनक था, किन्तु उन्हें बाह्य समाज में घुलने-मिलने के अवसर नहीं थे। पर्दा उनके लिए अनिवार्य था। यह युग किसी भी स्थिति में स्त्री की स्वतंत्र आत्माभिव्यक्ति के प्रति अनुकूल नहीं था। ऐसे में मीरा की स्वतंत्र आत्माभिव्यक्ति इस समूची सामंती व्यवस्था के प्रति विद्रोह का एक प्रखर बिगुल थी

11.3 मीरा का सामंती रूढ़ियों के प्रति विद्रोह

मीरा राजस्थान के राठौर राजवंश की पुत्रवधू तथा प्रसिद्ध सिसोदियावंश की कुलवधू थीं। मध्यकालीन राजपूत क्षत्रिय वंश राजाओं, सामतों और सैनिकों का वंश था। इनके अभ्युदयकाल में ब्राह्मणों द्वारा इनकी वीरता और शौर्य पर आधारित वंशावलियों की खोज की गयी। ये वंश युद्ध को अपने जीवन का सबसे बड़ा धर्म समझते थे। इनके समाज में सत्ता और संपत्ति से जुड़ी हुई मैत्री और बैर इतने प्रचलित थे कि इनके पास युद्ध को छोड़कर जीवन के किसी स्वाभाविक विधान के लिए प्राय: कोई गुंजाइश नहीं हुआ करती थी। उनके कुटुंब इस युद्ध की छाया में पलते थे। परस्पर शत्रुता के निरंतर दबाव में रहने के कारण यह समाज अपनी स्त्रियों के प्रति बहुत रूढ़िवादी और अनुदार था। इनके वंश की स्त्रियों पर पिता और पति, दोनों के कुलों की मर्यादा का भार माना जाता था। अल्पायु में विवाह के अतिरिक्त विधवा के लिए सती हो जाने का विधान भी इसी मर्यादा की रक्षा के लिए था। कुल की मर्यादा इतनी संवेदनशील हुआ करती थी कि स्त्री द्वारा अपनी इच्छा की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मात्र से इसके टूट जाने का खतरा था। इन्हीं कारणों से इन परिवारों की स्त्रियों पर अनेक बंदिशें लगायी जाती थीं। पिता या पति के घर में उसका स्थान अन्त:पुर था। उनका संवाद-व्यवहार या साक्षात्कार परिवार के पिता भाई, पति जैसे पुरूषों तथा परिवार की स्त्रियों या दासियों तक सीमित था। लज्जाशीलता, विनय और आज्ञाकारिता उसका धर्म थे। निजी इच्छाओं के त्याग और सहनशीलता आदि से उसकी महिमा आंकी जाती थी। उसके पतिव्रत्य, चरित्र और आचरण संबंधी विधि निषेध बड़े कठोर थे तथा इनमें किसी भी परिस्थिति में रियायत की संभावना नहीं थी।

मीरा को यही रूढ़िग्रस्त सामंती समाज मिला था। मीरा के पति कुंवर भोजराज तथा श्वसुर महाराणा सांगा की मृत्यु के बाद राणा विक्रमाजीत उनका अभिवावक बन बैठा। मीरा की कृष्णभक्ति और साधु संगति जैसे गतिविधियों ने उसे कुपित किया और वह मीरा के प्रति अमानवीयता की हद तक निर्मम होता गया। उसने मीरा के बाह्य समाज से मिलने-जुलने पर अनेक प्रकार से रोक लगाई। मीरा के पदों में इस राणा द्वारा उन पर पहरे बैठवाने और ताले जड़वा देने का उल्लेख आया है, किन्तु मीरा एक निर्भय स्वाधीनचेता स्त्री थी। मीरा ने अडिग रह कर राणा के अत्याचारों का सामना किया। मीरा की स्वाधीनता से राणा का पूरा नियंत्रण तंत्र अस्त-व्यस्त हो उठा था। राणाकुल की स्त्रियों ने भी मीरा की स्वाधीनता को स्वच्छन्दता माना और राणा के मीरा विरोध में सहायक हुई। मीरा के पदों में सास-ननद द्वारा प्रताड़ित होने के संदर्भ भी आये हैं। मीरा की भक्ति का सबसे बड़ा बाधक राणा विक्रमाजीत था। इसीलिए मीरा ने अपने पदों में सबसे ज्यादा इस राणा के अत्याचारों का वर्णन किया है। यह राणा विधवा मीरा का संरक्षक होने के साथ-साथ शासक भी था। उसके पास धन और सत्ता का बल तो था ही, इसके अतिरिक्त पुरूष होने के कारण उसे स्वाभाविक रूप से समाज में विशेष अधिकार प्राप्त था। रूढ़िवादी सामंती समाज में राणा के अत्याचारों का समर्थन था। इस प्रकार राणा ने भगवद्भक्ति को जीवन का एक मात्र उद्देश्य मानने वाली मीरा को अनेक प्रकार से आतंकित किया। उसके प्रचार तंत्र ने मीरा के बारे में समाज में अपवाद भी प्रचारित किये, किन्तु मीरा इससे विचलित नहीं हुई, बल्कि कृष्ण के प्रति अपनी निष्ठा और समर्पण में और दृढ़ होती गई। मीरा के पदों में राणा पुरूषवर्चस्ववादी सामंती व्यवस्था का सबसे निरंकुश, अमानवीय और रूढ़िवादी चरित्र है। मीरा स्वरचित पदों को अपनी साधु मंडली में गाती थीं। वस्तुत: कृष्ण और कृष्ण भक्त ही मीरा का सबसे बड़ा संबल थे। मीरा के पदों की लोकप्रियता बताती है कि सामंती नैतिकताओं का संरक्षक राणाकुल और रूढ़िवादी समाज उनका कितना ही बड़ा विरोधी क्यों न रहा हो, सामान्य लोक के चित में मीरा की सहज स्वीकृति थी। इस लोकस्मृति की परंपरा से भी हमें मीरा की वह छवि प्राप्त होती है जो स्वाधीन, गरिमामयी और साधु है। इस लोक की शक्ति से ही मीरा जैसी विधवा स्त्री ने राणा और समस्त स्त्री विरोधी समाज का सामना किया होगा। मीरा ने अपने पदों में राणा के प्रत्येक अत्याचार का भेद खोलकर उसे सीधी चुनौती दी। उन्होंने उसके प्रत्येक कपट का सिर्फ सामना ही नहीं किया, अपितु अपनी निर्भयता से उसके सत्ता और शक्ति के अहंकार को बौना कर दिया।

मध्यकालीन सामंती समाज में राजपूत-क्षत्रिय जातियों के पुरूषार्थ को 'ज़र, ज़ोरू और ज़मीन' के भोग के संदर्भ में परिभाषित किया जाता था। ऐसे वंश की विधवा स्त्री का अपने परिवार के संरक्षक पुरूष की खुली अवहेलना कितनी साहसपूर्ण रही होगी। मीरा ने राणा का नाम लेकर उसे धिक्कारा तथा

स्पष्ट कहा कि वह किसी भी उपाय से उन्हें उनके आराध्य कृष्ण की भक्ति से डिगा नहीं सकता। चरित्र हत्या को सामंती समाज अपना सबसे बड़ा हथियार समझता था। राणा ने भी अपने स्वतंत्र आचरण की घोषणा करने वाली मीरा की बदनामी की होगी। इन प्रसंगों से मीरा और दृढ़ हुई और उन्होंने राणा को स्पष्ट चेतावनी दी कि -

'राणा जी म्हाने या बदनामी लगे मीठी
कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूंगी चाल अपूठी'

मीरा ने सत्संग की निंदा करने वाले को दुर्जन माना है और वे उन्हें भी साफ-साफ धिक्कारती हैं। पति को परमेश्वर करने वाले सामंती नैतिकता की कोई परवाह न करते हुए मीरा ने 'गिरधरनागर' को अपना सच्चा प्रीतम घोषित किया। मीरा की भक्ति की रीति न्यारी थी। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कृष्ण के रूप में उन्हें अविनाशी सुहाग प्राप्त हुआ है। कृष्ण का अपने योग्यपूर्ण वर घोषित करते हुए उन्होंने राणा वंश की स्त्री को नियंत्रण में रखने वाली आचार संहिता को भारी चोट पहुंचाई। मीरा की स्वाधीनता राणाकुल के लिव अनवरत भारी संकट बनती गई होगी। यही कारण है कि राणा ने मीरा की हत्या के भी अनेक उपाय किये। मीरा का भक्ति हठ, उनकी स्पष्टवादिता और रूढ़िविरोध जड़ीभूत समाज के लिए चुनौती बनते गये। वस्तुतः मीरा ने बार-बार जिस कुल मर्यादा को तोड़ने की बात कही है वह स्त्री दमन और शोषण में लगी वह छद्म कुलमर्यादा थी जो उसे जीवित व्यक्तित्व न मानकर निष्प्राण वस्तु समझती थी। मीरा के कुटुंब की स्त्रियों को गहने, कपड़े, खाने-सोने का सुख तो था, किन्तु उनका अपने शरीर, अपनी आत्मा पर कोई अधिकार नहीं था। यह अनायास नहीं है कि मीरा ने उन्हीं कृष्ण को आराध्य माना जिन्हें द्रौपदी ने अपने घोर संकटकाल में अपनी रक्षा के लिए पुकारा था। मीरा के लिए भी उनका परिवार तथा उनके समय का रूढ़िग्रस्त समाज अपनी जड़ीभूत मान्यताओं के साथ कठोर होता गया था। मीरा ने भी गोपिका वल्लभ कृष्ण में ही नारी स्वाधीनता का संपूर्ण विधान अनुभव किया। उन्होंने राणा कुल द्वारा दिये गये समस्त उपभोगों का त्याग करते हुए अपने व्यक्तित्व की स्वतंत्रता को स्वतंत्रता के सार्थक अर्थ में चरितार्थ किया। भक्ति और साधु संगति में मीरा का भावलोक ही समृद्ध नहीं हुआ था, अपितु उनकी दृष्टि व्यापक और उदार होती गयी थी। इसीलिए अपनी भक्ति और व्यक्तित्व पर चौतरफा प्रहार झेलते हुए भी वे कभी अपनी निष्ठा से विचलित नहीं हुई। देखा जाये तो राजसत्ता के रूप में शासक राणा, वंश की कुलीनता की दावेदारी लेकर राणा कुल के स्त्री-पुरूष और शेष रूढ़िवादी समाज बहुत संगठित होकर मीरा पर प्रहार कर रहे थे, किन्तु मीरा न राणा से आतंकित थी और न उन्हें छद्म कुलीनता की कोई परवाह थी। 'स्त्री' के प्रति अमानवीय विधि-निषेधों से लैस रूढ़िवादी समाज के लिए तो उनके प्रखर स्वाभिमानी व्यक्तित्व की आंच ही यथेष्ट थी। इस प्रकार मीरा अपने समय के समाज की सामंती पतनशीलता से संघर्ष करती हुई एक निर्भय स्वाधीन व्यक्तित्व के रूप में मध्ययुगीन भक्तिकाव्य धारा में अपनी एक अलग और अनूठी छाप छोड़ती है। उनमें एक असाधारण स्त्री का ग्रहण और त्याग का विवेक है। वे स्वाधीन तो हैं, किन्तु स्वछंद नहीं है। वे गोकुल-वृन्दावन जैसे मानवीय गुणों से युक्त साधु समाज का स्वप्न देखती है। उनका संघर्ष असाधु, अन्याय और असत्य से है। राणा में ये तीनों प्रवृत्तियां मौजूद हैं। मीरा इन प्रवृत्तियों पर तीखी चोट करती हैं। कहती हैं -

विध विधणा री न्यारा।। टेक ।।
दीरध नेण मिरघ कूं देखां कणलण फिरता मारा।
उजलो बरण बागलां पावां कोयल वरणां कारा।
नदयां नदयां निरमल धारां समुंद करयां जल खारां।
मूरल जण सिंघासण राजा पण्डित फिरतां द्वारा।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर राणा भगत संपारा।

इस पद से मीरा की विकसित सामाजिक चेतना और राजनीतिक विवेक का ज्ञान होता है। यहां मीरा राजसत्ता के दमनकारी अमानवीय रूप को उद्घाटित करने के साथ-साथ अन्याय और दमन के लिए संगठित जड़ समाज की भी पहचान कराती हैं। यहां मध्ययुगीन समाज की विसंगतियों के प्रति मीरा का स्वर तीक्ष्ण व्यंग्यात्मक है। वस्तुतः विसंगत यथार्थबोध के प्रति मानवीय चित्र की सबसे स्वाभाविक

अभिव्यक्ति व्यंग्य ही है। मीरा के कई पदों में व्यंग्य की एक गहरी अन्तर्निहित प्रकार की धार पहचानी जा सकती है। ऐसे पदों का संदर्भ सदैव उनके समय का समाज और उसका अमानवीय यथार्थ है।

मीरा ने केवल राणा, राणाकुल या रूढ़िवादी समाज से ही संघर्ष नहीं किया था। जैसा कि हम जानते हैं कि उन्हें साधुवेश में आने वाले असाधुओं से भी जूझना पड़ा था। वैष्णव भक्तिधारा में भी कुछ ऐसी संकीर्णतायें थीं जिन्हें मीरा जैसी तपस्विनी नारी नहीं सह सकती थी। ऐसा ही एक प्रसंग मीरा के पुरोहित रामदास द्वारा वल्लभाचार्य जी का भजन गाने का है। मीरा ने उनसे ठाकुर जी का पद गाने का अनुरोध किया। पुरोहित ने इसे वल्लभाचार्य जी का अपमान समझ मीरा को घोर अपशब्द कहे। इस प्रकार के असाधुओं से मीरा का पाला पड़ता ही रहता था किन्तु उनमें साधु और असाधु को पहचानने का विवेक तो था ही, साथ ही अद्‌भुत क्षमाशीलता और विनम्रता भी थी। अन्याय से प्रत्येक स्तर पर जूझने वाली मीरा की प्रखरता बहुत मर्यादित थी। उनके व्यक्तित्व का संयम-नियम असाधारण था तथा इससे उनके अन्याय विरोध की धार और तीखी होती थी।

11.4 मीरा का जीवन संघर्ष

मीरा ने जीवन-पर्यन्त बहुत कठिन विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष किया। लगभग 4-5 वर्ष की आयु में ही उनकी माता का देहान्त हो गया था। मातृविहीन मीरा को उनके पितामह राव दूदा जी ने बहुत स्नेह और यत्न के साथ पाला। राव दूदा जी वीर होने के साथ सहृदय और वैष्णवचित्त व्यक्ति थे। मीरा का बाल्यकाल इन्हीं पितामह के संरक्षण और सानिध्य में बीता। राव दूदा जी ने अपने बड़े पुत्र वीरमदेव जी के पुत्र जयमल के साथ मीरा की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। इस प्रकार मीरा को बाल्यपन से ही व्यक्तित्व के विकास का जो वातावरण मिला वह रूढ़िवादी वर्जनाओं से मुक्त सहज स्नेह और सुरक्षा से युक्त था। यही कारण है कि मीरा का व्यक्तित्व सामंती विधि निषेधों द्वारा दमित स्त्री का सा न बन कर स्वतंत्रता साहसपूर्ण व्यक्तित्व के रूप में विकसित हुआ। उनके व्यक्तित्व में दृढ़ता, सर्जनात्मकता और अन्याय के विरोध जैसे असाधारण मानवीय गुणों का निरन्तर विकास होता गया। निरर्थक वर्जनाओं से अप्रभावित उनकी दृष्टि साधु, असाधु, न्याय-अन्याय और करणीय तथा अकरणीय को पहचानने के प्रति स्पष्ट होती गयी थी। मीरा में कोई छद्म नहीं था और न ही कोई भय। कुल परिवार और संकीर्ण समाज के अनवरत विरोध के बावजूद वे अपने पथ से कभी विचलित नहीं हुई। जैसा कि हमने देखा है कि मीरा के कृष्ण के प्रति अनुराग का निंदक केवल राणा परिवार ही नहीं था, सामंती जड़ताओं से ग्रस्त समाज तो था ही, अनेक वैष्णव साधु भी मीरा को शंका और विद्वेष की दृष्टि से देखते थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में कुछ ऐसे प्रसंग मिलते हैं जिनमें मीरा के प्रति इन कपटपूर्ण कृष्णभक्तों की कटुता का ज्ञान होता है। मीरा ने बड़े साहस के साथ किसी व्यक्ति, संप्रदाय या समाज से अपनी भक्ति और अभिव्यक्ति के प्रति कोई समर्थन न चाहते हुए साफ कहा है कि -

"चोरी न करस्यां जिव न सतास्यां कोई करसी म्हारो कोई।
गज से उतर के खर नहीं चढ़स्यां, ये तो बात न होई।"

मीरा को असंख्य बाधाओं से जूझना पड़ा था। मातृ-वियोग उनका एकमात्र शोक नहीं था। उनके पितामह दूदा जी की छत्रछाया भी कुछ ही दिनों में समाप्त हो गयी। पिता राव रत्न सिंह लड़ाईयों में व्यस्त थे। दूदा जी के बाद राव वीरभदेव जी ने अवश्य मीरा के पालन-पोषण पर ध्यान दिया। उन्हीं के प्रयत्न से मीरा का विवाह मेवाड़ के कुअंर भोजराज जी के साथ हुआ। मीरा का विवाहित जीवन सुखी था। उनके पति उदार हृदय व्यक्ति थे, अतः पति के जीवित रहते मीरा के लिए श्वसुर कुल विपरीत नहीं था। किन्तु पति की मृत्यु के बाद जब अनवरत दैवी आघातों से आहत मीरा ने स्वयं को कृष्णभक्ति में डूबा देना चाहा तब यही श्वसुर कुल विधवा मीरा पर भारी विपत्ति की तरह टूट पड़ा। पति की मृत्यु के कुछ ही वर्षों बाद मीरा के श्वसुर राणासांगा का भी देहांत हो गया। मेवाड़ का उत्तराधिकार महाराणा रत्नसिंह को मिला जो कुछ ही समय तक जीवित रहे। उनके बाद मेवाड़ का शासन मीरा के देवर विक्रमाजीत सिंह ने संभाला। विक्रमाजीत सिंह बहुत अनुदार और संकीर्ण चित्त व्यक्ति थे। पति की मृत्यु के बाद मीरा अपना सारा समय भगवद्‌भक्ति, साधु-संगत और कीर्तन भजन

में बिताने लगीं। मीरा के इस आचरण को सामंती नैतिकताओं में अवरूद्ध राणा परिवार अमर्यादित मानता था। उनसे सामान्य विधवाओं के से पूजा-पाठ, व्रत-तीर्थ तथा दान आदि की अपेक्षा की जाती थी। मीरा ने इन नियमों और वर्जनाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। फलस्वरूप मीरा के प्रति राणा कुल के अत्याचार बढ़ते गये। पुरूषसत्तात्मक रूढ़िवादी समाज को न तो मीरा की कृष्ण भक्ति समझ में आती थी और न ही उनकी स्वाधीनता। यही कारण है कि मीरा की कृष्ण के प्रति तन्मयता को शंका की दृष्टि से देखा गया और उन पर अनेक लाछन लगाये गये। इन प्रतिक्रियाओं से बहुत मर्माहत होकर मीरा ने कहा -

'बूझ्या माणे मदण बावरी स्याम प्रीत म्हां कांचा।
विखरो प्यालो राणां भेज्यां आरोग्यांणा जांचां।'

मीरा को सतसंग की अनुमति नहीं थी। गिरधर नागर के प्रति मीरा का पावन समर्पण सांसारिकता में फंसे कुबुद्धिजन की समझ से परे था। स्त्री को भोग की वस्तु समझने वाला सामंती चित्त मीरा के अद्भुत आत्मविकास की कल्पना ही नहीं कर सकता था। उनके अनुभव में लौकिक प्रेम, कलह और गहनों-कपड़ों में रमने वाली स्त्रियां थीं। मीरा के समान कठोर अत्याचार झेल कर अपने पथ पर अडिग रहने वाली स्त्री उनके लिए आश्चर्य भी थी और संकट भी। मीरा की भी स्वतंत्रता के दमन के लिए सुख-साज और कपड़े-लत्ते, गहने आदि के नाना प्रलोभन दिये गये थे। इनके काम न करने पर कुटुंबीजन की ओर से उन्हें चेतावनियां भी मिलीं। राणा ने पहरे बैठा दिये, ताले जड़वा दिये। सास-ननद ने गालियां दी। राणा के विष भेजने का उल्लेख मीरा के अनेक पदों में आया है। मीरा की स्वाधीनता तत्कालीन पुरूषसत्तात्मक समाज के लिए बड़ी चुनौती रही होगी। इस समाज ने राणा कुल के अत्याचारों का साथ देते हुए मीरा की अनेक प्रकार से निंदा की। उनकी हंसी उड़ाई। मीरा ने कहा--

'कड़वा बोल लोक जग बोल्यां करस्यां म्हारी हांसी।
आंबां की डालि कोइल इक बोले मेरो मरण अरू जग केरी हांसी'।

मीरा की आत्माभिव्यक्तिपरक पदों में राणा दमनकारी राजसत्ता का प्रतीक है। मीरा के समय की समस्त स्त्री स्वाधीनता विरोधी सामंती शक्तियां इस राणा के साथ है। यहां तक कि मीरा का वह पुरोहित भी जिसने मीरा के एक सहज व्यवहार पर कुपित हो मीरा को अपशब्द कहे। आज का आधुनिक कहा जाने वाला समाज भी स्त्री स्वाधीनता के प्रति सहज नहीं है। मीरायुगीन समाज में एक स्त्री की साधुसंगत में रमने की गतिविधि ने कितनी ही दृष्टात्माओं को आकृष्ट किया होगा। मीरा का संघर्ष अपने समय की इन रूग्ण प्रवृत्तियों से भी था। उन्होंने बड़ी सजगता और आत्मबल के साथ ऐसे छद्म साधुओं का सामना किया। ऐसी अनेक प्रतिकूलताओं से जूझती हुई मीरा ने अपनी श्रेष्ठ भक्ति का विश्वास सामान्य जन में तो जगा लिया, किन्तु जड़ीभूत सामंती समाज उन्हें भला बुरा कहने से बाज नहीं आया। वस्तुतः दोहरी नैतिकता वाले पुरूषसत्तात्मक समाज का सबसे कारगर हथियार चरित्र की दृष्टि से स्त्री की छवि को धूमिल कर देना है। यह हथियार मीरा पर पूरी क्रूरता के साथ आजमाया गया। समाज की इन प्रवृत्तियों पर सीधी चोट करते हुए मीरा ने कहा --

'नहिं सुख भावै थांरो देसलड़ो रंगरूड़ो ।।टेक।।
थारे देसां में राणा साधु नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो।'

इस प्रकार मीरा में सामंती संकीर्णताओं को पहचानने और उन पर चोट करने का साहस था। राणा के नाना अत्याचारों के बदले उसे सीधी चेतावनी देते हुए मीरा ने कहा --

'सीसोद्यो रूठ्यो म्हारो कोई करलेसी।
म्हे तो गुण गोविन्द का गास्यां, होमाई ।।टेक।।
राणो जी रूठ्यां बारों देख रखासी।
हरि रूठ्यां कुम्हलास्यां हो भाई।"

इस प्रकार मीरा ने अपने समय के नारीविरोधी सामंती समाज के अत्याचारों को मौन होकर सहने के बजाय उनका साहसपूर्वक सामना किया। राणा विक्रमाजीत सिंह केवल मीरा के प्रति ही निरंकुश नहीं था। वह एक बुरा शासक भी था। सन् 1532 से 1534 के बीच गुजरात के बादशाह बहादुर शाह ने दो बार मेवाड़ पर आक्रमण किया। दूसरी बार उसे विजय प्राप्त हुई तथा चित्तौड़ को उसने अपने अधीन कर लिया। इस समय तक मीरा के प्रति राणा के अत्याचारों की बात दूर-दूर तक फैल चुकी थी। राव वीरभदेव जी ने मीरा को भेड़ता बुला लिया। जयमल जी और मीरा में परस्पर स्नेह और आदरभाव था ही। मीरा को मायके में सम्मान और जीवन की अनुकूलतायें प्राप्त तो हुई, किन्तु भेड़ता राज्य की जोधपुर से बढ़ती हुई अनबन के चलते भेड़ते का जीवन शांतिपूर्ण नहीं रह सका। सन् 1538 में जोधपुर नरेश राव मालदेव ने भेड़ता पर अधिकार कर लिया और इन घटनाओं से मीरा की संसार के प्रति विरक्ति और प्रगाढ़ हो उठी। लगभग इसी के आसपास मीरा ने अपने दोनों पारंपरिक आश्रम तोड़ दिये, अर्थात् श्वसुर गृह के साथ-साथ पितृगृह भी। वे तीर्थ यात्रा पर चल पड़ी। कुछ दिनों तक वृन्दावन में रहीं उसके बाद द्वारका गयीं। कहते हैं द्वारका में ही उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। यद्यपि मीरा के गृहत्याग के बाद भेड़ता और मेवाड़ ने उन्हें लौटाने के बहुत प्रयत्न किये, कन्तु मीरा पुनः वहां लौट कर गयीं हों, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

इस प्रकार मीरा ने असह्य यातनाओं से भरे हुए जीवन को बड़ी गरिमा और स्वाभिमान के साथ व्यतीत किया। सामंती समाज की रूढ़ियां और छविभंजक प्रवृत्तियां मीरा का कुछ न बिगाड़ सकीं। लोकचित में मीरा की पावन असाधारण छवि आज भी विद्यमान है।

11.5 कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति

मीरा की कृष्ण भक्ति श्रीकृष्ण के सगुण स्वरूप के प्रति माधुर्य भाव की भक्ति है। इस भक्ति को प्रेमाभक्ति या मधुरा भक्ति भी कहा जाता है। मधुराभक्ति का प्रधान भाव रति है। इस 'रति' को लौकिक प्रेम से भिन्न करने के लिए सगुण भक्तों ने इसे 'उज्वल रस' कहा है। 'रति' का मूल स्वभाव सर्वाधिक मानवीय, तीव्र और प्रगाढ़ होता है। इसके अन्तर्गत प्रिय के प्रति चरम तन्मयता और निर्द्वन्द्व समर्पण होता है। इसलिए 'प्रेम' मात्र को ही व्यक्तित्व की स्वाधीनता की अभिव्यक्ति कहा जाता है। देह, मन और आत्मा की मानवीय स्वाभाविकताओं के अनुरूप घटित होते हुए इस प्रेम में अपने मार्ग की बाधाओं से लड़ने का अद्भुत नैतिक साहस होता है। मीरा की माधुर्य भाव की भक्ति का यही स्वरूप है। यह भक्ति जितनी आध्यात्मिक है, उतनी ही मानवीय भी। माधुर्यभाव की भक्ति को सूर ने 'सुद्धा भक्ति' कहा है। उनके अनुसार --

'सुद्धा भक्ति मोहि को चाहै। मुक्ति हुं कौं सो नहि अवगा है।'

इस प्रकार इस 'सुद्धा भक्ति' में भक्ति का एकमात्र प्राप्य आराध्य है। भक्त अपने आराध्य को संसार से अपनी मुक्ति के लिए नहीं चाहता। मीरा के लिए भी उनकी 'कृष्ण भक्ति', साधन और साध्य दोनों है तथा वे परलोक, निवृत्ति अथवा मुक्ति की चिंता न कर कृष्ण के प्रति चरम एकात्म की दृढ़ आकांक्षा करती हैं। जीवन, समाज या संसार के प्रति उनका वैराग्य भी संत, भक्त कवियों से भिन्न प्रकार का है। वे जीवन के असाधु, अमानवीय और अन्यायपूर्व पक्ष के प्रति विरक्त हैं, किन्तु लोक जीवन का साधु, प्रेममय मानवीय पक्ष उन्हें प्रिय हैं। वे मनुष्य में सद्वृत्तियों के विकास की चिंता करती हैं इसलिए अन्याय और असत्य से उनका विरोध बहुत सीधा और तीव्र है। अन्यायी राणा को फटकारते हुए मीरा कहती है --

'नाहिं सुख भावै थांरो देसलड़ो रंगरूड़ो ।।टेक।।
थारे देसां में राणा साध नहिं छै, लोग बसै सब कूड़ो ।।

इसीलिए मीरा संत समाज से जितनी सुखी होती है संसार को देखकर उतना ही दुःख पाती है। नाभादास ने मीरा के भक्तिभाव को कृष्ण के प्रति गोपिका के प्रेम सदृश्य लिखा है। पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत गोपीभाव की इस भक्ति को भक्ति का सर्वोत्कृष्ट रूप माना गया है। मीरा की भक्ति के सन्दर्भ

में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि उसे सगुण-निर्गुण भक्ति के परिपाटीबद्ध स्वरूप के अन्तर्गत नहीं निर्धारित किया जा सकता।

मीरा के भावजगत के निर्माण में सगुण-निर्गुण भेद की कोई दखल नहीं है और न ही वे किसी गुरू विशेष या भक्ति के संप्रदाय विशेष में दीक्षित हैं। वे भक्ति आंदोलन के मुख्य सार 'ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण मात्र' को पहचानती है और इस दृष्टि से भक्ति की उस समूची परंपरा को आत्मासात करती है जिसमें जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास और चैतन्य महाप्रभु के साथ-साथ सिद्ध नाथ पंथी साधु और सूफीसंत भी हैं। मीरा की भावाभिव्यक्ति में जो वैविध्य मिलता है उसके मूल में इस समूची परंपरा का प्रभाव है। मीरा की भक्ति उनके व्यक्तित्व के समान ही सहज निराडंबर और रागपूर्ण है।

इस प्रकार यह भक्ति सगुण की अनेक विशेषताओं का अनुकरण करने के बावजूद कई प्रकार से उसका अतिक्रमण भी करती है। इस प्रकार के अतिक्रमण के संदर्भ प्राय: वही हैं जिन्हें सामने रख कर मीरा के निर्गुण भक्त या नाथपंथी परंपरा का भक्त सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। मीरा के एकमात्र अभीष्ट 'गिरधर नागर' है तथा उन्हें 'गिरधर नागर' से सच्ची प्रीत का प्रत्येक पंथ प्रिय है। कृष्ण को अनेक नामों से स्मरण करने वाली मीरा कहीं-कहीं उन्हें 'राम' या 'रमैया' पुकार बैठी है --

'सुन्दर स्याम सुहावणा, मुख देख्यां जी जैहो।
मीरां के प्रभु रामजी, बड़ भागण रौझं हो।।'

यहां ऐसा लगता है कि 'रामजी' से मीरा का अभिप्राय सुन्दर श्याम कृष्ण से ही है। मीरा के कई अन्य पदों में भी 'राम' के लिए संबोधन है। प्राय: इस प्रकार के पदों का संदर्भ भक्त वत्सल भगवान के प्रति मनुष्य को प्रेरित और उद्‌बोधित करने का है। जैसे --

'लेतां लेतां राम नाम रे, लो कड़िया तो लाजा मरे है।'

या

'जूठे फल लीन्हे राम, प्रेम की प्रतीत जाण,
ऊंच-नीच जाने नहीं, रस की रसीलड़ी।'

कहीं-कहीं मीरा की अनूठी भावतन्मयता के चलते राम और कृष्ण में अद्‌भुत मेल हो गया दीखता है। जैसे -

'देखत राम हसै सुदामा कूं देखत रामहसै' ।।टेक।।

वस्तुत: मीरा के लिए भक्त वत्सल राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं है। मीरा ने कृष्ण को 'जोगी,' 'जोगिया,' 'रावल' आदि संबोधन भी दिये हैं। इन संबोधनों के संदर्भ से ही मीरा पर नाथपंथी प्रभाव की बात कही जाती है। ऐसे पदों में मीरा की अपने आराध्य के प्रति प्रेम की तीव्रता दीवानगी की हद तक है। प्रेम की इस तीव्रता को सूफी संतों के प्रभाव से भी जोड़ा जाता है। इसके अतिरिक्त मीरा ने कुछ पदों में 'सतगुरू' का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार के साक्ष्यों से मीरा को निगुर्णसंत परंपरा का प्रमाणित करने का प्रयास किया जाता है। यद्यपि मीरा कबीर, रैदास, नानक या पुष्टिमार्गीय भक्त कवियों की तरह भ्रमणशील नहीं थी तथापि उनकी साधु मण्डली में प्रत्येक पंथ के साधु या भक्तजनों का स्वागत था। वहां 'सतसंग' होता था, भगवद्‌भक्ति विषयक विचारों का आदान-प्रदान भी होता रहा होगा। इसके अलावा गुजरात और राजस्थान सिद्धनाथ संतों की साधना और भाव प्रचार का महत्वपूर्ण क्षेत्र तो थे ही। तो इन समस्त प्रभावों से मीरा की भक्ति का स्वरूप निर्मित हुआ होगा।

मीरा की भक्ति में अन्य संत कवियों की भांति अध्यात्म की रहस्यवादी जटिलतायें प्राय: नहीं है। उनका भावजगत उनके व्यक्तित्व की ही भांति पूरी तरह से व्यक्त और प्रत्यक्ष है तथा वे अपने प्रत्येक भाव के साथ कृष्ण के प्रति सहज संबोधित है। इसके अतिरिक्त कबीर या तुलसी के समान मीरा के लिए काम,

क्रोध, मद, मोह, मात्सर्य के पंच मकार या सांसारिक सुखों के प्रलोभन आदि कहीं समस्या नहीं है। वे इनसे सहज ही मुक्त है तथा आर्तजनों की सहज मुक्ति के लिए सर्वस्व समर्पण वाला भक्ति की रीति का विधान करती है। संसार से उनकी विरक्ति कृष्ण के प्रति उनकी अनन्य भक्ति के समान ही सहज और निर्बाध है। मीरा की भक्ति का मूलाधार कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ प्रेम है। इसके अतिरिक्त उनकी भक्ति में अन्य भक्त कवियों के समान दैन्यपूर्ण आत्मविगलन प्रायः नहीं है। मीरा का भावलोक व्यापक, उदात्त और समृद्ध है। उनकी भक्ति में कांता भाव के प्रगाढ़ रंग के अतिरिक्त कहीं-कहीं सख्य या दास्य भाव के भी रंग मिलते हैं, किन्तु आत्म-निवेदन के इन सभी रूपों में मीरा के उत्कट कृष्ण प्रेम के अलावा उनके जीवनानुभवों की सच्चाई और गहराई है। कृष्ण का अद्‌भुत अलौकिक सौन्दर्य मीरा की अनुरक्ति की मूल प्रेरणा और आकर्षण हैं। निरंतर प्रगाढ़ होती हुई इस अनुरक्ति के चलते मीरा कृष्ण के अनवरत सानिध्य का यत्न करती है। इस क्रम में उनकी भक्ति में पुष्टिमार्गीय भक्ति के भी कुछ लक्षण प्रकट होते हैं। जैसे प्रभु के स्वरूप और गुण का स्मरण, कीर्तन, प्रभु के पुरूषार्थ, लीला एवं भक्त हितकारी स्वरूप का निरूपण, उनकी वंदना, आत्मनिवेदन, नैकट्य की आकांक्षा की अभिव्यक्ति, सतसंग, तादात्म्य एवं समर्पण आदि। मीरा स्वयं अपनी भक्ति को 'भगति रसीली' कहती है। यह भक्ति उनके लिए 'अमर रस' का प्याला है जिसे पीकर वे दुर्मति, कालप्रकोप और नश्वर संसार से सहज ही मुक्त है। अपने भक्त रूप को गोपी भाव में अवस्थित मान मीरा ने कृष्ण से अपने जन्म-जन्मातंर के प्रेम की बात कही है। कृष्ण उनका अविनाशी सुहाग है। उन्हें अनेक बार मीरा पिव, भरतार, वर आदि संबोधन देती है। उनकी भक्ति में कहीं स्वकीया का अधिकार और आत्म-विश्वास है तो कहीं वे ऐसे प्रिय को परकीया की तरह उपालंभ भी देती हैं। मीरा प्रेम की ही नहीं दरद की भी दीवानी है। प्रिय से प्राप्त यह दर्द उन्हें प्रिय के समान ही प्रिय है। मीरा का भक्ति में अनुभव और उपदेश का सुन्दर एकात्म है। अपनी प्रेम साधना का चरम आकांक्षा के रूप में मीरा उस अगम्य देस में वास की इच्छा करती हैं जिसके निकट काल की भी गति नहीं है। कहती है --

'चालां अगम वा देस, काल देख्यां डराँ।
भरा प्रेम रा होज, हंस केल्याँ कराँ।
साधा संत रो संग, इयाण जुगतां करां।
धंरा सांवरो ध्यान चित्त उजलों करां।
साजा सोल सिंगार, सोणारो राखड़ाँ।
साँवलिया सू प्रीत, औराँ सूं आखड़ाँ।।

मीरा के इस उद्‌गार में किंचित निर्गुण संतों के रहस्यवादी स्वर का भी स्पर्श है, किन्तु वह उनसे कम जटिल या अमूर्त है।

इस प्रकार मीरा की माधुर्य भाव की भक्ति सगुण-निर्गुण भक्ति की समूची परंपरा के सार को आत्मसात करती हुई आध्यात्मिकता को मानवीय राग-विराग से संपन्न भावलोक सौंपती हुई अपनी अभिव्यक्ति में मीरा के ही समाज सहज किंतु अनूठी और असाधारण है। उसमें स्वानुभूति की वह तीव्रता और सच्चाई है जिसके द्वारा वह भक्ति आंदोलन में एक अनूठे रागात्मक स्वर का विधान करती है।

11.6 मीरा के गिरधर नागर

मीरा के 'गिरधर नागर' सगुण भक्त कवियों के परम् आराध्य भगवान कृष्ण ही हैं। उनके समान ही वे उनके सगुण स्वरूप की लीलाओं का गान करती है। मीरा के पितामह राव बूदा जी वैष्णव भक्त थे। मीरा का पालन-पोषण और व्यक्तित्व निर्माण राव दूदा जी के वैष्णव संस्कारों के प्रभाव में ही हुआ। कहा जाता है कि मीरा को बाल्यकाल में ही गिरधर नागर का एक स्वरूप प्राप्त हो गया था और वह स्वरूप उन्हें अत्याधिक प्रिय था। इस संदर्भ में लोक में कई किंबदन्तियां भी प्रचलित हैं। एक प्रसंग मीरा की माता द्वारा उस स्वरूप को ही मीरा का वर बताने का भी है। संभवतः इन संयोगों से मीरा के बाल्यहृदय में कृष्ण के प्रति अनुरक्ति का बीज पड़ गया होगा जो उनके निरंतर कठिन होते जीवन का एक मात्र आधार या संबल बनता गया। कृष्ण को प्रायः वे 'गिरधर नागर' संबोधन देती है। संभवतः

मीरा को इस नाम में कृष्ण चरित्र की संपूर्णता का बोध होता है। 'गिरधर' में यदि उनके लोकरक्षक स्वरूप की अभिव्यक्ति है तो 'नागर' में अद्‌भुत लोकरंजक स्वरूप की। इस प्रकार मीरा ने कृष्ण की 'मोहिनी मूरत' में सत्य, शील और कर्म का मेल देखा है। यह सौंदर्य मानवीय और सकर्मक है। उनमें मानवोचितता और अलौकिकता का अद्‌भुत मेल है। मीरा उन्हें अपने सबसे निकट का सच्चा साथी मानती है तथा उनके प्रति अपने सुख-दुख: भरे जीवन के समस्त अनुभवों के साथ निर्द्वन्द्व भाव से व्यक्त होती है। कृष्ण मीरा के आराध्य हैं। अन्य भक्त कवियों के समान मीरा भी श्रीकृष्ण के लीलामय स्वरूप का ध्यान भजन या उनके प्रति आत्म निवेदन करती है, किन्तु मीरा का भावलोक प्रेमलोक है जिसमें वे आराध्य को उनके समस्त ऐश्वर्य और अलौकिकता के साथ निर्मित करन के बावजूद उनसे अपने सुख-दुख: का एक आत्मीय संबंध भी विकसित करती है।

मीरा के गिरधर नागर को हरि, स्याम, नंदलाल, बिहारी जी, मोहन, गोपाल, गोविन्द, दीनानाथ, ब्रजनाथ, जोगिया जी, गिरधरलाल, मनमोहन, रमैया, भुवनपति, नन्द कुमार, पिया, पिव जैसे कितने ही संबोधन दिये हैं। वे कहती हैं --

'म्हारां री गिरधर गोपाल, दूसराँ णाँ कूयां।
दूसरां णां कूयां साधां सकल लोक जूयां ।।टेक।।
माय्र छंड्या अन्ध छंड्यां छांड्यां सगों सूयां।
साधा ढिंग बैठ बैठ, लोक लाज खूयां।

गिरधर गोपाल मीरा के सर्वस्व हैं। वे स्वरूपवान और लोकहितकारी हैं। मीरा उनके अलौकिक सौन्दर्य के आगे प्रेम विवश हैं। उनका मुख सुंदर है। नेत्र कमल के समान हैं और दीर्घ नेत्रों की बांकी चितवन का तो कहना ही क्या। उनकी वाणी मीठी और सम्मोहन से भरी हुई है। सबसे बढ़कर तो उनकी वंशी का जादू है जिसके कारण प्रेम विवश मीरा उन पर बार-बार बलिहारी जाती है। ऐसे कृष्ण के क्षण भर भी विलग होना मीरा को सह्य नहीं है। वे उन्हें अपनी आंखों में बसा कर रखती हैं। वह छवि क्षण भाव को भी विस्मृत न हो इसके लिए मीरा अपनी पलकों को अचल कर लेने की बात कहती है। यही नहीं कृष्ण सदैव उनके हृदय में बसे हुए हैं और उनसे प्रतिपल उनका मिलन होता है। वे कहती हैं --

'स्याम मिलन सिंगार सजावाँ सुखरी सेज बिछावाँ।
मीरा रे प्रभु गिरधर नागर, बार-बार बलि जावाँ।।

ऐसे गिरधर को रिझाने का मीरा करोड़ों यत्न करती हैं। लोकलाज और कुल की मर्यादा के बंधनों की एक न सुनती हुई उनके प्रति प्रेम के घुंघरू पग में बांध कर मीरा नाच उठती है। इस प्रकार मीरा अपने रसिक के प्रति अपनी पुरानी प्रीत को जांचती है। मीरा के गिरधर नागर में भक्त वत्सल प्रभु की करूणा के साथ-साथ लीला पुरूषोत्तम का रसित स्वरूप भी शामिल है। उनकी प्रीति से भक्त का मन उज्जवल रस से परिपूर्ण और लोकोपकारी हो उठता है। उसमें साधु तथा सुन्दर को पहचानने का विवेक आ जाता है। मीरा कहती हैं --

भाई सांवरे रंग राची ।। टेक।।
सज सिंगार बांध पग घूंघर, लोकलाज तज नाची।
गया कुमत लयां साधों संगत श्याम प्रीत जग सांची।

ऐसे गिरधर मीरा के लिए अनमोल हैं। मीरा ने उन्हें तन-मन जीवन वार कर पाया है। कृष्ण को पाकर मीरा ने संसार से पूरी तरह से मुंह मोड़ लिया है। उनके अनुसार यह संसार, इसके सुख वैभव छोटे-मोटे तालाबों, झीलों जैसे हैं, जबकि कृष्ण महासागर हैं। उनके आगे तो गंगा-यमुना की भी बिसात नहीं। कृष्ण की सहज कृपा से मीरा उनके दरबार के महत्वपूर्ण सरदारों में से एक हो गयी हैं। कहती हैं --

हिल्या-मेल्याँ कामणा म्हारे, म्हा मिल्या सरदाराँ री।
कामदाराँ सूं काम णाँ म्हारे, जावा म्हा दरबाराँरी।'

इस प्रकार मीरा यहां सामंती राज परिवार से मिले सत्ता और अधिकार के अनुभवों से अपने आराध्य के परम् अधिकारी स्वरूप का निर्माण करती है। इस प्रकार मीरा के कृष्ण में भक्त कवियों द्वारा निर्मित कृष्ण छवि का प्रभाव तो है, किंतु अपने भिन्न अनुभव लोक से वे उन्हें कई नये रूप भी प्रदान करती हैं। मीरा के प्रभु जीवमात्र की सद्गति के प्रेरक सर्वव्याप्त और अविनाशी है। अपने आराध्य का स्पष्ट परिचय देती हुई मीरा कहती है --

'म्हारो गोकुल रो ब्रजवासी ।।टेक।।
ब्रजलीला लख जण सुख पावाँ, बजवणताँ सुखरासी।'

वे पुनः कहती हैं कि उनके अविनाशी प्रभु ने नंद यशोदा के पुण्य से उनके घर जन्म लिया है। अर्थात् उनके प्रभु में जन्म-मरण से परे होने का वही महात्म्य है जिसे निर्गुण संतों ने गाया है। ऐसे कृष्ण से मीरा अपने प्रेम संपन्न भावलोक में निर्विघ्न मिलती हैं। उसके रंग में रची हुई नाचती गाती हैं। वे साफ कहती हैं कि गिरधर नागर के रूप में उन्हें अचल-अविनाशी सुहाग प्राप्त हुआ है। लोकनिंदा के विष ने मीरा की भक्ति को तपा कर खरे सोने सा दमका दिया है। गिरधर की सच्ची प्रीत से मीरा को कोई प्रलोभन डिगा नहीं पाया। हरि के रूठने की तो वे कल्पना भी नहीं कर सकतीं। हरि की कृपा से ही तो उनके जीवन का समस्त विष अमृत हो गया है। ऐसे करूणानिधान प्रभु के समक्ष कभी-कभी मीरा कातर भी हुई हैं। ऐसे प्रसंगों में उन्होंने प्रभु को साभिप्राय 'गिरधर नागर' या 'गोवरधन गिरधारी' कहा है। दृपद सुता, 'सुदामा', 'शबरी', 'गजराज', 'गणिका', 'करमाबाई,' आदि अनेक भक्तों को सहज ही मुक्ति देने वाले प्रभु के सम्मुख अतिभाव से प्रस्तुत होती हुई मीरा उनसे अपने उद्धार की प्रार्थना भी करती है। इसमें ही वे अपनी प्रीति का निर्वाह देखती है। मीरा ने इस प्रकार कृष्ण के प्रति अपने प्रेम की दृढ़ता और एक निष्ठता को अनेक प्रकार से कहने के साथ-साथ कृष्ण के स्वयं के प्रति प्रेम के प्रमाण भी चाहे हैं। वे कहती हैं --

'सांवरो म्हारो प्रीत विभाज्यो जी।'

कृष्ण के लोक उद्धारक स्वरूप की नाना छवियों के साथ मीरा ने उनके लोकरंजक स्वरूप को भी निर्मित किया है। इस संदर्भ में वे ब्रजबिहारी की नाना लीलाओं का वर्णन करती हैं। श्रीकृष्ण का वंशीवादन, चीरहरण, नागनथैया, पनघट लीला, आदि अनेक लीलाओं को वे नये रंग में प्रस्तुत करती हैं। यहां कृष्ण का नटवर नागर स्वरूप व्यक्त हुआ है।

इस प्रकार मीरा के 'गिरधर नागर' की छवि उनके जीवन संघर्ष से शक्ति प्राप्त करने वाली एकनिष्ठ माधुर्यभाव की भक्ति द्वारा निर्मित हुई है। वे परमब्रह्म परमेश्वर के समान जगत के उद्धारक और अविनाशी होने के साथ मीरा का अचल अविनाशी सुहाग भी है।

11.7 मीरा की विरह भावना

मीरा की माधुर्य भाव की भक्ति में सबसे प्रगाढ़ और मार्मिक स्वर विरह का है। उन्होंने ऐसा प्रियतम ही चुना है, जिससे लौकिक जगत में मिलन संभव नहीं। इसलिए निरंतर दृढ़ होते हुए उनके इस प्रेम की अनिवार्य परिणति विरह ही है। उनके कठिन संघर्षपूर्ण जीवन के अभावों ने एक ओर तो उनकी भक्ति को खरे कंचन का सा स्वरूप दिया तो दूसरी ओर यह पीड़ा कृष्ण विछोह की उस अलौकिक अनुभूति के साथ एकसार हो गयी जो जितनी आध्यात्मिक थी उतनी ही लौकिक भी। मीरा की विरहाभिव्यक्ति में अलौकिक प्रियतम के प्रति प्रेम विवशता तथा उन्हें न पा सकने की पीड़ा आदिभाव बहुत तीव्रता के साथ उभरे हैं। ऐसे में वे प्रिय से नैकट्य और उनके प्रति समर्पण में बाधक राणा, राणाकुल और रूढ़िवादी समाज के प्रति अपना धिक्कार स्पष्ट व्यक्त करती है। ये संदर्भ उनके विरह को मानवीय गहराई और

विश्वसनीयता प्रदान करते हैं। मीरा की भक्ति जितनी उनके अन्तर्जगत में घटित होती है उतना ही वह बाह्यजगत को भी अपने अनुरूप बनाने के लिए संघर्ष करती हैं। राणा विक्रमाजीत सिंह का संकट यही है। भक्ति रस में डूबी हुई मीरा साधु समाज का वह समां बांध देती हैं कि स्त्रीविरोधी सामंती समाज अपनी सारी वर्जनाओं के बावजूद उसके सात्विक वेग के आगे एक पल भी ठहर नहीं पाता। मीरा अपने प्रभु के प्रति व्यक्त ही नहीं हुई, अपितु उन्होंने उस अलौकिक को कई रंग-रूप प्रदान किये। सामंती नैतिकताओं की कतई परवाह न करते हुए अपने वैधव्य के लिए निर्धारित विधि निषेधों को ताक पर रखते हुए मीरा ने गिरधर नागर को स्वकीया भाव से पूजा और चाहा। उनके लिए श्रृंगार किया, सेज सजाई। उनसे रूठी और उनसे मान भी गई। मीरा की भक्ति के समान ही उनके विरह में भी स्वानुभूति का वह उत्कट रंग है जिसे विरह भावना के शास्त्रीय रूप-स्वरूप या दशाओं में बांध कर नहीं देखा जा सकता।

लीला पुरूष परब्रह्म श्रीकृष्ण मीरा के प्रियतम हैं। ऐसे प्रियतम से मिलन केवल स्वप्न में ही संभव है। स्वाभाविक है कि इस प्रकार के स्वप्नों की परिणति या तो उस स्वप्न में प्राप्त मिलन सुख के मंदिर भाव में डूब कर उसके वर्णन में होती है अथवा इस प्रकार के मिलन का उद्‌भव वास्तविक जीवन में घटित विद्रोह की पीड़ा को अधिक गहरा कर जाता है। स्वप्न या कल्पना में पाये संयोग के अल्प संयोगों को भी मीरा ने डूब कर व्यक्त किया है। यही वह उनकी सबसे मूल्यवान थाती है जिसके बल पर वह प्रिय वियोग के साथ-साथ अपने विरोध में खड़े कुल-कुटुंब और समाज के सारे अत्याचारों का सामना करती है। स्वप्न में कृष्ण मिलन का वर्णन करती हुई मीरा कहती हैं --

'भाई म्हाणे सुपणा मां परव्या दीनानाथ।
छप्पन कोटां जणां पधार्‌या दूल्होसिरी ब्रजनाथ।
सुपणा मां तोरण बंध्यारी सुपणामां गह्‌या हाथ।
सुपणा मां म्हारे परण गया पायां अचल सोहाग।
मीरा रो गिरधर मिल्यारी, पुरब जणम रो भाग।

इस प्रकार मीरा के इस अद्‌भुत स्वप्न में गिरधर नागर ने मीरा को छप्पन करोड़ देवताओं की साक्षी में ब्याह लिया है। ऐसे अलौकिक सुहाग की स्वामिनी मीरा ने स्वयं को पूरी तरह से गिरधर के रंग में रंग लिया है। उनके प्राणों में प्रतिपल ऐसे प्रियतम की प्रतीक्षा है। वे अपने रोम-रोम से गिरधर के आगमन का संदेश सुनना चाहती हैं, किन्तु ऐसे सुख के संयोग उन्हें बहुत कम प्राप्त हुए हैं। यही कारण है कि इन गिनती के संयोग क्षणों में वे आनंद से नाच उठती है। कहती हैं --

'सावन मां, उमग्यो म्हारो मण री मणक सुण्या हरि आवण री।'

और उनके लिए यह सावन जिसने विरह को अतिदीर्घ और असह्य बनाया है अपने समस्त वेभव समेत प्रिय हो उठता है। प्रिय के आने पर जैसे उनकी युगों-युगों की प्रतीक्षा पूरी होती है। वे कृष्ण से सदैव अपने नेत्रों के आगे बने रहने का अनुरोध करती हैं। ऐसे रसिक शिरोमणि करूणानिधान प्रिय से पल भर का भी बिछोह मीरा को सह्य नहीं है, किन्तु यह विछोह ही जैसे उनका एक मात्र प्राप्य है। वास्तविकता भी यही है। मीरा का प्रिय से मिलन केवल उनके अन्तर्जगत में ही संभव हुआ है। लौकिक जगत में प्रिय का चिर वियोग ही उनके जीवन की सबसे बड़ी सच्चाई है। यहां प्रिय का साहचर्य या उनसे अपने प्रेम का प्रतिदान उन्हें प्राप्त नहीं हो पाया है। यह उनके कृष्ण के प्रति समर्पित जीवन की सबसे बड़ी विडंबना है। चिर विरह के इस दुःख के सोने का सुहागा उनके प्रति बैर रखने वाले स्वजन और समाज हैं। इन अनुभवों से मीरा का अपने एक मात्र आश्रम व अवलंब से विछोह का दुःख और असह्य हो उठता है। विरह जनित भावस्थिति में उनमें संयोग की स्थिति का औत्सुक्य और चचंलता भावों की गहराई और प्रगाढ़ता में बदल जाते हैं। प्रेम यहां अधिक व्यक्त व्यापक और उदार होता दिखाई देता है। यहां मीरा अपनी धनीभूत पीड़ा के साथ जीवन और जगत के कण-कण के प्रति संबोधित हैं। उनकी आत्माभिव्यक्ति के इस रंग में उनका अद्‌भुत आत्म प्रसार लक्षित किया जा सकता है। इस विरह में मीरा की मनोदशाओं के विविध रूप प्राप्त होते हैं।

अलौकिक प्रियतम के प्रति निवेदित मीरा की विरहाभिव्यक्ति में कभी-कभी निर्गुण संतों के रहस्यवादी स्वर की अनुगूंज सुनाई पड़ती है। ऐसे प्रसंगों में उनकी प्रेम विफलता में आत्मा और परमात्मा के बीच जगत में घटित होने वाले विछोह का अर्थ भी देखा जा सकता है। मीरा ने यहां 'भव प्रवंच' को संतों के से विराग से ही देखा है। वे कहती हैं --

म्हारे आज्यो जी रामां, थारे आवत आस्यां सामां ।।टेक।।
तुम मिलियां में बोही सुख पाऊं, सो मनोरथ कामां।
तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं, जैसे सूरज धामां।
मीरा के मन अवर न माने चाहे सुन्दर स्यामां।।

कबीर की तरह मीरा को भी विरह भुजंग डस गया है। कहती हैं --

विरह नागण मोरी काया डसी है, लहर लहर जिवजावै।

विरह ने मन और काया पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया है। उन्हें देश-काल की कोई सुध-बुध नहीं है। सारी रात आंखों में कट जाती है। प्रिय को पत्र लिख भेजना चाहती है, किन्तु लिख नहीं पातीं। हाथ कांपते हैं, आंखों से आंसुओं की झड़ी लगी है। कोई ऋतु, कोई उत्सव, कोई त्यौहार अच्छा नहीं लगता। कहीं-कहीं मीरा ने विरह वर्णन की पारंपरिक शैली का भी उपभोग किया है। उनके पदों में वर्षा ऋतु के उद्दीपक रूप में अनेक चित्र मिलते हैं। दादुर, मोर, पपीहा को वे उनकी प्रिय विछोह को उद्दीप्त करने वाली पारंपरिक भूमिका में ही देखती हैं। पपीहे से तो वे अत्यधिक दुःखी हो जाती हैं। उसे फटकारती हुई कहती हैं --

'पपइया रे पिव की वाणी न बोल ।।टेक।।
सुणि पावेली विरहिणी रे, भारो राखेली पांख मरोड़।'

इसी पपीहे पर प्रिय से संयोग की स्थिति में वे निछावर हो जाने की बात कहती है। मीरा ने विरह को 'बारहमासा' में भी व्यक्त किया है तथा इसके अन्तर्गत वे प्रत्येक ऋतु की विरह के लिए दुःखदाई हो जाने वाली भूमिका का वर्णन करती है --

जेठ महीने जल बिणा पंछी दुख होई, हो।
मोर असाढ़ा कुरलहे, घन चात्रक सोई, हो।
सावण में झड़ लागियो, सखि तीजा खेले हो।
भादवै नदिया बहै, दूरी जिन मेले हो।

विरह की अतिपीड़ा में वे प्रिय की कठोरता के प्रति उलाहनों में व्यक्त होती हैं। उसे अत्यन्त कठोर हृदय वाला निर्मोही भी कहती हैं। पीड़ा का आधिक्य उनके लिए इतना असह्य है कि वे प्राण भी तज देना चाहती हैं। कहती हैं --

'विरह की मारी मैं बन डोलूं प्राण तज् करवतल्यूं कासी।'

इस 'विरह समुंद' का पारे लगाने वाला 'हरि अविनाशी' ही है। मीरा उसके कारण 'जोगन' हो जाने की बात भी कहती है। उसी के लिए उन्होंने घर, संसार, स्वजन सब त्याग दिये हैं।

ये स्वजन मीरा की अनुभुतियों से सर्वथा अपरिचित और अनात्मीय हैं। वे मीरा की भाव विह्वलता की हंसी उड़ाते हैं। मीरा प्रिय के प्रेम और वियोग की पीड़ा में दीवानगी की हद तक डूब जाती हैं। वे अपनी पीड़ा की नाना अनुभूतियों के साथ अति मुखर हैं और कुछ पदों में ढिंढोरा पीट कर अपने प्रेम दीवानी होने की खबर देने के साथ-साथ प्रिय वियोग के लिए अभिशप्त प्रीति में किसी अन्य के न पड़ने की बात कहना चाहती हैं। यह वस्तुतः प्रेम की पीर की अतिशयता का ही व्यंजनापूर्ण कथन है।

इस प्रकार मीरा का विरह, प्रिय विछोहजन्य पीड़ा की सघन मार्मिक अनुभूतियों की बड़ी वैविध्यपूर्ण और विश्वसनीय अभिव्यक्ति है। इसके अन्तर्गत विरह वर्णन के पारंपरिक रूपों का उपयोग करने के बावजूद मीरा उनके परिपाटीबद्ध रूपों का अनुकरण नहीं करती है।

11.8 सारांश

इस प्रकार मीरा का काव्य मध्ययुगीन भक्ति धारा के सर्वोत्तम सार की अभिव्यक्ति होने के साथ-साथ लोकोन्मुख है। कबीर, रैदास, तुलसी आदि कवियों के समान मीरा की ईश्वर भक्ति उनकी वैयक्तिक मुक्ति का साधन भर नहीं है। मीरा अपने समय के समाज के सामाजिक-आर्थिक अन्तर्विरोधों के प्रति सजग हैं। वे मध्ययुगीन सामंती प्रवृत्तियों के प्रति संरक्षणशील राज परिवार की कुलवधू हैं। ऐसे परिवार के लिए नारी स्वाधीनता सर्वथा असह्य है। इसके अतिरिक्त मीरा राणा कुल की विधवा स्त्री है। वैधव्य के साथ ही समूचे समाज की स्त्री के प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती है। राणा विक्रमाजीत भी अपने बड़े भाई की पत्नी मीरा के प्रति बहुत सजग और कठोर है। वह उनकी भगवद्भक्ति और साधु संगत के प्रति अनुदार है। इस प्रकार की समस्त बाधाओं से जूझती हुई मीरा की कृष्ण भक्ति उत्तरोत्तर दृढ़ और एकनिष्ठ होती है। वे कृष्ण के लोकरक्षक लोकरंजक स्वरूप का विधान करती हैं। वे अपने आराध्य की छवि का निर्माण करते हुए सगुण-निर्गुण काव्य परंपरा के परिपाटीबद्ध स्वरूपों का अतिक्रमण भी करती हैं। मीरा का विरह उनकी कृष्ण भक्ति की परीक्षा है। सामंती रूढ़ियों द्वारा प्रेरित अत्याचारों के विष तथा अलौकिक कृष्ण के विरह की अग्नि द्वारा परीक्षित मीरा का व्यक्तित्व मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का अनमोल रत्न है।

11.9 अभ्यास/प्रश्न

1) मीरा के काव्य के संदर्भ में मध्ययुगीन सामंती अन्तर्विरोधों का विश्लेषण कीजिए।

2) मीरा के काव्य में पुरूषसत्तात्मकता और रूढ़िवादिता का तीखा विरोध मिलता है, कथन की विवेचना कीजिए।

3) मीरा की भक्ति में उनके जीवनानुभवों की सच्चाई और मार्मिकता है, कथन से आप कहां तक सहमत हैं?

4) कृष्ण के प्रति मीरा की भक्ति का वैशिष्ट्य निर्धारित कीजिए।

5) मीरा के गिरधर नागर की छवि ईश्वर के सगुण-निर्गुण स्वरूप का अतिक्रमण करती है, कथन से अपनी सहमति का उल्लेख कीजिए।

6) मीरा के विरह में उनके लौकिक जीवन के अभाव के पक्ष की गहरी भूमिका है, इस कथन के प्रकाश मे उसकी विशेषताओं का निर्धारण कीजिए।

इकाई 12 मीरा का काव्य सौन्दर्य

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 मीरा की कविता का विषय
12.3 मीरा की कविता में प्रेमानुभूति और प्रेम विह्वलता का चित्रण
12.4 मीरा की भाषा
12.5 मीरा की कविता का शिल्प विधान
12.6 सारांश
12.7 शब्दावली
12.8 अभ्यास/प्रश्न

12.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आपने मीराकालीन समाज, नारी पराधीनता, मीरा का सामंती रूढ़ियों के प्रति विद्रोह, जीवन संघर्ष, मीरा की कृष्ण भक्ति तथा मीरा के विरह की विशेषताओं की जानकारी प्राप्त की थी। इस इकाई में हम आपको मीरा की कविता से परिचित कराने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप :

- मीरा की कविता की विषयगत विशेषता जान सकेंगे,
- मीरा की कविता में प्रेमानुभूति और प्रेमविह्वलता का अवलोकन कर सकेंगे, और
- मीरा की कविता की भाषागत और शिल्पगत विशेषताओं को रेखांकित कर सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

कबीर, सूर, तुलसी आदि संत कवियों के समान मीरा मूलत: भक्त हैं। उनका भावलोक आराध्य के प्रति उन्मुख नाना अनुभूतियों से सम्पन्न है। उनके अपने जीवन के सम-विषम अनुभव उसे और ग़हरा बनाते हैं। लोकजीवन से अकृत्रिम निकटता के चलते उनकी भाषा अर्थ की गहरी शक्ति से अधिक सक्षम और संवेद्य हो उठती है। संत समाज का निरंतर सम्पर्क भी इस अभिव्यक्ति को सहज कलात्मक सधाव प्रदान करता है तथा मीरा का सम्पूर्ण काव्य भावों की वैविध्यमय गहराई व अनूठी संप्रेष्यता से सज जाता है।

मीरा ने श्रीकृष्ण के विविध रूपों का साक्षात्कार किया है। वे उनके प्रिय, पति, सखा और उद्धारक प्रभु हैं। इसके अनुरूप ही उनके भावजगत में उज्जवल रति, निर्दोष उन्मुक्तता, भावावेश और विनय आदि का प्रकाश दिखाई देता है। कृष्ण के प्रति दृढ़ अनुरक्ति ने मीरा के व्यक्तित्व को अद्‌भुत आत्मविकास दिया है। वे स्वाधीन और गरिमामयी हैं। उनके जीवन के बड़े आध्यात्मिक उद्देश्य उन्हें संकीर्ण सामंती समाज की क्षुद्रताओं के प्रति विद्रोही और विरक्त बनाते हैं। मीरा की इस शक्ति से आहत पुरुष सत्तात्मक समाज हजारगुनी क्रूरता और कपट के साथ उनपर टूट पड़ता है, किन्तु मीरा विचलित नहीं होतीं। इस प्रकार मीरा की आत्माभिव्यक्ति में एक ओर यदि कृष्ण भक्ति का अमृत है तो दूसरी ओर इस अमृत के सहज प्रकाश में बाधक रूढ़िवादी समाज के निर्मम अत्याचारों के विषय से अनवरत संघर्ष भी है। संभवत: इसीलिए मीरा ने कृष्ण के लोकरक्षक, लोकरंजक स्वरूप में अपने जीवन के समस्त अभावों की पूर्ति देखी है। कृष्ण प्रेम उन्हें जीवन के विषम और पीड़ादायी स्थिति से सहज ही मुक्त करता है। मीरा का यह प्रेम मानवीय, प्रगाढ़ और प्रत्यक्ष है। इसमें अतिशय तीव्रता है किन्तु यह उच्छृंखल नहीं है। कृष्ण की अद्‌भुत सम्मोहक छवि उन्हें प्रेम विवश कर देती है। उनका सम्पूर्ण अस्तित्व तीव्र उत्कंठित प्रेम की मार्मिक गुहार में रूपांतरित हो जाता है। मीरा का काव्य उनकी भक्ति की सहज अभिव्यक्ति है। मीरा में काव्य की कलात्मक निपुणता के लिए आग्रह या प्रयत्न नहीं है।

उनकी काव्यभाषा गहरी अर्थसम्पन्नता की शक्ति से अलंकार आदि का स्वाभाविक विधान करती है। उनके गीतों में गीतकाव्य परंपरा के उत्कृष्टतम के साथ-साथ लोकगीतों का मार्मिक अनुभव लोक खुलता दिखाई देता है। मीरा के पद गेय हैं। उनकी तीव्र भावनात्मकता उन्हें प्रगीत का महत्वपूर्ण शिल्प प्रदान करती है। मीरा के पदों में नाना शास्त्रीय रागों के प्रति अद्भुत अनुकूलता पायी गयी है। मीरा के काव्य में कला भावाभिव्यक्ति के अधिक आंतरिक और कारगर मूल्य के रूप में है। इन्हीं पक्षों का अध्ययन हम इस इकाई में करने जा रहे हैं।

12.2 मीरा की कविता का विषय

मीरा की कविता का विषय उनकी आत्मानुभूतियाँ और जीवनानुभव है। उनका आत्म उनके आराध्य 'गिरधर नागर' के विविध अनुभवों से विकसित और समृद्ध हैं। प्रेम ही उनके जीवन और भक्ति का सर्वोत्तम सार है। इस प्रेम की प्रेरणा मीरा स्वयं हैं। अपनी बाल्यावस्था में ही वे श्रीकृष्ण की कल्याणकारी मनोहर छवि की ओर आकृष्ट हुईं तथा यह रूपासक्ति उत्तरोत्तर दृढ़ और प्रगाढ़ प्रेम में रूपान्तरित होती गयी। मीरा की आत्माभिव्यक्ति की पुरुषासत्तात्मक तंत्र ने उनको मनमानेपन के रूप में प्रचारित किया। हमने देखा है कि मीरा किस प्रकार एक सामान्य स्त्री से भिन्न थीं। यही नहीं वे भक्ति आंदोलन के अन्य भक्तों से भी विशिष्ट थीं। कबीर या तुलसी जैसे संतों के लिए संसार के नाना प्रलोभन एक बड़ा संकट थे। स्वंय निर्बल पड़ने पर वे अपने प्रभु से आत्मबल और कृपा प्रदान करने की याचना करते थे। मीरा इस संसार या इसके संबंध और भोग-विलास आदि के प्रचण्ड आकर्षण से कभी विचलित नहीं हुईं, जबकि वे इनके बीचोबीच बैठी हुई थीं। वे इनसे सहज ही मुक्त या विरक्त थीं। गिरधर नागर से कृपा प्रार्थना वे भी करती हैं, परन्तु इसलिए कि इसी में उनकी आत्मा रमती है। वे कहती हैं:

म्हाँरी आसा चितवणि थारी, और णा दूजा दौर

उनका एकमात्र संकट कृष्ण से विछोह है। 'गिरधर नागर' के बिना उन्हें सब जग सूना लगता है। हरिविमुख संसार को वे 'दुर्जन या कूड़ा' कहकर धिक्कारती हैं। महल, अटारी, गहने, कपड़े से बांधकर रखना चाहने वाला राणा उनके लिए वृक्षों में करील के वृक्ष के समान बैरी और अप्रिय है। वे साफ कहती हैं कि -

'सीसोद्यो रूठ्यो म्हाँरो कोई करलेसी।
म्हे तो गुण गोविंद का गास्याँ, हो माई ।।टेक।।
राणो रूठ्यौं बाँरो देस रखासी।
हरि रूठ्यौं 'कुम्ह लास्या' हो, माई।

इस प्रकार गोविन्द का गुणगान ही मीरा की कविता का विषय है। गोविंद की शक्ति से मीरा निर्भय और विवेकवान होती हैं। मध्ययुगीन पुरुष सत्तात्मक समाज को मीरा की यह स्वाधीनता और साहस सह्य नहीं है। वह उन पर विपत्ति की तरह टूट पड़ता है। मीरा के आत्मनिवेदन में इन अमानवीय अनुभवों के अध्याय भी खुले हैं, किन्तु मीरा के गिरधर नागर ने उनके जीवन के समस्त विष को अमृत कर दिया है।

मीरा ने गिरधर नागर के रूप में साक्षात पूर्णता को वरण किया है। वे कहती भी हैं कि -

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बर पायो है पूरो।

ऐसा वर पाने को कभी वे पूर्वजन्म का भाग्य कहती हैं तो कभी इसे 'प्रीत पुराणी' के परिणाम के रूप में देखती हैं। इसमें उन्हें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे प्रियतम का प्रेम बड़े भाग्य से मिलता है। मीरा ने इस प्रेम को पाने के करोड़ों यत्न किये हैं। इन प्रयत्नों की पराकाष्ठा 'प्राणों को अंकोर कर दे देने' के

रूप में दिखाई पड़ती है। यह चरम समर्पण का वह रूप है जिसके लिए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दलित द्राक्षा की तरह स्वंय को निचोड़कर दे देने का रूपक दिया है। मीरा ने भी अपना सब कुछ मनमोहन पर वार दिया है। प्रेम और कलह के संसारी रूपों मात्र से परिचित समाज उनके इस अनूठे भाव को समझ नहीं पाता। वह उन्हें बिगड़ी हुई कहता है। मीरा को भी इस हरि विमुख लोक की कोई परवाह नहीं है। उनका एकमात्र अभीष्ट हरि से मिलन है। वे प्रत्येक क्षण इस मिलन की आशा और प्रतीक्षा से उत्कंठित हैं। अलौकिक प्रभु से लौकिक जगत में मिलन संभव नहीं। फलतः वे अपने रोम-रोम से साकार प्रतीज्ञा बन जाती हैं। वे एक ऐसी विरहिणी हैं जो प्रियतम के बिना क्षण भर भी जीना नहीं चाहतीं। उनका कुटुंब उनके हरि से मिलन का विरोधी है। वह उन्हें बंधन में रखने के अनेक उपाय करता है। कहीं-कहीं मीरा ने भी खण्डिता नायिका की तरह 'जोगिया' के अन्यत्र रम जाने पर उसे उलाहना दिया है। वे उस रसिक के कठोर हृदय की खबर लेती हैं। मीरा के लिए यह प्रीति दुखदाई तो हुई है, किन्तु यही उनका परम आकांक्षित है। वे जानती हैं कि इस दुःख का उपचार भी गिरधर नागर के पास ही है। मीरा ने श्रीकृष्ण के लोक रक्षक लीलास्वरूप का भी चित्रण किया है। यहां वे प्रभु की भक्त वत्सलता के प्रसंगों का स्मरण करती हुई विनय के शांत परम भाव में भी अवस्थित दिखाई देती हैं। मीरा की आत्माभिव्यक्ति में उनके कृष्ण के प्रति अनुरक्तिपूर्ण विविध अनुभवों की ही प्रधानता है। उनका भक्त व्यक्तित्व अन्य भक्त कवियों के समान ज्ञान से नहीं अपितु प्रेम से रूपांतरित होता है। सतसंग आदि को उन्होंने अपने प्रिय से अतिशय और अनवरत निकटता के लिए चुना है। इस प्रकार वे अपने कृष्ण भक्त मन और प्राणों के लिए अनुकूल वातावरण का निर्माण करती हैं और यह अब तक स्पष्ट हो चुका है कि इसके लिए उन्होंने कितना कठिन संघर्ष किया है। मीरा साधु समाज में रमती हैं। हरि स्मरण और हरिभजन के द्वारा उनका चित्त निरंतर उज्जवल होता है। वे अपने शीलव्रत में दृढ़ होती हैं। वे वही शृंगार करती हैं जो प्रिय को भाता है। इस प्रकार मीरा के सारे प्रयत्न अपने प्रियतम कृष्ण के मनोनुकूल बन उनमें समर्पित होने के लिए हैं। कहीं-कहीं वे काम, क्रोध, मद, मोह आदि में लिप्त आत्माओं को प्रभु के प्रति प्रेरित होने के लिए उपदेश भी देती हैं, किन्तु वह उनका प्रधान भाव नहीं है। मीरा की कविता उपदेश नहीं अपितु अनुभव प्रधान है। इसीलिए वे अन्य सगुण-निर्गुण कवियों से विशिष्ट हैं। मीरा की भक्ति और इस भक्ति के लिए उनका कठिन संघर्ष दोनों ही असाधारण है। मीरा का हरि विमुख अमानवीय संसार से संघर्ष एक सच्चाई है। कहना न होगा कि यह मात्र अपने भीतर के आलस्य, लोभ, प्रमाद या कामनाओं से संघर्ष जैसा आसान नहीं है। यह रूढ़िवादी सामंती समाज के प्रत्यक्ष अवरोधों से सीधी और बहुत कठिन लड़ाई है। ये शक्तियां बहुत संगठित और समृद्ध हैं। मीरा का काव्यलोक इन सामंती स्त्री विरोधी शक्तियों के अन्तर्विरोधों को भी उजागर करता है। मीरा ने इस समाज की वास्तविकता में अन्तर्निहित विडंबनाओं को भी रेखांकित किया है।

साधुसमाज में आत्माभिव्यक्ति के द्वारा ये सच्चाइयां सहज ही प्रकाशित हो जाती है। इसीलिए 'सतसंग' उनके लिए मात्र प्रभु से अनवरत निकटता का ही उद्यम नहीं है, अपितु इस समाज में मीरा स्त्री के प्रति असहिष्णु समाज के प्रत्येक अत्याचार को खोल कर कहती हैं। इसी प्रकार श्रीकृष्ण भी उनकी वैयक्तिक मुक्तिमात्र का साधन नहीं है। मीरा ने समूचे स्त्री समाज को पराधीन और व्यक्तित्वहीन बनाकर रखने वाले सामंती विधि निषेधों के लिए इस 'गिरधर नागर' के द्वारा भारी चुनौती दी है। भक्ति आंदोलन का मुख्य सार वर्णव्यवस्था विरोध के रूप में पहचाना जाता है। इसके द्वारा ऐसे कल्याणकारी ईश्वर का विधान संभव हुआ जिसने मनुष्य को वर्ण, जाति या संप्रदाय से ऊपर उठाकर उसे मानवमात्र की आत्मगरिमा में प्रतिष्ठित किया। मीरा के गिरधर नागर के द्वारा इस आंदोलन में स्त्री मुक्ति का पक्ष भी जुड़ा। यह अनायास नहीं है कि मीरा ने भक्त वत्सल प्रभु की करुणा को रेखांकित करने के लिए जिन प्रसंगों को चुना है वे प्रायः करमाबाई, अहल्या, गणिका, द्रौपदी आदि की मुक्ति से संबंधित है। उनके प्रभु जग का उद्धार करने वाले हैं और उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष, या ऊंची-नीची जाति में कोई भेद नहीं है। मध्यकालीन जड़ जाति व्यवस्था में जकड़े समाज में इस प्रकार के प्रसंगों का उल्लेख कितना कठिन और क्रांतिकारी रहा होगा, इसे सहज ही समझा जा सकता है। सामंती समाज के विषम अनुभव कबीर या तुलसी जैसे कवि के लिए भी कठिन हैं, किन्तु पुरुष होने के नाते पराधीनता उनका अनुभव नहीं है। मीरा ने 'पराधीनता' की अमानवीय यातनाओं को झेला है और व्यक्त किया है। प्रभु के प्रति समर्पित होती हुई मीरा अपनी आत्माभिव्यक्ति के द्वारा वस्तुतः अपने 'आत्म' का संधान भी करती है। यही कारण है कि उनकी कविता का विषय मात्र भक्ति भाव का

निवेदन न होकर एक स्वाधीन स्त्री की आत्माभिव्यक्ति पर पहरे बैठाने वाले समाज के अनुभवों की भी अभिव्यक्ति है। संभवत: इसीलिए मीरा के यहां गोपन कुछ भी नहीं है; न तो उनका कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम जो अपनी अलौकिकता के बावजूद विकृत सामंती प्रवृत्तियों द्वारा लांछित किया जाता है और न इन प्रवृत्तियों के अधीन काम करने वाले समाज के अत्याचार। मीरा की यह समाज सर्जगता असाधारण है। उनकी भक्ति और उनका आत्मसंघर्ष दोनों की गति एक साधु और मानवीय समाज की रचना के प्रति है।

इस प्रकार मीरा का काव्य कृष्ण के प्रति उनकी अनुरक्ति और इस अनुरक्ति के प्रति प्रतिकूल समाज के अनुभवों की अभिव्यक्ति है। वे अपने राग या भक्ति मात्र के प्रति एकाग्र समाज निरपेक्ष भक्त नहीं है। मध्ययुगीन समाज की वे प्रवृत्तियां, जो विशेष रूप से स्त्री के दमन के प्रति उत्तरदायी हैं, मीरा के काव्य में प्रश्नांकित हुई हैं। मीरा ने अभिव्यक्ति के लिए प्रगीत मुक्तकों का कलेवर चुना है। उनके पद उनके अनुभव के नाना हिस्सों से संबद्ध हैं और इनके भीतर एक महाकाव्यात्मक अन्तर्संबद्धता प्रवाहित है। मीरा की कविता के विषय पर विचार करते हुए हमें उनके पदों के व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ की पहचान करनी चाहिए। मीरा के पदों से उनका स्वयं का जो व्यक्तित्व उभरता है वह गरिमामय, साधु और साहसी है। कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ प्रेम से उसे अमृत और गरल को अलग करके देखने की द्वन्द्वात्मक दृष्टि दी है। उनके द्वारा निर्मित श्रीकृष्ण की छवि में भी उनके अपने भाव-अभाव के विविध संदर्भ प्रतिबिंबित हुए हैं। कुल मिलाकर यह कृष्ण छवि अपने सौन्दर्य से ज्यादा अपनी सर्वजन उपकारक क्षमता के कारण मीरा के हृदय में बसती है। अपने आत्मनिवेदनों में मीरा अपने अभावों और दु:खों की गठरी खोलती अवश्य है किन्तु कहीं भी दुख से दबी हुई कातर या विगलित नहीं दिखाई देतीं। उनका आत्मबोध प्रखर और पूर्ण है। कहना न होगा कि कृष्ण उनकी पूर्णता के नियामक हैं।

12.3 मीरा की कविता में प्रेमानुभूति और प्रेम विह्वलता का चित्रण

मध्ययुगीन भक्तिकाव्य धारा में मीरा की पहचान श्रीकृष्ण के प्रति उनकी अद्भुत अनन्य प्रेम भावना के द्वारा बनती है। यह अनुरक्ति अपने चरम रूप में घटित होती हुई उनके व्यक्तित्व का पर्याय बन जाती है। प्रेम स्वाभाविक रूप से एक व्यापक और उदात्त भाव है। इसकी प्रेरणा से मानवमन की समस्त ग्रंथियां खुल जाती हैं तथा वह अनवरत आत्मप्रसार को प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में यदि यह प्रेम 'गिरधर नागर' जैसा साक्षात पूर्णता के प्रति निवेदित हो तो इसकी शक्ति का कहना ही क्या? मीरा का 'गिरधर नागर' के प्रति प्रेम उनकी जीवनानुभूति से अभिन्न है। इसमें घुल-मिल कर मीरा ने अपना समस्त व्यक्तिगत और सामाजिक अनुभव बांटा है या जिया है। वे इसे अपने जीवनानुभवों की शक्ति से विकसित करते हुए अत्यन्त अकृत्रिम और मानवीय धरातल प्रदान करती हैं। मीरा अपने प्रभु को अपनी लौकिक वेदनाओं और अपेक्षाओं के अनुरूप रचती हैं। इसलिए उनकी छवि यहां अन्य कृष्णभक्त कवियों द्वारा निर्मित छवि से विशिष्ट हो जाती है। निस्संदेह मीरा का प्रेम अलौकिक सर्वव्यापक प्रभु के प्रति है किन्तु यह एक कुलीन परिवार की स्त्री द्वारा कुल और समाज के विधि निषेधों के तिरस्कार के साथ घटित होता है। प्रेम तो प्रत्येक युग की स्त्री के लिए वर्जित फल है। मीरा ने इस वर्जित फल की मादकता के अनुभव का कोई वर्णन छोड़ा नहीं है। वे अपने प्रभु को अलौकिकता के रहस्य में छुपाकर स्त्री के लिए अपेक्षाकृत सुरक्षित पथ का चुनाव नहीं करतीं। वे अपने अलौकिक आराध्य में भी प्रणय के ऐसे उन्मुक्त और ऐन्द्रिक रंग भर देती हैं कि दोहरी नैतिकताओं वाला मध्ययुगीन सामंती समाज किंकर्तव्यविमूढ़ रह जाता है।

यही कारण है कि मीरा के इस आचरण को पूरे समाज के लिए भारी संकट मानते हुए वह मीरा के प्रति अपने व्यवहार की ऊपरी मानवीय खोल उतार कर सर्वथा निरंकुश और निर्भय हो उठता है। मध्ययुग में राजस्थान के सामंती समाज ने अपनी मिथ्याकुलमर्यादा के लिए स्त्रियों पर क्या-क्या कहर ढाए हैं, यह किसी से छुपा नहीं है, किन्तु मीरा के प्रेम के साहस और शक्ति के सम्मुख यह समाज अपने विधि-निषेध, शास्त्र, पुराण, लोकमर्यादा जैसे सारे स्त्री विरोधी अस्त्रों से सज्जित होने के बावजूद निहत्था साबित होता है। मीरा के प्रेम ने लोक में अपनी पवित्रता के प्रति विश्वास की अलख जगायी थी। राणा कुल और नारी निंदक समाज की सारी तैयारियां मीरा की इस व्यापक लोक-स्वीकृति के

सम्मुख निष्फल हुई। मीरा में कहीं कोई दुविधा या आडंबर नहीं था; न प्रेम को लेकर न ही रूढ़िवादी समाज के विरोध को लेकर और न ही इस प्रेम की सर्वथा छद्म रहित अभिव्यक्ति को लेकर।

मीरा का अन्तर्जगत सहज और निर्मल है। यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि उनमें स्त्रियों के लिए अति स्वाभाविक दुर्बलताएं या जटिलताएं नहीं है। संभवत: बाल्यकाल में ही उन्होंने जिस गिरधर छवि को अंतर में बसा लिया है उसने ऐसे ऋण, असुरक्षाबोध प्रेरित भावों के लिए वहां कोई स्थान ही नहीं छोड़ा है। आयु और जीवन संघर्ष के साथ विकसित और प्रगाढ़ होते हुए इस प्रेम ने मीरा को अद्‌भुत आत्मविश्वास प्रदान किया। इसकी ही शक्ति से मीरा ने स्त्री की अग्नि परीक्षाओं के अभ्यस्त समाज को कितनी ही बार निरुत्तर कर दिया। पूर्व उल्लेखों में हमने देखा है कि मीरा के लिए केवल संकीर्ण चित्त सामंती समाज संकट नहीं था, साधुवेशधारी असाधुओं से भी उनका संघर्ष हुआ। अपनी निर्भीकता और निर्मलता के द्वारा उन्होंने सहज ही ऐसे दुष्टों के समूचे कपट को खोल कर रख दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सामान्य स्त्रियों की तरह मीरा के भावलोक का कुछ भी गोपन या अबूझ नहीं है। वे अपने जीवन के प्रत्येक सत्य के साथ गिरधर नागर के प्रति निवेदित हैं।

मीरा का रागजगत निर्कुण्ठ और स्वाभाविक होने के कारण ऊर्वर और गतिशील है। यह उन्हें शेष जगत के सत्य, शील और सौन्दर्य से जोड़ता है। उनके चित्त में इस प्रेम का एकछत्र राज्य है। पुन: कहना होगा कि वहां इस प्रेम का किसी प्रतिकूल भाव या प्रलोभन से कोई संघर्ष नहीं दिखाई देता। इसे इस तरह देखना चाहिए कि मीरा ने सायास इस प्रेम के प्रति अपने मन को पक्का नहीं किया है, बल्कि इस प्रेम ने अपनी गहराई और प्रसार के द्वारा मीरा को उनके आराध्य के प्रति एकनिष्ठ सहज प्रेम का पर्याय बना दिया है। श्रीकृष्ण को मीरा ने अपना 'सुहाग' माना है। अपने सुहाग के समान ही वे स्वंय भी शील, संयम, समर्पण और पातिव्रत्य में अनूठी हैं। अन्य सामान्य सुहागिनों की तरह वे अपने पति के प्रेम को वैयक्तिक अनुभव मानती हुई उसके प्रति संकीर्ण या संरक्षणशील नहीं हैं। उन्हें अपने प्रिय की जग के आर्तजनों के उद्धार के प्रति तत्परता सर्वाधिक प्रिय है। उनका प्रेमपथ सुविस्तृत राजपथ की तरह उदार है।

यद्यपि कुछ पदों में उन्होंने प्रेम की गैल के संकरे होने की बात कही है। वस्तुत: उन्होंने इस संकरेपन को अनेक प्रकार के विघ्नों और अवरोधों से युक्त होने के अर्थ में लिया है। वे इस पथ की विकटता भी चिन्हित करती है और बताती है कि इसपर अपना सब कुछ दाँव पर लगाकर ही चला जा सकता है।

मीरा के कृष्ण 'चढ़ती हुई वय' के तिरछे सम्मोहक नेत्रों वाले अभिराम कृष्ण हैं। वे सुन्दर और रसिक हैं। उनके हाव-भाव सम्मोहक हैं। उनकी बंकिम छवि मीरा के हृदय में ऐसी अड़ी है कि उसका निकालना संभव नहीं है। इसे मीरा ने प्रेम की तीर का कलेजे में धंस कर वहीं धंसा रह जाना भी कहा है। कहीं-कहीं यह कलेजे को आर-पार भी कर गया है। यह एक ऐसा बंधन है जिसमें चंचल मन को भी बांध रखने की शक्ति है। मीरा के प्रेम की एकनिष्ठता के मूल में इसकी यही शक्ति है। मीरा ने इस प्रेम को नित्य नवीन और गहरा होता अनुभव किया है। वे सांवरे के रंग में रंगती जाती हैं। वे स्पष्ट कहती हैं कि तन-मन जाता है तो जाये, सीस ही क्यों न कट जाये, लोक की सर्वथा विमुखता भी स्वीकार हैं किन्तु गिरधर नागर से दूर रहना किसी प्रकार सह्य नहीं है। प्रेमजन्य मनोदशाओं का चित्रण करती हुई मीरा इस प्रेम के द्वारा मन व शरीर के अवश हो जाने की बात कहती हैं। उनकी यह अवश दशा स्त्री स्वातंत्र्य के विरोधी कुल और समाज को स्वीकार नहीं किन्तु प्रगाढ़ प्रेम में बेसुध मीरा को एकमात्र प्रिय के प्रति अपने प्रेम के निवेदन का ध्यान है। प्रिय की मोहक छवि को नेत्रों में बसाती हुई, उसकी चेष्टाओं को एकटक निहारती हुई, उसकी मीठी वाणी को रोम-रोम से सुनती हुई, मीरा कृष्णमय हो जाती हैं। वे गोपाल के संग-संग डोलना चाहती हैं। उनके निरंतर सान्निध्य के लिए वे धेनुचारी गोपों का वेश तक धारण करने की इच्छा करती हैं। प्रिय के संग की कामना ने उन्हें 'गुलफाम' बना दिया है। वे कृष्ण दरस का सौभाग्य पाने वाले वृन्दावन का तृण, कण तक हो जाना चाहती हैं। प्रेम के इस चरम अनुभव को व्यक्त करती हुई मीरा ने एक पद में संतों द्वारा निर्दिष्ट भक्ति के पथ की सीमाओं की ओर भी साभिप्राय संकेत किया है। उल्लेखनीय है कि चैतन्य महाप्रभु की

मधुरा भक्ति में स्त्री भक्तों का प्रवेश वर्जित था। इस धारणा से जुड़ी हुई एक घटना मीरा के जीवन में भी घटी। संभवतः ऐसी ही धारणाओं की ओर संकेत करते हुए मीरा ने कहा कि –

'गुरुजन कठिन कानि कासों री कहिए।
मीरा प्रभु गिरधर मिलि ऐसे ही रहिए।।

स्पष्ट है कि उन्हें गिरधर से मिलन की सहज रीति प्रिय है। मीरा कृष्ण के प्रति अपनी प्रीति के प्रत्युत्तर में उनसे और सघन प्रीति चाहती है। मीरा कहती हैं –

रमइया मेरे तोही सूं लायी नेह।
लगी प्रीति जिन तोडै रे बाला, अधिक कीजै नेह ।।टेक।।

मीरा कहती हैं कि प्रेम करने वाला तो बावला है किन्तु प्रेम को तोड़ने वाला क्रूर है। मीरा के प्रिय का मीरा से अबोला नहीं है। वह इन्हें तिरछे निहारता है, हंस कर देखता है और मीठी बाणी बोलता है। उसने आने का वचन भी दिया है, किन्तु आया नहीं है। मीरा उससे अभिसारिका की तरह मिलने जाती हैं। दिन-रात उसके साथ खेलती हैं। मीरा के सर्वस्व पर उनके प्रिय का अधिकार है। 'बेचे तो बिक जाऊं' की प्रेम पराकाष्ठा यहां है। कहीं-कहीं मीरा ने अपने अनमोल की कीमत पर गोविंद को मोल लेने की बात कही हैं। अपने प्रिय के चरित्र में दिव्यता का समावेश करती हुई मीरा ने उसके प्रतिक्षण मन में बसने का भाव व्यक्त किया है। ऐसे अविनाशी प्रियतम के साथ वे 'पंचरंग चोला' पहन कर झिरमिट' खेलने जातीं हैं। यह प्रिय उनका अमर सौभाग्य है। वे वैष्णव साधुओं जैसा तिलक, माला और शीलव्रत का शृंगार धारण करती हैं। कृष्ण के प्रति मीरा की प्रेमोन्मत्तता के प्रति नासमझ जड़ समाज उन्हें 'मदन बावरी' कहता है, किन्तु मीरा को इसकी कोई परवाह नहीं है। सीस कटा कर भी प्रेमपथ पर अडिग रहने का भाव मीरा ने यों ही नहीं व्यक्त किया है। कृष्ण के प्रति प्रेम की उन्हें बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है किन्तु इन सभी चुनौतियों से गुजरता हुआ उनका प्रेम और सघन तथा दिव्य हुआ है। राणा के दिये हुए विष ने न केवल इस प्रेम को और चमका दिया है, अपितु मीरा को अधिक निर्भीक भी कर दिया है। मीरा अपने देशकाल की स्वयं के प्रति संकीर्णता से क्षुब्ध तो है, किन्तु उनकी पीड़ा प्रियतम कृष्ण की निष्ठुरता है। प्रेम के प्रतिदान से वंचित मीरा प्रिय को अनेक प्रकार से उलाहना देती है। वे उसके सहज परहितकारी आचरण की याद दिलाती हैं। कभी-कभी उन्हें लगता है कि उन्हें प्रेमाभक्ति के विधि-विधानों का ज्ञान नहीं है अथवा प्रेम प्रदर्शन की कला में वे कच्ची रह गयी हैं। ऐसे प्रसंगों में वे उस योगी प्रियतम से प्रेम मार्ग बता जाने की विनती करती हैं तो कभी वे प्रेम के समस्त रहस्यों और नियमों के श्रेष्ठ ज्ञानी की तरह गहरे और उथले प्रेम का अंतर बताती हैं और कहती हैं कि अनेक प्रकार की विदीर्ण कर देने वाली बाधाएं ही प्रेम की परीक्षा है और ओछा प्रेम तो ऊंचाई से बहने वाले जल स्रोत की तरह है जो शीघ्र बहकर नष्ट हो जाता है। प्रेम के लिए मीरा ने जल तथा मछली, दीपक और पतंगा आदि का रूपक लिया है। यहां वे जल के लिए मीन की तथा दीप के लिए पतंग की एकनिष्ठता को प्रेमी के लिए आदर्श मानती हैं। कहीं-कहीं मीरा ने प्रिय की निष्ठुरता की अभिव्यक्ति के लिए उसे जल या दीपक-सा अपने प्रेमीजन की कामना और पीड़ा के प्रति बेपरवाह कहा है। इस प्रकार मीरा के राग जगत में सबसे तीव्र स्वर विरह का ही है। उनकी प्रेम विह्वलता के मूल में प्रिय-वियोग की पीड़ाएं भी हैं। प्रियतम का सौन्दर्य उन्हें बांधता है तो प्रिय से संयोग न होने की वेदना उन्हें विदीर्ण कर देती है। इस विवाद में उनके लौकिक जीवन के अभावों का स्वर भी शामिल है। वस्तुतः यह स्वर उनके प्रेम की एकनिष्ठता के साथ-साथ उनकी वेदना की प्रगाढ़ता का भी अन्तः स्वर है। इस प्रेम के प्रति अपने मन व काया की मति-गति के सर्वाधिक समर्थ उद्घाटक के रूप में मीरा ने अपने नेत्रों को चुना है। ये नेत्र उनकी प्रेमतन्मयता के अद्भुत व्यंजक हैं। अपने रोम-रोम से प्रिय की प्रतीक्षा बनी मीरा स्वयं को प्रायः घर की देहरी या द्वार पर खड़ा चित्रित करती हैं। मीरा ने नेत्रों का बड़ा सजीव व संवेदनशील वर्णन किया है। प्रियतम के बंकिम दीर्घ नेत्र ही उन पर सबसे गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। उनके अपने नेत्र भी उनसे कहीं ज्यादा सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि वास्तविकता हो या स्वप्न, प्रिय की रूपमाधुरी का संपर्क उनसे तो होना ही है। इन नेत्रों में मीरा ने कभी प्रभु का स्वरूप बसाया है तो कभी प्रतीक्षातुरता का। इस प्रकार इनके पास प्रतिक्षण प्रिय का अतिप्रिय काम है। मीरा के मन और काया की समस्त उन्मुक्तता इन नेत्रों में डोलती है। प्रिय की छवि के प्रति आतुर

और समर्पित ये नेत्र पलकों को भी अचंचल कर लेने में माहिर हैं। इस प्रकार मीरा की प्रेमपरक मनोदशाओं में सबसे मार्मिक चित्रण इन नेत्रों का हुआ है। इनके बोलने-डोलने को पूरी तरह से प्रिय के अधीन बताती हुई मीरा वस्तुतः अपनी गहरी प्रेमासक्ति व्यक्त करती हैं। नेत्रों ने मीरा के प्रेम को एक सुदंर आरंभ ही नहीं दिया है, अपितु इसके चरम स्वरूप के विधायक भी ये नेत्र ही हैं। आनंदातिरेक के परम भाव या प्रिय विरह की विदीर्णकारी स्थिति में जल से परिपूर्ण होकर ये नेत्र ही मुखर होते हैं। मीरा ने स्पष्ट कहा है कि उनके नयनों को प्रिय छवि की बान (आदत) पड़ गयी है। इस प्रकार मीरा के नेत्र उनके व्यक्तित्व से भी ज्यादा स्वाधीन है। वे वही करते हैं जो उन्हें प्रिय है। मीरा ने नेत्रों को अपने नेह और व्याकुलता की अभिव्यक्ति के सर्वाधिक समर्थ माध्यम के रूप में चित्रित किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गिरधर नागर के प्रति मीरा की भावनाएं व अनुभूतियां तीव्रतम और सक्रिय हैं। उनका आत्मनिवेदन, अपने प्रेम के विश्वास से पुष्ट प्रिय पर उनका अधिकार भाव, प्रियतम की निष्ठुरता के प्रति उपालंभ या प्रिय के प्रति उनका आकर्षण, समर्पण आदि भाव, भावों के तीव्र संवेगों से युक्त हैं। मीरा की प्रेम सघन भाव दशा में गूढ़-गोपन आशयों की छायाएं नहीं हैं। उनके व्यक्तित्व की निर्भीकता ने उन्हें सहज और स्पष्ट आत्मप्रकाशन का कौशल दिया है। उनके पदों के संक्षिप्त क्लेवर में यह सहजता भावों की अगाध गहराई में प्रेमोन्मत्तता का तीव्रतम आंदोलन रचती है तथा इस आंदोलन में जग के समस्त क्षुद्र और कुबुद्धिपूर्ण को ठेल कर अलग कर देने की क्षमता है। प्रेम को मीरा ने न केवल स्वयं के अपितु मनुष्य मात्र के परम साध्य और जीवन सार के रूप में पहचाना है। मीरा की प्रेम-विह्वलता की प्रेरक श्रीकृष्ण से चरम एकात्म की वे भावनायें हैं जिनमें आत्मसमर्पण के औदार्य व निष्ठा के साथ-साथ प्रिय से प्रेम के प्रतिदान की सहज मानवीय अपेक्षायें भी हैं। कुछेक पदों में मीरा ने भी 'प्रेम' को ज्ञान से अधिक 'काम्य' और सार्थक कहा है। मीरा ने प्रेम को जीवन को मानवीय, उदात्त और समर्पणशील बनाने वाली शक्ति के रूप में चित्रित किया है। कहना न होगा कि कृष्ण जैसे प्रियतम के सतत् नैकट्य के लिए यह प्रेम साधन भी है और साध्य भी।

12.4 मीरा की भाषा

मीरा मूलतः भक्त है। उनका काव्य उनकी भक्ति भावना का सहज प्रकाशन है। यह अभिव्यक्ति उनके व्यक्तित्व की सहजता और मानवीयता से अभिन्न है। भक्ति ने उन्हें उदात्त, निर्कुण्ठ और निर्वैयक्तिक बनाया है। मीरा की काव्य भाषा का स्रोत उनके अपने जीवनानुभव हैं। मीरा ने अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए एक अनुकूल और उन्मुक्त वातावरण निर्मित करने का संघर्ष किया। साधु समाज में उठना-बैठना, भजन-कीर्तन आदि उनका एक ऐसा ही प्रयत्न था। इस समाज में प्रभु की बंदगी चाहने वाले प्रत्येक भक्त का स्वागत था। मीरा के भाव-जगत, भाषा और शिल्प को इन संतों की अभिव्यक्ति विधि ने अवश्य प्रभावित किया होगा। इसके अतिरिक्त, लोक -जीवन से मीरा की गहरी निकटता थी। उनकी अकृत्रिम, आडंबर से पूरी तरह से मुक्त किन्तु अभिव्यक्ति सक्षम तथा कला को जीवनी शक्ति से संयुक्त कर रूप लेने वाली भाषा का स्रोत यह लोक-जीवन ही है। राग-विराग को कहने-सुनने के लोक प्रचलित रूपों का मीरा ने बहुत सुन्दर उपयोग किया है। उनकी भाषा सादी, सहज और मार्मिक है। उसमें जीवन के सहज रागात्मक मानवीय स्रोत खुलते हैं। गतिशील और मानवीय आशय का विकसित स्वरूप उनकी भाषा की स्वाभाविक प्राणवत्ता का विधान करता है। वस्तुतः मीरा ही नहीं, अपितु समूची भक्ति परंपरा का काव्य अपने अर्थ की गहरी शक्ति पर निर्भर है। भक्त कवियों का भाव - जगत भावों और अनुभवों से संपन्न है। जीवन से सहज रागात्मक जुड़ाव के चलते उनकी यह अनुभव समृद्धि बढ़ती जाती है और भाषा की क्षमता में भी निखार आता है। समाज में निर्कुण्ठ मिलने-जुलने से उसमें एक अनूठी सार्वदेशिकता रूप लेती है। इस दृष्टि से कबीर आदि संत कवियों के समान ही मीरा की भाषा भी अपनी जनोन्मुखता के कारण निखरती चली गयी है। उसमें अर्थ को वैविध्य में रचने की अद्भुत क्षमता आयी है। मीरा के व्यक्तित्व में कहीं कोई छद्म नहीं है। उनका प्रत्येक अनुभव व्यक्त होने के लिए है। इसके अन्तर्गत कोई भी भाव किसी भी कारण से मीरा के लिए दुविधा नहीं है। मीरा की काव्य रचना की पूरी प्रकिया में उनका कोई सत्य संसार से ओझल रखने के लिए नहीं है। इसलिए किसी प्रकार की रहस्यात्मकता या कविता की जटिल अन्विति मीरा का प्रयत्न

नहीं है। मीरा का सत्य गहरा, छद्म-रहित और संबोधित है। मीरा इसे जग के ज्ञान और अनुभव का हिस्सा बना देने के लिए व्यग्र हैं। कहती हैं --

माई री म्हा लियां गोविन्दा भोल । टेक।।
थे कह्यां छाणे म्हां काचोइडे लिया बजन्ता ढोल।

मीरा की अभिव्यक्ति का संबंध उनके भावों से है। ये भाव अपनी आंतरिक रागात्मक अन्तर्संबद्धता के साथ उनके संक्षिप्त कलेवर वाले पदों में एक संश्लिष्ट अन्विति लेते हैं। उनके पास कहने के लिए आत्मानुभूति के तमाम गहरे सघन रूप हैं तथा इनमें उनके आत्मसंघर्ष का सत्य भी शामिल है। इस प्रकार के आत्मनिवेदन से मीरा की एक आत्म-छवि भी उभरती है, किन्तु वे यहां क्रमिक विकास की सुविस्तारित अन्विति संपन्न कथा नहीं कह रही हैं और न ही कोई चरित्र गाथा। इसलिए उनके पदों में अनेक भावों की पुनरावृत्ति भी है। मुक्तक पदों में भावों की संक्षिप्त अन्विति की स्थिति में भाषा का काम और महत्वपूर्ण हो जाता है। भाषा का काम अनुभूति की समग्रत: अभिव्यक्ति है। अर्थ की शक्ति के द्वारा अभिव्यक्ति क्षमता सम्पन्न कवियों को भी शब्दों को अनुभूति के प्रति अपर्याप्त कहते सुना गया है। मीरा भी कहीं-कहीं अपने सघन प्रेम या प्रेम पीर के अनुभव से जग के अभिज्ञ रह जाने की बात कहती हैं, किन्तु यहां वे भाषा के असामर्थ्य से अधिक अपने गहरे भावों के प्रति जग की अभिज्ञता ही चिन्हित करना चाहती हैं। गिरधर विमुख जग में उनके सत्य से साक्षात्कार की क्षमता कहां?

मीरा की भाषा मुख्यत: राजस्थानी है। कुछ पदों में ब्रज और गुजराती भाषा का प्रयोग भी दिखाई देता है। मीरा की भाषा में पंजाब, मध्यप्रदेश और पूर्वी प्रदेशों की प्रचलित भाषा के कुछ शब्द भी मिल जाते हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि मीरा के पद मौखिक परंपरा में सर्वाधिक प्रचलित हुए, इसलिए उनकी भाषा का अपने मूल रूप में बने रहना संभव नहीं लगता। उनके कई पदों के भिन्न-भिन्न रूप मिल जाते हैं, अर्थात् लोक उन्हें अपने अनुरूप ढाल लेता है। इसलिए मीरा की भाषा में शब्दों का जो वैविध्य दिखाई देता है या कई भाषाओं की जो झलक दिखाई देती है उसके मूल में यह कारण भी हो सकता है। इसके अतिरिक्त मीरा ने अपनी भक्त मण्डली से बहुत कुछ सीखा है। कबीर आदि संत कवि भ्रमणशील थे। इसके चलते वे कई भाषाओं के संपर्क में आये तो मीरा की साधु मण्डली में भी कई प्रदेशों के संतों का आना-जाना था। मीरा उन्हें सुनती और उनसे सीखती भी रही होंगी। उनकी भाषा को इस संदर्भ में भी देखना चाहिए। मीरा राजस्थान की थीं। राजस्थानी उनकी अपनी भाषा है। राजस्थानी भाषा को मीरा ने गहरी व्यंजकता में साधा है। वे इस भाषा के लोकचित पर चढ़े मुहावरों का बड़ा सुंदर उपयोग करती हैं। इस भाषा की बिम्ब निर्माण क्षमता और अर्थ सन्दर्भता पर मीरा की सहज पकड़ है। गुजराती और ब्रज का भी मीरा ने साधिकार प्रयोग किया है। उनकी भक्ति के समान ही उनकी भाषा में भी नाथ-सिद्ध भक्तों की परंपरा के साथ-साथ सगुण भक्त कवियों का अर्जित भाव उनके अर्थ को अधिक सजीव बनाता हुआ शामिल होता है। उनके कृष्ण-प्रेम में जीवन की गहराई और वैविध्य तो है ही, साथ ही स्त्री जीवन के आघातपूर्ण अनुभव उनके संवेगों को आत्यान्तिक और तीव्र बनाते हैं। मीरा का बल उनके सहज भाव या मर्म पर है। उनके पदों की भाषा चाहे वह राजस्थानी हो या पंजाबी इस मर्म को उद्घाटित करने में समर्थ है।

मीरा की काव्य भाषा का प्रधान कार्य कृष्ण-स्वरूप व इस स्वरूप के प्रति उनके एकान्त सघन प्रेम का निवेदन है। कृष्ण छवि के निर्माण में उनकी प्रतिमा कृष्ण भक्ति परंपरा से द्वन्द्वात्मक अन्तर्संबंध के साथ दिखाई देती है। उनके द्वारा निर्मित कृष्ण छवि का सम्मोहन बहुत सघन प्रभाव छोड़ने वाला है। मीरा ने इसके तथ्यात्मक चित्रण की अपेक्षा इसके प्रभाव को ही व्यक्त किया है। वे उनके सौन्दर्य को उसकी रीझने-रिझाने की-क्षमता में ही देखती हैं।-

हे मां बड़ी-बड़ी अंखियन वारो, सांवरो मोतन हेरत हंसिके । टेक।।
भौंह कमान बान बांके लोचन, मारत हियरे कसिके।

या-

थारो रूप देख्यां अटकी ।। टेक ।।
कुल-कुटुंब सजण सकल बार-बार हटकी।
बिसट्चांणा लगण लगा मोर मुकुट बटकी।

मीरा द्वारा निर्मित कृष्ण छवि सहज उल्लास और कर्म से दीप्त है। उनके अंग-प्रत्यंग में जीवन की अद्भुत गति और लास्य है। मीरा को भी अन्य कृष्ण भक्त कवियों के समान कृष्ण की बंकिम छवि अतिशय प्रिय है। नटवर नागर की इस वक्र-भंगिमा को मीरा ने परंपरा से लिया है, किन्तु इसका इसके आड़ेपन के कारण हृदय में धंस कर वहीं धंसा रह जाना मीरा का अपना विशिष्ट अनुभव है। इस प्रकार मीरा की भाषा उनके आराध्य के अनूठे सौन्दर्यानुभव के लिए जो बिम्ब विधान अपनाती है उसमें परंपरा में प्रचलित को भी नया बनाकर प्रस्तुत करने की क्षमता है। मदनमोहन के रूप के अनुभव को मीरा ने 'अमृत' कहा है। सूर की राधा और गोपिकाओं को भी कृष्ण का यही चपल, गतिशील और लीला पुरूषोत्तम रूप प्रिय है। वहां ये गोपिकायें सूर और कृष्ण के बीच में हैं। मीरा और कृष्ण का संबंध सीधा और प्रत्यक्ष है। इनका शिल्प भी प्राय: आत्मकथन है। भक्ति आंदोलन ने ब्रजभाषा को काव्य भाषा के रूप में स्थिर कर उसे लंबा जीवन प्रदान किया। विशेष रूप से सूर के कारण इस भाषा की शक्ति सर्वाधिक निखरी। इसी प्रकार, मीरा के कारण राजस्थानी भाषा को काव्य भाषा की मार्मिकता और नाटकीयता प्राप्त हुई। इस भाषा के सामर्थ्य का दूसरा महत्वपूर्ण रूप हम मीरा के सघन सम्पन्न मनोजगत के प्रकाशन के संदर्भ में देखते हैं। यहां इसकी सहजता देखते बनती है --

देखा माइ हरि मण काठ कियां ।। टेक ।।
आवण कह गया अजा ण आयां, कर म्हारे कोल गया।
खाणा पाणा सुध बुध सब बिसर्‌या, काई म्हारे प्राण जिया।

इस प्रकार मीरा के शब्द प्रगीत के वृत्त का निर्वाह करते हुए मुख्यार्थ के प्रति केन्द्राभिमुखता के साथ एक तराश लेते हैं। यहां वे अपने प्रचलित रूपों से किंचित भिन्न भी हो जाते हैं, किन्तु इस प्रकार ये खण्डित या विकृत न होकर अधिक काव्यात्मक और सटीक हो जाते हैं। उनके समस्त पदों में संरचना की यह संश्लिष्टता दिखाई देती है। इसके अतिरिक्त मीरा की भाषा में शब्दों के बीच साहचर्य और समायोजन का संबंध दिखाई देता है। वे सामान्य से सत्य को नाटकीय वक्रता या गहरी व्यंजना प्रदान करते हैं। यह नाटकीयता उनके विरह के पदों में सर्वाधिक उभरी है। वे प्रिय मिलन की उत्सुकता, दीवानगी या तड़प की पूर्व प्रचलित अवधारणाओं का ही उपयोग करती हैं, किन्तु उनकी वाणी में सजकर ये भाव अनूठे हो जाते हैं, जैसे --

ऐसी लगन लगाइ कहां तू जासी ।। टेक ।।
तुम बिन देख्यां कल न पड़त है, तलफ तलफ जिवजासी।

यही नहीं, अपने आराध्य के लिए उन्होंने समस्त पारंपरिक संबोधन चुने हैं, किन्तु प्रत्येक पद में यह संबोधन बहुत जागृत और नवीन सा लगता है। मीरा लोक-प्रचलित भाषा को उसके समस्त मुहावरों के साथ उठा लेती हैं और उसमें अपना हृदय खोल देती हैं। यही कारण है कि मौखिक परंपरा में मीरा के पद न केवल बहुत स्वीकृत हुए हैं, अपितु इनमें रूपान्तरण का असाधारण लचीलापन भी रहा है। महत्वपूर्ण यह कि इस प्रकार निरंतर बदले जाकर भी मीरा के पद कहीं विकृत नहीं हुए। उनके पदों के नाना परिवर्तित रूपों को लेकर देखा जा सकता है कि उनके अपने अर्थ को कहीं कोई क्षति नहीं पहुंची है। वस्तुत: यह लोकभाषा की क्षमता है। यह भाषा वह 'बहता नीर' है जिसमें सबका अर्घ्य अक्षत् रूप में समाहित हो जाता है। मीरा के काव्य में 'अर्थ' मात्र संरचना नहीं है, अपितु अनुभूति की संश्लिष्ट व समग्र अभिव्यक्ति है। मीरा की आत्मानुभूति के कुछ निर्णीत बिन्दु हैं और उनका काव्य संसार इन्हीं बिन्दुओं के इर्द-गिर्द बुना जाता है। ये बिन्दु प्रियतम की सौन्दर्यानुभूति, उनके प्रति भावों के निवेदन या विरूद्ध संसार के कारण कठिन हुए प्रेमपथ के संघर्ष के अनुभव के हैं। इस प्रकार मीरा का प्रमुख अनुभव प्रेम या विरह का कोमल, आत्मीय या माधुर्यपूर्ण है। इन भावों के संदर्भ में मीरा की भाषा की छटा अद्भुत है। यह यहां स्निग्ध भाव व्यापार के अनुरूप प्रवाहमयी, गहरी और लास्यपूर्ण

है। मीरा की भाषा में प्रखर पुरुष भावों के मोड़ भी आते हैं। ये वे स्थल हैं जहां मीरा हरिविमुख लोक को बेलाग भाव से धिक्कारती हैं, कहती हैं --

दुरजन जलो ना अंगीठी

अथवा

यह संसार कुबुधि रो भांडो।

अथवा

थारे देस राणा साध नहीं छै लोग बसैं सब कूड़ो।

इत्यादि। ऐसे प्रसंगों से मीरा के व्यक्तित्व की तेजस्विता और निश्चय प्रकट होता है। मीरा ने लोक-प्रचलित उक्तियों तथा दृष्टांतों का बहुत सुन्दर साभिप्राय प्रयोग किया है। इन उक्तियों में प्रवाहित जीवनराग को कहीं से बदले बिना वे अपनी भाषा में ले आती हैं तथा अपनी अनुभूति की गहरी और व्यापक संदर्भता के साथ उसे जोड़ देती हैं। जैसे --

आंबा की डालि कोइल इक बोले, मेरो मरण अस जग केरी हांसी।

अथवा

एकै थाणे रोपिया रे, इक आंबो इक बूल
बाको रस नीकौ लगैरे, बाकी लागै सूल

आदि। वस्तुत: ये उक्तियां, मुहावरे या दृष्टांत लोक जीवन व साहित्य में अपनी बहुप्रयुक्तता के बावजूद घिसे हुए न होकर अधिक अर्थवान और दीप्त हैं। मीरा की भाषा को सहजता के निर्माण में इस प्रकार के प्रयोगों की महत्वपूर्ण भूमिका है। ऐसे प्रयोगों द्वारा मीरा उन गहरे अर्थसंकेतों का निर्माण करती है जिसके द्वारा उनके निहितार्थ खुलते और गतिशील होते हैं। मीरा की भाषा के जिम्मे उनकी सूक्ष्म व गहन प्रेमानुभूतियों की अभिव्यक्ति का कठिन काम है। यह एक स्त्री का प्रेम निवेदन है तथा बहुत निर्भीक और प्रत्यक्ष है। दूसरी तरफ, मीरा के प्रति शंकालु संकीर्ण समाज अपनी पूरी तैयारी के साथ बैठा है। उसे मीरा की अभिव्यक्ति में जरा से विचलन की गुंजाइश मिल जाये तो वह निंदा और तिरस्कार का पहाड़ खड़ा कर सकता है। मीरा ने अपनी प्रेमोन्मत्तता को कहीं छिपाया नहीं है, किन्तु इस बेसुधी में भी संयम का वह आंतरिक अनुशासन है जिसके कारण मीरा स्वाधीन और समर्पित तो हैं किन्तु उच्छृंखल नहीं हैं। उनकी प्रणय भावना के ऐन्द्रिक चित्रण में भी सात्विक और दिव्य रंग उभरे हैं। श्रीकृष्ण छवि, लीला या प्रेम के चरम अनुभव से परिपूर्ण मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के संदर्भों में उनकी भाषा की बिंब निर्माण क्षमता अद्‌भुत है। वस्तुत: अर्थ समृद्ध भाषा का सबसे उपयोगी औजार बिंब होते हैं। इन्हें प्राय: कवि की क्षमता का निर्णायक समझा जाता है। मीरा की भाषा के लिए सबसे पदार्थ भावनात्मकता या कल्पना का है। मीरा का भावजगत ठोस न होकर सूक्ष्म और तरल है। ऐसे में अमूर्तन के खतरे बढ़ जाते हैं, किन्तु मीरा के भाव प्रत्यक्ष जगत के रंग-रूप रसगंध से संयुक्त होकर प्रत्यक्ष हो उठते हैं। भाषा इन्हें अस्पष्ट या तारतम्यहीन नहीं रहने देती। उनके पदों से ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनमें भाषा भावों की सूक्ष्मता को उजागर करने के लिए नाटकीय गत्वर चित्रों का विधान करती है। जैसे --

गहे द्रुम डारि कदम की ठाड़ो मृदु मुसकाय म्हारी ओर हंसो

अथवा

पेणाँ बणज बसावाँ री, म्हारा साँवरा आवाँ। टेक।।
पेणाँ म्हाराँ साँवरा राज्याँ, डरता पलक णा लावाँ।

अथवा

म्हाँ ठाढ़ी घर आपणे मोहन निकल्यौं आय।
बदन चंद परगासतौं, मंद मंद मुसकाय।

इस प्रकार मीरा सूक्ष्मतम भावनाओं की अभिव्यक्ति में भी गति और मुद्राओं के नाटकीय प्रयोग करती हैं जिनसे उनका कथन और मार्मिक तथा संवेद्य हो उठता है। जैसे---

दरद की मारयां दर-दर डोल्या बैद मिल्यां णा कोय

जैसी पंक्तियों में उनकी यह शक्ति देखी जा सकती है। मीरा की भाषा में शब्द ध्वनि सक्षम है। वे उनके भाव-जगत को बाह्य जगत के जीवन रव से जोड़ देते हैं। उनके सूक्ष्म भावों का अन्त:स्वर तो रसमय जगत का संपूर्ण रूप रचता ही है, साथ ही नाना ऋतुयें, तीज, त्यौहार, पर्व, संध्या, दिन, रात, पशु-पक्षी आदि भी एक अनूठे ध्वनि सौन्दर्य का विधान करते हैं। यहां भी मीरा ने लोकस्मृति के जीवित और गतिशील को सहज ही अपना लिया है। दादुर, मोर, पपीहा के स्वर और भूमिकायें वहीं हैं। 'प्रेमनी' और 'विरहिणी' के प्रति उनके निश्चयों में कोई अंतर नहीं आया है।

मीरा की भाषा में सर्वाधिक अद्‌भुत व्यंग्य की आंतरिक धार है। देशकाल के विषम, विडंबनापूर्ण अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए मीरा इनका उपयोग करती हैं। यहां उनके आवेश का आंतरिक थिराव व तीक्ष्णता असाधारण है। ये प्रसंग प्राय: राजसत्ता, छद्‌म कुल मर्यादा के प्रति संरक्षणशील समाज और स्त्री पराधीनता से संबद्ध हैं। एक स्थान पर वे दुर्मति राणा को धिक्कारती हुई कहती हैं -

अपणे घर का परदा करले, मैं अबा बौराणी

ऐसा ही एक प्रसंग 'राजसत्ता' के अन्तर्विरोधों को लक्ष्य करने का है जहां वे विधि के विडंबनापूर्ण विधान के आश्रय से यह सत्य उद्‌घाटित करती हैं। कहती हैं --

विध विधणा री ण्यारां
दीरघ नेण मिरघ कूं देखां कणलण फिरतां मारा।

वगैरह। प्रीति निर्वाह के प्रति बेखबर अपने प्रियतम 'जोगिया जी' की खबर लेने के प्रसंगों में भी मीरा की व्यंग्य क्षमता और उक्ति चातुर्य पहचाना जा सकता है। जहां तक भाषा में अलंकरण का प्रश्न है तो मीरा की भाषा में शब्दालंकारों या अर्थालंकारों के कई प्रयोग हैं, किन्तु मीरा इन प्रयोगों के प्रति बहुत सचेतन या आग्रही नहीं है। वैसे उनकी भाषा में रूपक, उपमा या उत्प्रेक्षा जैसे अलंकारों का सुन्दर प्रयोग मिल जाता है।

अत: कहा जा सकता है कि मीरा की भाषा की सहजता के मूल में उनकी सहज अंकुठ जीवनानुभूति की शक्ति है। मीरा ने भावनाओं की गहराई का जीवन जिया है, उनके स्वप्न भी अरूप या जटिल नहीं हैं, न उनके राज जगत में कोई उलझाव है। इसलिए भाषा की सहज संवेद्‌यता मीरा के लिए कठिन नहीं है। यह उनसे ऐसे ही अनायास सध गयी है जैसे कठिन बाधाओं के बावजूद उनकी भक्ति और अनुरक्ति सधी है। उनकी काव्य भाषा में सहजता और निरलंकृति आंतरिक और अनुभव समृद्ध काव्य मूल्य के रूप में विकसित हुए हैं। इस दृष्टि से मीरा की कविता बेजोड़ है।

12.5 मीरा की कविता का शिल्प विधान

प्रगीत आत्मपरक काव्य की विशिष्ट संरचना है। मीरा ने आत्माभिव्यक्ति के लिए प्रगीतात्मक मुक्तक पदों के शिल्प का चुनाव किया है। वस्तुत: प्रगति के शिल्प का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास कृष्ण भक्त कवियों की काव्य रचनाओं द्वारा प्राप्त हुआ। श्रीकृष्ण का लीलामय सुन्दर स्वरूप ही नृत्य, संगीत, गीत,

चित्र और मूर्तिकलाओं का स्रोत है। कृष्ण भक्त कवि अपनी काव्य प्रक्रिया में इन समस्त कलाओं की संकल्पनाओं का सुन्दर उपयोग करते हैं। श्रीकृष्ण की छवि, उनकी मुद्रायें, उनके पदक्षेप और चितवन आदि समस्त हाव-भाव इन कलाओं की अभिव्यक्ति क्षमता के उपयोग से एक समग्रतामूलक कलात्मक अन्विति बन कर प्रस्तुत होते हैं। वहां निहित भाव, कथ्य, घटना या प्रभाव आदि इनके संयोग से अधिक संश्लिष्ट तथा ललित हो जाते हैं। काव्य और इन कलाओं के बीच संबंध परस्पर पूरक और प्रेरक है। यही कारण है कि कृष्णचरित केवल काव्य का विषय नहीं है, मध्यकाल में विकसित होती हुई चित्रकला और मूर्तिकला ने इसे महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति दी है। जयदेव का 'गीत गोविंद', विद्यापति के कृष्ण भक्ति विषयक पद, सूर का काव्य आदि मध्यकाल से आज तक भितिचित्रों, पेंटिंग्स और मूर्तिकला आदि का सहज-स्वीकृत विषय है।

कोई भी काव्य रूप मात्र संरचना नहीं है, अपितु वह एक समग्र अन्विति है, जिसके अन्तर्गत अन्तर्वस्तु, संवेदना और अभिव्यक्ति विधि का आंतरिक सामंजस्य होता है। किसी भी कलाकृति में उसके विधायक तत्वों का आंतरिक संयोजन या संश्लेषण महत्वपूर्ण होता है। इन तत्वों की परस्पर आंतरिक अनुकूलता के द्वारा ही कला के समग्र प्रभाव की सृष्टि होती है। काव्य की यह प्रक्रिया बहुत सूक्ष्म और आंतरिक है तथा यह पूरी तरह से रचनाकार की अनुभव समृद्धि, प्रतिभा और कलाविवेक पर निर्भर है। कृष्ण भक्ति के द्वारा मीरा को भावसमृद्धि और आत्मविस्तार ही नहीं प्राप्त हुए, अपितु उनका भावलोक सम-विषम जीवन के अनुभवों से संपन्न हुआ। जीवन और जगत को देखने-समझने की उनकी दृष्टि वस्तुपरक होती गयी। मीरा विदुषी तो थी हीं। उन्हें विविध कलाओं को जानने-समझने का परिवेश भी मिला था। उनका अनुभव जगत सामंती राजघराने से लेकर लोक जीवन तक फैला हुआ था। लोक और शास्त्र के द्वन्द्व को समझने का सर्वाधिक संभावनापूर्ण परिवेश मीरा को ही प्राप्त था। ये अनुभव उनके आत्मसंघर्ष से अभिन्न थे किन्तु ये मीरा का बंधन न होकर उनके विकास और आत्मप्रसार का कारण बने। यही कारण है कि मीरा का काव्य आत्मपरक तो है किन्तु वैयक्तिकता की सीमाओं में आबद्ध अमूर्त या रहस्यात्मक नहीं है।

इस प्रकार मीरा प्रगीतात्मक चेतना की रचनाकार हैं। उनके पदों में भावों, स्थितियों या मनोदशाओं की विरुद्ध स्थितियों के बीच नाटकीय द्वन्द्व और तनाव का संबंध है, किन्तु अपनी रचना प्रक्रिया में वे रचना के आंतरिक अवयवों को परस्पर अनुकूलता में साधती हुई आकांक्षित परिणति या निष्कर्ष तक ले आती हैं। उनका प्रत्येक पद एक अखंड इकाई है जिसके अन्तर्गत उनका सत्य अनुभूति और अभिव्यक्ति के अन्तर्बाह्य अवयवों से रचनात्मक संगति के लिए प्रयत्नशील है।

मीरा के पदों में सघन व तीव्र आत्मानुभूतियों का प्रकाशन महत्वपूर्ण है। इन अनुभूतियों का संबंध उनकी रूपासक्ति, अनुरक्ति, भक्ति और जीवन संघर्ष से है। ये भाव परस्पर संयुक्त होकर भी आये हैं। इस प्रकार मीरा के पास व्यापक अनुभव संदर्भता से युक्त कथ्य है। यह कथ्य पद के संक्षिप्त कलेवर में विकसित और निर्णीत होता है। इसीलिए उनकी भाषा पर उनकी गहरी अनुभूतियों, मनोदशाओं आदि की अभिव्यक्ति का बड़ा भार आ जाता है। चूंकि अलंकारों को मीरा ने भाषा की आंतरिक शक्ति के रूप में नहीं लिया है और न ही वे इन पर अनावश्यक रूप से निर्भर हैं इसलिए वे शब्दों की व्यापक अर्थसन्दर्भता, सांकेतिकता और व्यंजकता से काम लेती हैं। प्रगीतात्मक पदों की आंतरिक अन्विति में लयों की विशेष भूमिका है। मीरा के शब्द इन लयों के अनुरूप तराशे जाते हैं। मीरा ने शब्दों के बहुविध प्रयोग किये हैं। इस दृष्टि से हम उनके पदों में एक ही शब्द के कई रूप देख सकते हैं। ऐसा वे प्राय: लय के निर्वाह के लिए करती हैं। यह लयात्मकता मीरा के पदों की बाह्य गति मात्र नहीं है अपितु आंतरिक अनुशासन है। इसके द्वारा भावों की मार्मिकता और लालित्य में निखार आता है। मीरा के पदों की प्रथम पंक्ति, जो प्राय: टेक के रूप में निरंतर आवृत्ति के लिए है, ही उस पद में उनका मुख्य वक्तव्य या मूल कथन होती है। अन्य पंक्तियां या तो उसके अर्थ का विस्तार करती हैं या उसका ही अनुगमन करती हैं। अंतिम पंक्ति में मीरा पूरे पद में विन्यस्त कथ्य, भाव या घटना को सम पर ले आकर उसे आकांक्षित परिणति देती हैं। मीरा का परम आकांक्षित उनका आत्मनिवेदन ही है जो अधिकतर पदों में अंतिम पंक्ति तक आकर यह आत्मनिवेदन बहुत संकेन्द्रित और प्रत्यक्ष हो जाता है। यहां मीरा अपने नामोल्लेख के साथ प्राय: गिरधर नागर के प्रति निवेदित होती हैं। कुछ पदों में वे कथ्य को बहुत गहरे अनुभव या युग सत्य तक विकसित करती हैं

मीरा ने समाज के अन्तर्विरोधों को केवल अपनी पीड़ा या संघर्ष के कोण से नहीं देखा है। उनकी दृष्टि वस्तुपरक है और वे युग सत्य को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही देखती हैं।

'आत्मानुभूति' को प्रगीत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व माना जाता है। मीरा की समस्त रचनाशीलता का प्राणतत्व यही आत्मानुभूति है। आत्मपरकता, तीव्र भावनात्मकता आदि तत्व इस आत्मानुभूति से अभिन्न हैं। लयात्मकता प्रगीत का नियामक तत्व है तथा इस लय का संबंध भाव और भाषा दोनों से है। शब्दों के आंतरिक स्वर व संगीत का संधान किये बिना इस लयात्मकता का निर्वाह संभव नहीं। हमने देखा है कि मीरा इस लयात्मक अन्विति के प्रति कितनी सावधान हैं। उनका प्रत्येक शब्द उनके चित्र की अनूठी ही नहीं, अपितु चित्र और मूर्तिकला की संकल्पनाओं के सर्जनात्मक संयोजन में रचे गये हैं। अपने पदों में प्राय: अरूप भावस्थितियों को जीवन-जगत के मूर्त कार्य व्यापारों और मुद्राओं से जोड़ती हुई मीरा उनकी गति व प्रकृति को लास्य और नाटकीयता में निर्मित करती हैं। हमें ज्ञात है कि मीरा न केवल अपने पदों को साधु समाज में गाया करती थीं, अपितु ताल-वाद्य के संयोग के साथ घुंघरू बजाती हुई नृत्य कर उठती थीं। उनके पदों में भावों और मनोदशाओं के चित्रों को किसी निपुण नृत्यांगना द्वारा पदक्षेप और मुद्राओं के द्वारा भाव बताने के संदर्भ में देखा जा सकता है। जैसे-

म्हाँरो जणम-जणम रो साथी, थाँने णा बिसर्‌या दिनराती। ।टेक।।
था देख्याँ विण कल णा पड़ताँ जाणे म्हारी छाती।
ऊंचा- चढ़-चढ़ पंथ निहार्‌याँ कलप कलप अंखियाँ राती।

इस प्रकार इस पद में मीरा की तीव्र भावाकुलता नाटकीय संघातों से पूर्ण है। अवश्य ही मीरा ने इसे अपनी नृत्य मुद्राओं से सजा कर भी व्यक्त किया होगा। वस्तुत: लयात्मकता को मीरा ने एक आंतरिक अनुशासन के रूप में विकसित किया है। यही कारण है कि उनके पदों की बाह्य संरचना, छंद आदि की पूर्व निर्धारित मान्यताओं का अतिक्रमण भी करती है। मीरा के पद संगीत को एक प्रभावी आंतरिक मूल्य के रूप में विकसित करते हैं। संगीत के अनुशासन से मीरा के पद अपने वरम मार्मिक प्रभाव की सृष्टि कर लेते हैं। उनके पदों में संकेतित रागों की भावानुरूपता उल्लेखनीय है। मीरा की रचनाशीलता की मूल प्रकृति कोमल, और लास्यपूर्ण है। मीरा ने संगीत को ताल वाद्य और नाद की सम्पूर्णता में स्वीकार किया है। मीरा ने विविध राग-रागिनियों का उपयोग किया है जिनमें से राग झिंझोरी, राग मालकोस, राग पीलू, राग खम्माच, राग पहाड़ी, राग पूरिया कल्याण, राग दिलावल, राग दरबारी, राग होली, राग बागेश्वरी, राग श्याम कल्याण, राग प्रभाती, राग रोड़ी, राग भैरवी, राग विहाग, राग आसवरी, राग रामकली आदि का उल्लेख जरूरी है। छन्दों की तरह रागों की निर्दोषता के प्रति मीरा बहुत सचेष्ट नहीं हैं, किन्तु काव्य में लय के सहज विधान द्वारा वे इनका निर्वाह कर ले जाती हैं। यह कहा जा सकता है कि मीरा को गीत-संगीत और नृत्य के शास्त्रीय पक्ष का ज्ञान तो था ही साथ ही लोक प्रचलित कला रूपों में भी उनकी गति थी। वे इनके बीच सामंजस्य का संबंध खोजती हैं।

इस प्रकार प्रगीत और संगीत मीरा के काव्य की आंतरिक और सर्जनात्मक आवश्यकता है। इनके द्वारा उनका अर्थविधान अधिक लालित्यपूर्ण और संवेद्य हो उठता है। उनके पदों में अन्तर्निहित भावनात्मक तीव्रता, और वैयक्तिक किन्तु प्रत्यक्ष अनुभवों के संस्पर्श से संयुक्त होकर यह संगीत अनूठे भावलोक की सृष्टि करता है। वस्तुत: संगीत के बिना मीरा का गिरधर नागर से एकात्म अधूरा है। नाद, ताल और स्वर के द्वारा रचे गये वातावरण ने उनके आत्मनिवेदन को अवश्य ही विशिष्ट बनाया होगा।

12.6 सारांश

इस प्रकार मीरा की रचनाशीलता का संपूर्ण अन्तर्बाह्य स्वरूप उनकी सघन आत्मानुभूति से स्पंदित है। इस आत्मानुभूति का विषय - कृष्ण भक्ति है। कृष्ण के प्रति मीरा अपने एकनिष्ठ प्रेम के साथ निवेदित मात्र नहीं अपितु अपने इस अलौकिक आश्रय के सम्मुख वे अपने सुख-दु:ख की गठरी खोल देती हैं। कृष्ण उनकी एकमात्र आशा और प्राप्य हैं। उनके हृदय में कृष्ण प्रेम के अलावा किसी भाव, चरित्र या

आकांक्षा के लिए स्थान नहीं है। कृष्ण प्रेम उन्हें संपूर्ण और उदात्त बनाता है। वे अपनी समस्त भावनाओं और संबंधों को कृष्ण में घटित होते दीखती हैं। कृष्ण प्रेम की शक्ति से ही मीरा संकीर्ण सामंती समाज के विष का सामना कर पायी हैं। श्रीकृष्ण चरित्र में पूर्ण तन्मयता चाहती हुई मीरा लौकिक जगत के छल-छद्म से क्षुब्ध तो हैं, किन्तु उनका सुख-दुःख गिरधर नागर को पाने और खोने से निर्धारित होता है। ऐसे प्रियतम से संयोग के गिनती के अनुभवों ने यदि मीरा को बेसुध किया है तो विरह के दीर्घ क्षणों ने उन्हें मरण के दुख की सीमा तक व्याकुल किया है। मीरा के भावजगत में मीरा ही मुखर और व्यक्त हैं। वे अनवरत प्रियतम पर रीझने और उन्हें रिझाने के प्रयत्न करती दिखाई देती हैं। गिरधर के मिलने, हंसने, बोलने के प्रसंग बहुत कम हैं। गिरधर की यह निष्ठुरता मीरा को सह्य नहीं। मीरा ने अपने प्रेम और विरह को नाना पारंपरिक और मौलिक उद्भावनाओं में व्यक्त किया है। मीरा की भाषा उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही सहज और संप्रेष्य है। उनके प्राय: दो सौ पदों को प्रामाणिक माना जाता है। ये पद प्रगीतात्मक और विविध राग-रागिनियों में विन्यस्त हैं। संगीत को मीरा ने प्रगीतात्मक शिल्प के आंतरिक अनुशासन के रूप में विकसित किया है।

इस प्रकार मीरा का काव्य उनके सहज अकुंठ व्यक्तित्व के समान जीवन राग से स्पंदित और निराडंबर है। इसमें भावों और अनुभूतियों की गहराई और वैविध्य से रूप लेती हुई वह समृद्धि है जो पूरी तरह से संप्रेष्य और संवेद्य है। सहज जीवनानुभवों में प्रत्येक निर्मल चित्त से एकात्म हो जाने की क्षमता होती है। यह क्षमता मीरा के काव्य में है।

12.7 शब्दावली

अभिसारिका - प्रिय से मिलने के लिए निर्दिष्ट स्थान पर जाने वाली स्त्री

गुलफाम - बहुत सुंदर

गैल - गली

दलित द्राक्षा - निचोड़ा हुआ अंगूर

विगलित - बिखरी हुई

निर्कुण्ठ - कुंठा रहित

12.8 अभ्यास/प्रश्न

(1) 'मीरा ने कृष्ण प्रेम को अपनी आत्माभिव्यक्ति के केन्द्रीय विषय के रूप में विकसित किया है।' कथन से अपनी सहमति-असहमति बतायें।

(2) मीरा के पदों के आधार पर उनकी अनुभूति की मार्मिकता और वैविध्य का निरूपण कीजिए।

(3) मीरा की भाषा के शक्ति स्रोतों का उल्लेख करते हुए उसका वैशिष्ट्य निर्धारित कीजिए।

(4) 'प्रगीत का शिल्प मीरा की आत्माभिव्यक्ति के लिए सर्वथा अनुकूल है'- कथन से आप कहां तक सहमत हैं।

(5) संगीत मीरा के काव्य का आंतरिक अनुशासक तत्व है, कथन की विवेचना कीजिए।

इकाई 13 तुलसी के काव्य में युग संदर्भ

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 तुलसी के काव्य में तत्कालीन समाज
  13.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  13.2.2 काव्य में समाज का चित्रण
13.3 तुलसी की विचारधारा
  13.3.1 तत्व दर्शन
  13.3.2 सामाजिक संरचना
13.4 तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना
13.5 सारांश
13.6 अभ्यास/प्रश्न

13.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप तुलसीकालीन समाज और तुलसी के काव्य में चित्रित समाज और दृष्टिकोण का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप :

- तुलसीकालीन समाज की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- तुलसी के काव्य में चित्रित समाज को जान सकेंगे,
- तुलसी की विचारधारा और दृष्टिकोण का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे; और
- तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना को समझ सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

तुलसी एक बड़े कवि थे। हिंदी साहित्य में 'रामचरित मानस' जैसा लोकप्रिय और श्रेष्ठ महाकाव्य दूसरा कोई नहीं है। तुलसी ने रामकथा को जिस ऊँचाई पर पहुँचा दिया फिर कोई दूसरा कवि उस ऊँचाई को न छू सका। एक कवि के रूप में तुलसीदास की श्रेष्ठता निःसंदिग्ध है।

एक कवि को समझने के लिए उसकी विचारधारा और दृष्टिकोण को समझना जरूरी है। यह जानना जरूरी है कि कवि समग्र रूप से समाज और समाज के वंचित और हाशिए पर खड़े लोगों, जैसे स्त्री, दलित आदि के बारे में क्या सोचता है? क्या उसकी सोच अपने समय से आगे बढ़ पाई है? क्या उसके समकालीन रचनाकार कुछ भिन्न ढंग से सोच रहे थे? क्या उस समय के कवि को आज के मानदंड पर कसना उचित है? इन सब प्रश्नों को सामने रखकर ही किसी कवि या रचनाकार का संतुलित और विवेकपूर्ण मूल्यांकन किया जा सकता है। इससे कवि को समझने में भी मदद मिलती है। इसी दृष्टि से इस इकाई को आपके सामने प्रस्तुत किया गया है। यह इकाई केवल एक अध्ययन सामग्री ही नहीं है बल्कि आपको सोचने-विचारने के लिए काफी सामग्री प्रदान करती है। इससे आपकी आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक क्षमता भी विकसित हो सकेगी।

13.2 तुलसी के काव्य में तत्कालीन समाज

किसी भी कवि को समझने के लिए उसके युग को जानना जरूरी होता है। इससे यह जानने में सहूलियत होती है कि रचनाकार ने अपने युग के यथार्थ को कितनी ईमानदारी से प्रस्तुत किया है?

इससे समाज के प्रति कवि के दृष्टिकोण का भी पता चलता है। इसी उद्देश्य से यहाँ तुलसीदास के युग और उनकी कविता में प्रतिबिंबित समाज का विश्लेषण किया जा रहा है।

13.2.1 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

किसी भी महान कृतिकार के सृजनात्मक साहित्य में अंकित और प्रतिबिम्बित तत्कालीन समाज के स्वरूप का साक्षात्कार दोहरे तरीके से ही करना उचित प्रतीत होता है। एक तो यह कि हम उस कृतिकार के युग और परिवेश से परिचय प्राप्त करें और दूसरा यह कि उसके कृतित्व में प्राप्त तत्कालीन समाजिक यथार्थ को ऐतिहासिक संज्ञान के आलोक में परखें।

आप भी यही चाहेंगे कि तुलसीदास (1532-1623) के परिवेश, उनके जमाने और उनकी परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय अवश्य ही मिले। इस सिलसिले में यह याद रखना बहुत जरूरी है कि भारत के सामाजिक-राजनीतिक इतिहास में जिसे मध्यकाल कहते हैं, उसी के अंतर्गत तुलसी सोलहवीं सदी में पैदा हुए थे और सत्रहवीं सदी के तीसरे दशक में उनकी मृत्यु हुई थी। जाहिर है कि तब मुगलों का शासन था। गोस्वामीजी इन्हीं मुगल शासकों में हुमायूँ, अकबर और जहाँगीर के समकालीन थे। साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वे शेख मुबारक, अबुल फजल, अब्दुर्रहीम खानखाना, सिख गुरु रामदास और अर्जुनदास तथा दादू दयाल के भी समकालीन थे। बादशाह अकबर (1556-1605) के समय में ही भारत और यूरोप का संपर्क आंरभ हो गया था। आपमें से जो इतिहास के विद्यार्थी रहे हैं उन्हें अवश्य ही मालूम होगा कि तब तक यूरोप में पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन के प्रभाव से राजनीति, (ज्ञान-विज्ञान), टेक्नॉलाजी, दर्शन और साहित्य में परिवर्तन की प्रकिया अपनी जड़ जमा चुकी थी। अंग्रेजी साहित्य में विलियम शेक्सपीयर, मिल्टन और फ्रांसिस बेकन छाये हुए थे और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में गैलीलियो, कोपरनिक्स, केपलर एक नये युग का सूत्रपात कर चुके थे।

इधर अकबर के शासनकाल में खासतौर पर उत्तर भारत के एक सुदृढ़ केंद्रीय प्रशासन के अंतर्गत देश के अधिकांश भागों को संयुक्त और सूत्रबद्ध कर दिया गया था और पारस्परिक झगड़ों में उलझी रियासतों को भी प्रत्यक्ष नियंत्रण में ले लिया गया था। अपने शासन को निरापद बनाने के उद्देश्य से अकबर ने हिन्दू सामंतों से सुलह-संधियाँ कीं और हिन्दू प्रजा का विश्वास जीतने के लिए धार्मिक भावनाओं की कद्र करने का ऐलान किया। शेख मुबारक और अबुल फजल की प्रेरणा से 'दीन-ए-इलाही' नामक एक नये धर्म का प्रवर्तन भी किया गया।

सोलहवीं सदी में दक्षिण भारत के भिन्न-भिन्न समुद्री तटों और बंदरगाहों पर जहाजी बेड़े समेत पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारी उतर रहे थे। मुगल शासकों ने पहले उन्हें व्यापार के विस्तार के हित में प्रश्रय देने की नीति अपनायी, पर बाद में बंदरगाहों पर नियंत्रण को लेकर संघर्ष भी शुरू हो गया। हिंदी भाषी क्षेत्रों के जनसाधारण इन घटनाक्रमों से पूरी तरह बेखबर थे। विभिन्न धार्मिक पंथों के प्रवर्तक, प्रचारक और अनुयायी भी इन घटनाओं से बेखबर थे। चाहे वे कृष्ण भक्त हों या राम भक्त, निरगुनियें हों या सगुनिये, शैव हों या शाक्त, तंत्र साधक हों या योगी - इन सबके आगे सर्वोपरि समस्या थी अपने पंथ की सर्वोच्चता की स्थापना।

अकबर दरबार के दस्तावेजों में भी रेनेसां से जन्मे नये यूरोप के ज्ञान-विज्ञान और उससे आदान-प्रदान की नीति का कोई संकेत नहीं मिलता। शासकों और दरबारियों के मन में पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज व्यापारियों के मंसूबों को लेकर कहीं किसी आशंका के भी संकेत नहीं मिलते हैं। थोड़ा-बहुत झगड़ा होता है तो सूरत और खंभात के बंदरगाह पर नियंत्रण को लेकर जिसे व्यापारिक हित का मुद्दा मानकर गंभीरता से नहीं लिया जाता। निष्कर्ष यह कि उधर आधुनिक यूरोप भारत के दरवाजे पर दस्तकें दे रहा था, इधर यूनानी-अरबी-फारसी लेन-देन और अनुवादों के माध्यम से विकसित ज्ञान-विज्ञान और टेक्नॉलाजी की परंपरा का भी ह्रास और क्षरण होता गया। स्वयं अबुल फज़ल ने स्वीकार किया है - पारंपरिकता के तेज झोंके चलने लगे तथा बुद्धिमत्ता के चिराग मद्धिम पड़ते गये। क्यों और कैसे जैसे सवालों के लिए दरवाजा बंद हो चुका है। सवाल करना और जिज्ञासु होना निरर्थक समझा जाने लगा है तथा यह कुफ्र माना जाता है। पिता से, गुरु से,

सगे-संबंधियों से, दोस्तों से और पड़ोसियों से जो कुछ भी मिले, उसे खुदा की मेहरबानी माना गया और उनसे विपरीत राय देने वालों को विधर्मी और अपवित्र होने का आरोप झेलना पड़ा। यद्यपि प्रबुद्धों में से कुछ ने अपना रास्ता अलग बनाने की लगन दिखाई, लेकिन वे भी अपने अमल के सही रास्ते पर प्राय: आधी से अधिक दूरी तय नहीं कर सके।

यूनान, अरब और ईरान के परस्पर लेनदेन से 13वीं सदी के हिन्दुस्तान में अनुवादों और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्रों में नये चिंतन की जो परंपरा शुरू हुई थी - सोलहवीं सदी तक आते-आते खत्म हो गयी। मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विद्वान इरफान हबीब ने मध्यकालीन भारत में तर्क शक्ति और विज्ञान शीर्षक आलेख में उपर्युक्त स्थापना के पक्ष में पर्याप्त ब्यौरे और प्रमाण दिये हैं।

इसी सामाजिक-ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में तुलसीदास पैदा हुए थे। इस संकीर्ण बौद्धिक परिवेश में तुलसीदास ने होश संभाला। आँखें खोलकर देखते भी तो क्या देखते? गोस्वामी जी का समकालीन बौद्धिक वर्ग या तो धर्मशास्त्र की शरण में था या फिर सामंती राजतंत्र द्वारा पालित-पोषित। शासक वर्ग की सुचिंतित नीति के तहत जन-शिक्षा के अभाव का हवाला देते हुए बर्नियर ने अपने यात्रा वृत्तान्त में ठीक ही कहा था कि हिन्दुस्तान के जनसाधारण की गहन और सार्वत्रिक अज्ञानता का यह युग था।

13.2.2 काव्य में समाज का चित्रण

भक्तिकाल में किसी रचनाकार के कृतित्व में तत्कालीन यथार्थ का इतना विशुद्ध और दारुण चित्र नहीं मिलता, जितना तुलसी के साहित्य में प्राप्त होता है। कवितावली में तुलसीदास कहते हैं काल बड़ा कराल है, राजा निर्दय है और राज समाज छली-कपटी है - कालु कराल, नृपाल कृपाल न, राजसमाजु बड़ोई छली है। (कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 85) जीवन की विभीषिका संपूर्ण यथार्थ को एक दु:स्वप्न के रूप में तब्दील कर चुकी है। दिनोंदिन दरिद्रता दुष्काल, दु:ख, पाप और कुराज्य दूने होते जा रहे हैं। इस भयंकर वास्तविकता से भय खाकर सुख और सुकृत संकुचित हो रहे हैं। इस जमाने की करालता ऐसी है कि बड़े-बड़े पापी डराने-धमकाने की ताकत के बल पर दाँव लगाते हैं और जो भी माँगते हैं, आसानी से पा जाते हैं। पर भले आदमी का बुरा हो जाता है -

दिन-दिन दूनो देखि दारिदु, दुकालु, दुखु,
दुरितु, दुराजु सुख-सुकृत सकोच है।
मागें पैंत पावत पचारि पातकी प्रचंड,
कालकी करालता, भलेको होत पोच है।।
(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 81)

अपने युग के यथार्थ और पीड़ामय संसार के साक्षात् गवाह होने के नाते भक्त कवि तुलसीदास का कहना है इस संसार का संकट मिटेगा तो कैसे मिटेगा? तप तो कठिन है, और तीर्थाटन करके अनेक स्थानों में विचरने से भी कुछ नहीं होगा क्योंकि कलियुग में न कहीं वैराग्य है, न कहीं ज्ञान है - सब कुछ असत्य, सारहीन और फोकट का झूठ है। नट के समान अपने पेट रूपी कुत्सित पिटारे से करोड़ों तरह के इन्द्रजाल और कौतुक का ठाठ खड़ा करना व्यर्थ है। सुख पाने का एक ही साधन है, रामनाम - रसना निसिबासर रामु रटो :

न मिटै भवसंकटु, दुर्घट है तप, तीरथ जन्म अनेक अटो।
कलिमें न बिरागु, न गयानु कहूँ, सबु लागत फोकट झूठ-जटो।।
नटु ज्यों जनि पेट-कुपेटक कोटिक चेटक-कौतुक-ठाट डटो।
तुलसी जो सदा सुखु चाहिअ तौ, रसनाँ निसिबासर रामु रटो।।
(कवितावली, उत्तरकांड पद संख्या 87)

इस लोक में जन्म ग्रहण करने के बाद इन्द्रिय निग्रह अत्यंत कठिन कार्य है। दान, दया, यज्ञ, कर्म और स्वधर्म - सब धन के अधीन है। तप, तीर्थ और योग साधना वैराग्य से होते हैं किंतु मन तो हमेशा चंचल रहता है। मन की दृढ़ता के बिना यह योग साधना और वैराग्य कैसे संभव है? अत: इस भयंकर समय में राम ही कृपा कर सकते हैं। वही एकमात्र अवलम्ब है -.

दम दुर्गम, दान, दया, मुख, कर्म, सुधर्म अधीन सबै धनको।
तप, तीरथ, साधन जोग, बिरागसों, होइ, नहीं दृढ़ता तनको।।
कलिकाल करालमें 'राम कृपालु' यहै अवलंबु बड़ो मनको।
'तुलसी' सब संजमहीन सबै, एक नाम-अधारु सदा जनको।।
(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 87)

निःस्वार्थ भाव से भक्ति, सत्संग और स्वधर्म के पालन में तल्लीन - इस वीतरागी संत को इस बात की कितनी व्यथा हुई होगी, मन को कैसा दुःसह आघात लगा होगा कि अब सब कुछ - स्वधर्म तक धन के अधीन हो गया है। यथार्थ के इस दंश और नग्न सत्य के साक्षात्कार ने उनकी चेतना को कितना झकझोरा होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। धन की लूट-खसोट पर अवलम्बित समाज में तुलसी अपनी हैसियत, अपनी वास्तविक स्थिति की दो टूक और निर्मम समीक्षा करते हैं - मेरा मन तो ऊँचा है और मेरी रुचि भी ऊँची है, पर मेरा भाग्य कपट नीचा है। मैं लोकरीति के लायक कभी न रहा, बल्कि उलटे हमेशा स्वच्छंद और वाचाल बना रहा। इतने साधन थे ही नहीं कि अपने स्वार्थ की पूर्ति करता, भला परमार्थ कैसे कर पाता। इस पेट की भूख (जो कि बड़वाग्नि जैसे कठिन रही है) के कारण मेरी जिंदगी जी का जंजाल हो गई है, चूंकि न तो कोई चाकरी मिली, न खेती की, न कभी व्यापार किया और न कभी धंधे के रूप में भिक्षावृत्ति अपनायी। आजीविका के लिए न तो कोई धंधा मिला और न कभी सीख पाया। हकीकत में हालत तो यहाँ तक पहुँच गई है कि अगर राम सहारा न दें तो अपने पितरों को भेंट चढ़ाने के लिए मेरे सिर पर बाल भी नहीं हैं :

ऊंचो मन, ऊंची रुचि, भागु नीचो निपट ही,
लोकरीति लायक न, लंगर लबारु है।
स्वारथु, अगमु, परमारथ की काहा चली,
पेटकी कठिन जगु जीव को जवारू है।।
चाकरी न आकरी, न खेती, न बनिज-भीख,
जानत न कूर कुछ किसब कबारू है।
तुलसीकी बाजी राखी रामहीकें नाम, न तु
भेंट पितरन को न मुड़डू में बारु है।।
(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 67)

तुलसी अपने अभाव, अपनी निपट दरिद्रता और बेरोजगारी की दारुण अवस्था का जो चित्र पेश करते हैं, वह जन-साधारण की अकिंचनता और बदहाली के अंकन के क्रम में खींचे गए चित्रों के अलबम का ही एक हिस्सा है। ऐसा चित्रांकन आज भी जन-सामान्य की वैसी ही अवस्था देखकर करुणा उत्पन्न करता है - ऐसी करुणा जो सामंती शासक वर्ग के प्रति गुस्से और नफरत से भरी है। दरिद्रता के चित्रण की इसी कड़ी में अन्नपूर्णा के माहात्म्य के बहाने भूख से बिलबिलाते रंक और अकिंचन लोगों का वर्णन आता है -

लालची ललात, बिललात द्वार-द्वार दीन,
बदन मलीन, मन मिटै ना बिसूरना।
ताकत सराध, कै बिबाह, कै उठाह कछू,
डोलै लोल बूझत सबद ढोल-तूरना।।
प्यासेहूँ न पावै बारि, भूखें न चनक चारि,
चाहत अहारन पहार, दारि घूर ना।
साकको अगार, दुखभार भरो तोलौं जन
जौलौं देबी द्रवै न भवानी अन्नपूरना।।
(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 148)

भूखे लोगों पर देवी अन्नपूर्णा की कृपा नहीं है तभी तो जन-साधारण को इस अकाल-दुष्काल से भयंकर भुखमरी का सामना करना पड़ रहा है। सिर्फ अकाल ही नहीं है, उसके साथ-साथ सूखा भी पड़ रहा है। नतीजा यह कि न तो प्यासे को पानी मिलता है और न भूखे को भोजन। चने के चार दाने तक नसीब नहीं होते। भूख से व्याकूल मनुष्य लालची जैसा लगता है चूंकि वह टुकड़े-टुकड़े के लिए लालायित होकर, दीन और मालिक मुख से द्वार-द्वार बिलबिलाता फिर रहा है। पर इससे भूख मिटाने की चिंता दूर नहीं होती। कहीं श्राद्ध, विवाह या किसी उत्सव की टोह में वे लगे रहते हैं। कहीं दूर से भी जब ढोल या तुरही की आवाज सुनायी देती है तो वे दौड़ पड़ते हैं। भुखमरी और अकाल के इस दुर्दिन में आहार की इच्छा पहाड़ के समान है। पर इसके बावजूद उन्हें घूरे पर फेंकी दाल भी नसीब नहीं होती। जन-साधारण शोक का आगार बना हुआ है, दुःखभार से तड़प रहा है।

गोस्वामी तुलसीदास अपने वर्णन में मूर्तिमत्ता के लिए प्रसिद्ध हैं। मूर्तिमत्ता की इसी कला के उदाहरण के रूप में दैन्य और गरीबी के चित्र तो मिलते ही हैं - दरिद्रता रूपी रावण का रुपक भी बार-बार मिलता है। जिस तरह रावण का संहार आवश्यक है, उसी तरह दरिद्रता उत्पन्न करने वाले दुष्ट सामंती शासन का भी विनाश आवश्यक है। किसानों, बनियों और कारीगरों की कैसी फटेहाली और दुर्दशा थी, इसे खास तौर पर कवितावली के उत्तरकांड के अनेक पदों में दर्शाया गया है। यहाँ उदाहरण के लिए दोहे दिये जा रहे हैं -

किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट,
चाकर, चपल नट, चोर, चार चेटकी।
पेटको पढ़त, गुन गढ़त चढ़त गिरि,
अटत गहन-गन अहन अखेटकी।।
ऊंचे-नीचे करम, धरम-अधरम करि,
पेट ही को पचत, बेचत बेटा-बेटकी।
'तुलसी' बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें
आगि बड़वागितें बड़ी है आगि पेट की।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 96)

खेत मजदूर, किसान, व्यापारी, भाट, भिखारी, चोर, दूत और बाजीगर - अर्थात् आम गरीब लोग पेट के लिए ही पढ़ते हैं, पेट के लिए ही तरह-तरह के उपाय करते हैं, दुर्गम पर्वतों और जंगलों में जाकर शिकार करते हैं। ऊंच-नीच कर्म, धर्म-अधर्म, नीति-अनीति सब पेट के लिए ही करते हैं - यहाँ तक कि बेटा-बेटी को बेच देते हैं। पेट की यह बड़वाग्नि ऐसी है जिसे भगवान राम श्याम मेघ की वर्षा करके ही शांत कर सकते हैं।

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिकको बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका बिहीन लोग सधिमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों "कहाँ जाई, का करी?"
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै पै, राम। रावरें कृपा करी।
दारिद-दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु!
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।।

(कवितावली, उत्तरकांड, पद संख्या 97)

किसानों की खेती नहीं होती, भिखारी को भीख नहीं मिलती, बनियों का व्यापार चौपट हो गया है और चाकरी चाहने वालों को रोजगार नहीं मिलता। जीविका से हीन जनसाधारण शोकाकुल और संतप्त अपनी तड़फड़ाहट में एक-दूसरे से पूछते हैं - कहाँ जायें, क्या करें? वेद, पुराण और लोक सभी कहते हैं कि ऐसे संकट में सिर्फ आपकी कृपा से ही समस्या का कोई समाधान हो सकता है। हे दीनबंधु राम

– दरिद्रता रूपी रावण ने दुनिया को दबोच रखा है – इस पाप रूपी ज्वाला को देखकर तुलसीदास कातर होकर हाहाकार करते हैं – प्रार्थना करते हैं।

अनेक इतिहासकारों ने तत्कालीन सामाजिक अवस्था का विश्लेषण करते हुए यह बताया है कि उत्तर मध्यकाल में बार-बार अकाल पड़ता था और लाखों लोग भुखमरी की भेंट चढ़ जाते थे। ऊपर उल्लिखित पदों से भी इस बात की पुष्टि होती है। कलिकाल वर्णन से संबंधित सभी पदों में उस युग के यथार्थ का ही साक्षात्कार है – यद्यपि किंचित् पौराणिक और धार्मिक पुट भी साथ-साथ द्रष्टव्य हैं।

अकाल और सूखा पड़ने के समय निर्धन जन-साधारण की तबाही-बर्बादी का विश्वसनीय चित्र देने में तुलसी का अद्वैतवाद बाधक नहीं बनता है। पर क्या सामान्य दिनों में जन-साधारण की अवस्था के विश्वसनीय वर्णन उनके काव्य में उपलब्ध हैं? प्रकारान्तर से लोगों के दैन्य और अभाव के प्रति एक संवेदनशील रचनाकार के रूप में उनकी सजगता सम्पूर्ण कृतित्व में छायी हुई है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि अपने उपास्य को सामर्थ्यवान, सर्वशक्तिमान, पराक्रमी और अलौकिक गुणों से संपन्न बताने मात्र से वे संतुष्ट नहीं होते। उन्हें ऐसा प्रतीत है कि इतना बताने मात्र से राम के प्रति अनुराग उत्पन्न होने वाला नहीं है। अत: बार-बार कृपानिधान, करुणा के आगार, दीनदयालु, गरीब नवाज और विपन्न-वंचित जनों के शरणदाता के रूप में राम की महिमा का बखान किया गया है। "रामचरितमानस" में राम वनगमन की कथा के साथ-साथ ग्रामीण-जनों की झोपड़ियों और अभावग्रस्त स्थितियों का विवरण उस जमाने के जन-साधारण का वास्तविक दिग्दर्शन कराने में समर्थ है। वनवासी जातियों की जीवन-स्थिति के वर्णन प्रसंग भी इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं। गरीब जन-साधारण राजपरिवार की अंतर्कलह के दु:खदायी परिणामों पर जैसी टिप्पणियाँ करते हैं और आवभगत में अपनी सहज निश्छलता का जैसा परिचय देते हैं – उससे भी पता चलता है कि अपने समकालीन दलित-वंचित जनसमुदाय को गोस्वामी जी किस दृष्टि से देखते थे। अपनी वास्तविकता अर्थात् अपने दैन्य को पूर्वजन्म का फल मानने वाली प्रजा सामंती मूल्यों की अनुगामिनी बनी हुई है। विचारधारा के स्तर पर तुलसी इसे गौरवान्वित करते हैं। अयोध्या कांड में वर्णित केवट प्रसंग इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण और सार्थक है।

राम, लक्ष्मण और सीता गंगा तट पर हैं। नदी पार करने के लिए केवट से आग्रह किया जा रहा है। रामचरितमानस और कवितावली में राम और केवट का संवाद थोड़ा भिन्न-भिन्न है। रामचरितमानस में केवट कहता है कि मेरी तरणी मुनि की घरनी हो जाएगी तो मैं रोजी रोटी कैसे कमाऊंगा? मेरे पास और तो कोई धंधा नहीं है। इस बहस के बाद चरण पखारने की अनुमति मिलते ही केवट राजकुल के परिवार को नाव से पार उतार देता है। सीता नाव की उतराई के लिए अपनी रत्नजड़ित अंगूठी देना चाहती हैं। केवट का उत्तर है – मूझे अंगूठी नहीं लेनी। मुझे तो सब कुछ मिल गया। मेरे दोष, दु:ख और दरिद्रता की दावाग्नि बुझ गयी – **नाथ आज मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दरिद दावा**। कवितावली में यही संवाद तत्कालीन यथार्थ का एक दूसरा पहलू भी सामने लाता है। केवट तर्क करता है कि मेरी नौका सड़ी-गली है, दूसरी बनवा नहीं सकता, छोटे-छोटे बच्चों का लालन-पालन कैसे करूंगा। उसके घर में पत्तल पर मछली के सिवा कुछ भी नहीं होता। बच्चे छोटे-छोटे अर्थात् कमाने लायक नहीं हैं। मैं दीन-हीन और दरिद्र तो हूँ ही। वेद पाठी ब्राह्मण को दी जाने वाली शिक्षा-सुविधा से मेरे बच्चे वंचित हैं और मैं निषाद जैसी शूद्र जाति का होने के कारण आपसे झगड़ा मोल नहीं ले सकता –

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवटकी जाति, कछु वेद न पढ़ाईहौं।
सबु परिवारु मेरो याहि लागि, राजा जू
हौं दीन बित्तहीन, कैसें दूसरी गढ़ाइहौं।

(कवितावली, अयोध्याकांड, पद संख्या 8)

प्रभु से बात नहीं बढ़ाऊंगा – **प्रभु सों निषादु ह्वै के बादु ना बढ़ाइहौं।**

कविताओं में सामंती समाज के प्रति तुलसी का दृष्टिकोण आलोचनात्मक है। समाज में व्याप्त असमानता, दरिद्रता, गरीबी आदि से वे दुखी है और इसीलिए वे बार-बार अपने राम से इन दुखों को दूर करने की प्रार्थना करते हैं।

13.3 तुलसी की विचारधारा

कविता में इन्द्रिय बोध, भाव और विचार तीनों परस्पर गुंथे होते हैं। भक्तिकाल के कवि इस नियम के अपवाद नहीं हैं। तुलसी काव्य के आस्वादन और विवेचन के क्रम में गोस्वामी जी की विचारधारा, उनकी दार्शनिक दृष्टि और समाज-संबंधी उनकी मान्यताओं को लेकर आपको काफी माथापच्ची करनी पड़ती है। इस संदर्भ में तुलसी काव्य के मर्मज्ञ विद्वानों के बीच विवाद और मतभेद से आपकी परेशानी और भी बढ़ जाती है। आपको साफ-साफ पता नहीं लगता कि वे अद्वैतवादी हैं या विशिष्टाद्वैतवादी, इस सृष्टि को वे सत्य मानते हैं या मिथ्या, वे भौतिकवादी है या भाववादी, गोचर सांसारिक सत्ता को वे स्वीकार करते हैं या अस्वीकार, ब्रह्म और जीव के बीच वे द्वैत की स्थिति मानते हैं या अद्वैत, मायावाद का अनुमोदन करते हैं या खंडन? ब्रह्म चिंतन और गोचर-अगोचर सत्ता पर तुलसी की वैचारिक मान्यताओं को लेकर चल रही बहसों में वैदिक एवं अवैदिक दर्शनों के भाष्यकारों के उद्धरणों और उल्लेखों से जूझते हुए आपको काफी दिमागी कसरत करनी पड़ती है - अंत में हाथ कुछ भी नहीं आता। इसी तरह सामाजिक संरचना पर उनके विचारों को लेकर भी आलोचकों के बीच अंतहीन बहस रही है। नतीजा यह कि इस मुद्दे पर भी आप इस उलझन से निकल नहीं पाते कि तुलसी जाति प्रथा, स्त्री-समाज और राजतंत्र के बारे में अपनी सोच में रुढ़िवादी हैं या प्रगतिशील?

ऐसी स्थिति में तुलसी की विचारधारा की स्पष्ट समझ के लिए उनकी काव्यकृतियों में आये वैचारिक, दार्शनिक और सामाजिक प्रसंगों को ध्यान से पढ़ना आवश्यक है।

13.3.1 तत्व दर्शन

रामचरितमानस के बालकांड के आरंभ में ही गोस्वामी जी की उक्ति है - सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्म के ही स्वरुप हैं (**अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरुपा**)। पर इन दोनों से बड़ा है रामेनाम (**मोरें मत बड़ नाम, दुहू तें**)। ब्रह्म चिंतन के अंतर्गत अपनी इसी मान्यता को एक आलंकारिक दृश्यचित्र द्वारा स्पष्ट करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं - ब्रह्म अग्नि के समान है, एक एक अग्नि जो लकड़ी में छिपी है (**एक दारुगत देखिअ एकू**) अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त, निर्गुण और सगुण, अगोचर और गोचर - दोनों एक ही ब्रह्म है और वह अविनाशी है, सत चित् और आनंद की पुंजीभूत राशि है। इससे आपको स्पष्ट हो गया होगा कि निर्गुण संतों से भिन्न उनकी वैचारिक कल्पना है। एक निरपेक्ष परम सत्ता जो लीला करने के लिए सगुण रुप, लौकिक रुप, अवतारी रुप धारण करती है - उस परमसत्ता के पद पर तुलसी राम को प्रतिष्ठित करते हैं।

तुलसी के वैचारिक और दार्शनिक दृष्टिकोण के अंतर्गत, जीव और शेष सृष्टि पर उनके चिंतन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। रामचरितमानस में काकभुशुण्डि-गरूड़ संवाद के अंतर्गत भगवान राम स्वयं कहते हैं - **मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।।** (रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 86)

परम पद पर अधिष्ठित परमेश्वर राम स्वयं इस रहस्य को खोल देते हैं कि यह सारा संसार ही उनकी माया से उत्पन्न है - और इसी माया से उत्पन्न संसार में विविध प्रकार के चराचर जीव हैं। इससे आपको स्पष्ट हो गया होगा कि तुलसी की दृष्टि में ब्रह्म और जीव अलग-अलग हैं, पर जीव की पृथक् सत्ता भी ब्रह्म की माया के वशीभूत है। दार्शनिक विवेचन के धरातल पर आप सहज ही इसे समझ सकते हैं कि तुलसी की मान्यता के अनुसार यह गोचर लौकिक जगत अपने वस्तुगत नियम से स्वयं उत्पन्न और विकसित न होकर, अगोचर परब्रह्म परमेश्वर की माया से उत्पन्न है। इसका तात्पर्य यह कि तुलसी विचार और दर्शन में भाववादी हैं, न कि भौतिकवादी। भारतीय दर्शन की भाववादी धाराओं में वे मूलतः अद्वैतवादी हैं, पर जीव की ब्रह्म-आश्रित पृथक् सत्ता पर बल देने के कारण विशिष्टाद्वैतवाद के एक पहलू का अनुमोदन करते हैं। ईश्वर और जीव में फर्क बतलाने के लिए

गोस्वामी जी एक और भी प्रसंग लाते हैं और वह है ज्ञान। भक्तिकालीन साहित्य में इस "ज्ञान" शब्द की बारम्बार आवृत्ति हुई है। प्राय: सभी भक्त रचनाकारों की दृष्टि में ज्ञान का अर्थ है ब्रह्म का ज्ञान। यह ज्ञान माया की वजह से जीवों को नहीं होता, अज्ञान का परदा पड़ा रहता है, जीव के चित्त पर अज्ञान और अविद्या का अंधेरा छाया रहता है। उल्लिखित काकभुशण्डि-गरूड़ संवाद में रामकथा के साथ-साथ ज्ञान चर्चा भी चलती रहती है, शिव-पार्वती संवाद और याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद का भी यही हाल है। काकभुशण्डि जी पक्षिराज गरूड़ को बताते हैं -

ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर।।
जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस।।
माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी।।
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।।
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 78)

सिर्फ मायापति प्रभु राम ही अखंड ज्ञान स्वरूप हैं, शेष जड़-चेतन सभी पदार्थ और जीव माया के वशीभूत हैं। अगर जीवों को भी अखंड ज्ञान होता तो फिर ईश्वर और जीव में फर्क क्या रहता। अभिमानी जीव माया के वशीभूत है, पर सत्व, रज और तम - इन तीनों गुणों की खान माया ईश्वर से नियंत्रित होती है, ईश्वर के वशीभूत है। जीव परतंत्र है, पर भगवान स्वतंत्र हैं। जीव अनेक हैं, पर भगवान एक है। यद्यपि मायाकृत यह भेद असत्य है तथापि वह भगवान की भक्ति के बिना करोड़ों उपाय करने के बाद भी नष्ट नहीं होता।

उपर्युक्त पद में आपने देखा कि परम विचार (एब्सोल्यूट आइडिया) और निरपेक्ष परम सत्ता की परम ज्ञान से अभिन्नता दर्शायी गई है। पश्चिमी दर्शन में इसे प्रोटोटाइप भी कहा जाता है। एक ही परम सत्ता की लौकिक अभिव्यक्ति के रूप में राजतंत्र के सम्राट और अनेकानेक जीवात्माओं को प्रजागण के रूप में देखने से तात्विक चिंतन और सामाजिक चिंतन एकाकार हो जाते हैं। जीवात्मा परतंत्र है और बिना हरिकृपा के उसे ज्ञान नहीं होता, उसके दु:ख का निवारण भी नहीं होता। इसीलिए भक्ति की जरूरत है, हरिभक्ति के बिना सांसारिकता से जीवों को त्राण नहीं मिल सकता।

इसी क्रम में तुलसी जिस निष्कर्ष की ओर बढ़ते हैं, उस पर सहज ही आपका ध्यान गया होगा। रामचरितमानस में शिव-पार्वती संवाद के अंतर्गत पार्वती अपनी शंका रखती हैं। हे कामदेव को भस्म करने वाले शिवजी ! आप जिस राम का जाप करते हैं क्या ये राम अयोध्या के राजा के पुत्र हैं या निर्गुण-निराकार कोई और राम हैं? इस शंका का संदर्भ यह भी है कि निर्गुण संत कबीर जिस राम की भक्ति करते हैं, उसके बारे में वे कह चुके हैं कि राम दशरथ-पुत्र नहीं बल्कि निर्गुण अगोचर परब्रह्म हैं। तुलसी कबीर आदि निर्गुण धारा के संतों का खंडन कर रहे थे और अपनी विचारधारा को शंका-समाधान द्वारा प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कर रहे थे।

पार्वती की उल्लिखित शंका के अंतर्गत यह प्रश्न भी आता है कि यदि वे राजपुत्र हैं तो फिर ब्रह्म कैसे? और यदि ब्रह्म हैं तो सीता के विरह में उनकी मति बावली कैसे हो गई? पार्वती कहती हैं उनके ऐसे चरित्र को देखकर और महिमा सुनकर उनकी बुद्धि चकरा गई है -

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि ।।

(रामचरितमानस, बालकांड)

अपनी शंका के अंतर्गत अनेकानेक प्रश्न और रामचरित के विभिन्न घटना प्रसंगों को लाकर फिर मुख्य रूप में यही अनुरोध करती हैं कि रामचंद्र के अवतार की कथा सुनाइए - **पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा**। पार्वती के उक्त प्रश्नों के उत्तर के अंतर्गत तुलसी कबीर आदि संतों को खरीखोटी ही नहीं सनाते बल्कि उन्हें मोहरूपी पिशाच से ग्रस्त (ग्रसे जे मोह पिसाच), पाखंडी, हरिपद विमुख और अधम

नर (कहहिं सुनहिं अस अधम नर) बताकर पूरी तरह लांछित करते हैं। तुलसी की दृष्टि में दशरथ पुत्र राम को परब्रह्म परमेश्वर न मानने वाले व्यक्ति बनता तो है संत, पर वह अज्ञानी, मूर्ख, अंधा और भाग्यहीन है, उसके मनरूपी दर्पण पर विषयासक्ति रूपी काई जमी हुई है, वह व्यभिचारी, छली और कुटिल है तथा उसने कभी स्वप्न में भी सच्चे संतों के साथ समागम नहीं किया। ऐसे लोग निर्गुण-सगुण के बारे में मनगढ़त बातें बका करते हैं। इन्हें सन्निपात-उन्माद आदि वायुरोग हो गया है, ये मदिरा के नशे में चूर होकर बकवास करते हैं। (रामचरितमानस, बालकांड, पद संख्या 114-115)

खैर इस प्रसंग को छोड़िए। उस युग के गर्मागम बौद्धिक विवादों के एक नमूने के रुप में इस प्रसंग को याद रखिए। पार्वती की शंका का समाधान करते हुए शिव कहते हैं -

सगुनहि अगुनहि नहि कुछ भेदा। गावहि मुनि पुरान बुध बेदा।।
अगुन अरुप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।।
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।।
(रामचरितमानस, पद संख्या 116)

लकड़ी में अव्यक्त अग्नि और जली लकड़ी में व्यक्त अग्नि के दृष्टान्त के बाद यहाँ दूसरा दृष्टान्त रखा गया है - अर्थात् जल और उपल (ओले) में भेद नहीं है। सगुण-अगुण दोनों रूप में उसी की सत्ता है। वह अलौकिक है, अमूर्त है, अदृश्य है -

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा।।
असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।।
(रामचरितमानस, पद संख्या 118)

इस अलौकिक गुणों से युक्त परमेश्वर ने दशरथ-पुत्र के रूप में रघुकुल में भक्तों के हित के लिए जन्म ग्रहण किया और अयोध्या में निवास किया। जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म-अभिमानी असुरों की संख्या में वृद्धि होती है - उनके द्वारा भयंकर अन्याय होता है, ब्राह्मण, गाय, देवता और पृथ्वी को कष्ट होता है, तब तब कृपानिधान प्रभु भाँति-भाँति के शरीर धारण कर सज्जनों की पीड़ा हरते हैं, असुरों को मारकर देवताओं को स्थापित करते हैं, वेदों की रक्षा करते हैं और जगत में अपना यश प्रकाशित करते हैं। श्री रामचंद्र के अवतार का यही रहस्य है।

यह सब पढ़कर आपको क्या यह प्रतीत नहीं होता कि वैदिक-पौराणिक संस्कृति के कुछ सूत्र वाक्य दोहराकर गोस्वामी जी अपने युग को अतीत के सांस्कृतिक अवशेष के चौखटे में फिट करना चाहते हैं? खैर यहाँ तो **ब्राह्मण, गौ, देवता और पृथ्वी** की रक्षा के उद्देश्य से अवतार की बात की गई है। पर कवितावली में इस अवतारवाद के साथ दो नई बातें जोड़ी गई हैं - भक्तों के हित के लिए पवित्र नरलीला; तथा नट की नृत्यलीला के रूप में बहुरूपिया के करतब :

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरुप।।
जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ।।
(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 72)

परमेश्वर राम माया की शक्ति से यह नरलीला करते हैं। इसी माया की शक्ति से वे संपूर्ण सृष्टि की रचना, पालन और संहार करते हैं। बीच-बीच में उलझन पैदा करने वाली एक शंका सबको होती है- अत: आपके मन में भी यह प्रश्न उठता होगा कि ये त्रिदेव कौन हैं? तुलसी के अनुसार - ब्रह्मा, विष्णु, महेश - तीनों अपना देवत्व प्रभु राम से ही प्राप्त करते हैं। लक्ष्मण शेषनाग के अवतार हैं। सीता मूल प्रकृति, आद्याशक्ति, योगमाया और लक्ष्मी की अवतार हैं। यह सारा संसार सीताराम से व्याप्त है (सीय राममय सब जग जानि)।

यहाँ यह याद करने की जरूरत है कि कुछेक समीक्षक इस मान्यता को दोहराते हैं कि तुलसी मायावाद के समर्थक नहीं हैं। आप गोस्वामी जी के संपूर्ण कृतित्व को यदि विशद पाठ के रूप में देखें तो मायावाद के खंडन से संबंधित एक भी उक्ति आपको नहीं मिलेगी। माया का लगभग ऐसा ही आख्यान कबीर में भी मिलता है (माया महाठगिनी मैं जानी)। गोस्वामी जी इस प्रसंग में संतों की परंपरा का ही अनुसरण करते हैं। सत्व, रज और तम – तीनों गुणों से युक्त यह माया, त्रिगुणात्मिका शक्ति है (तिरगुन फाँस लिये कर डोलत, बोलत मधुरी बानी)। गोस्वामी जी विस्तार से माया के बारे में बताते हुए कहते हैं कि संपूर्ण विश्व, देव, दनुज, मनुष्य, राजा-प्रजा, किसान-मजदूर सभी इसके वश में हैं। माया स्वत: तो जड़ होती है पर देखो प्रभु की लीला कि उन्हीं की प्रेरणा से वह क्रियाशील होती है। माया राम की चेरी है। माया का ही एक रूप है अविद्या। अविद्या द्वारा ही वह जीव को भवचक्र-भवकूप में डाले रखती है और दु:ख देती रहती है। गोस्वामीजी ने जीव और शरीर में भी फर्क किया है। तुलसी के अनुसार पंचभूतों से निर्मित शरीर से जीव भिन्न होता है, उसकी अलग सत्ता है, इसीलिए जीव नित्य है, वह मरता नहीं, आवागमन के चक्र में फँसा रहता है और कर्मों का फल जन्म-जन्मान्तर तक भोगता रहता है।

तत्व मीमांसा के इन प्रश्नों पर तुलसी की एक तर्क-व्यवस्था है जिसके निष्कर्ष के रूप में वे भक्ति का महत्व प्रतिपादित करते हैं। ज्ञान प्राप्त करते ही जीव को संसार-चक्र और आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। गोस्वामी जी का मत है कि रामभक्ति से ही ज्ञान प्राप्त होता है। पर राम कृपा के बिना भक्त का पद आसानी से ही नहीं मिलता। निष्कर्ष यह कि राम का नाम स्मरण, नाम जाप, राम कथा श्रवण और राम को ही सर्व शक्तिमान परमेश्वर मानकर उनसे कृपा का अनुग्रह आवश्यक है। गोस्वामी जी बारम्बार बताते हैं कि राम भक्ति से भक्त के अंत:करण में अज्ञान का अंधकार छँट जाता है। अगर अंदर-बाहर दोनों जगह उजाला ही उजाला चाहते हो तो रामनाम रूपी मणिदीपक को मुख रूपी द्वार की जीभ रूपी देहली पर रखो –

राम नाम मनिदीप धरू जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ जौं चाहसि उजिआर।।
(रामचरितमानस, बालकांड, पद संख्या 21)

आप पूछ सकते हैं कि नाना पुराण निगमागम के ज्ञान से समृद्ध तथा अपने युग की समस्या के प्रति जागरूक एक विचारक के नाते तुलसी द्वारा प्रस्तुत समाधान वास्तविक है या काल्पनिक? यथार्थ है या भ्रांति? प्रतिगामी है या अग्रगामी? प्रगतिशील है या प्रतिक्रियावादी?

विचारधारा और ऐतिहासिक मूल्य-दृष्टि – दोनों क्षेत्रों में इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर सरलीकरण की मांग करते हैं – हाँ और न में जवाब माँगना खुद-ब-खुद एक प्रकार की आत्मग्रस्तता या अवैज्ञानिकता है। मुख्य बात है यह समझना कि तुलसी की विचारधारा क्या थी और उस विचार व्यवस्था की निर्मिति में कौन-कौन से उपादान सक्रिय थे। शत-प्रतिशत वे न तो अद्वैतवादी थे और न विशिष्टाद्वैतवादी। तुलसी के युग तक चली आ रही विभिन्न विचार-परंपराओं और साधना-पद्धतियों के जो सांस्कृतिक अवशेष थे, उनसे निपटे बिना, उनकी व्यर्थता और असंगतियाँ बताये बगैर एक विचारक के रूप में अपनी मान्यताओं को वे प्रतिष्ठित कर ही नहीं सकते थे। आप लोगों ने हठयोगियों, सिद्धों, नाथों, संतों और शैवों के प्रति उनकी आलोचनात्मक टिप्पणियाँ पढ़ी हैं। दूसरा महत्वपूर्ण यह तथ्य भी आपकी आंखों से ओझल नहीं होना चाहिए कि गोस्वामी जी अपने युग के हिंदू समाज को संबोधित कर रहे हैं। उनकी रचनाएँ कहीं से भी मुस्लिम समाज को संबोधित नहीं हैं। विजेता शासक समुदाय की संस्कृति से अपनी उच्चता और गरिमा सिद्ध करने के लिए अक्सर अतीत को धो-पोंछ कर, परिशोधित और परिष्कृत कर पेश किया जाता है। गोस्वामी जी भक्तिकालीन कवियों में इस दृष्टि से सबसे पृथक् दिखाई देते हैं – वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि पर अपनी निर्भरता का बार-बार वे उल्लेख भी करते हैं। वे वैष्णव संप्रदाय और शैव संप्रदाय के बीच एकता स्थापित करना चाहते थे। शूद्रों और अंत्यजों के सामाजिक विद्रोहों को प्रकट करने वाली साधना-पद्धतियों को वे पौराणिक-वैदिक संस्कृति की पुन: प्रतिष्ठा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा मानते थे। अत: यह नहीं समझना चाहिए कि वे समन्वयवादी विचारक थे। आपने तुलसी साहित्य से संबंधित आलोचना पुस्तकों में उनके तथाकथित समन्वयवाद का

बार-बार उल्लेख अवश्य ही पढ़ा होगा। अद्वैतवादी चौखटे में विशिष्टाद्वैतवाद के कुछ पहलुओं, त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) और शैव साधना के कुछ तत्वों को एकसूत्र में पिरोने से उस युग में कोई समन्वयवादी नहीं हो सकता था। समन्वय तो तभी होता जब बौद्ध, जैन, लोकायत, आजीवक, सिद्ध, नाथ और सूफी मतों का लोकग्राह्य रूप में समाहार प्रस्तुत किया जाता। दर्शन की अवैदिक परंपराओं तथा सिद्धों-नाथों-संतों के प्रति गोस्वामी जी के दृष्टिकोण से आप परिचित हैं ही।

आचार्य शुक्ल, पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी, बलदेव प्रसाद मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ. उदयभानु सिंह, रामविलास शर्मा आदि समालोचक और पं. राम किंकर उपाध्याय जैसे कथावाचक तक सभी उन्हें समन्वयवादी कहते आए हैं। विद्वानों की पंक्ति में सिर्फ डॉ. माता प्रसाद गुप्त भिन्न मत रखते आए हैं। इस विवाद में निर्भ्रांत रुप में हस्तक्षेप करते हुए उन्होंने कहा है -

कुछ लोग तुलसीदास को अद्वैतवादी और कुछ उनको विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं। कुछ कहते हैं कि उन्होंने दोनों का समन्वय किया था और कुछ कहते हैं कि दोनों के परस्पर विरोधी सिद्धांत भी उनकी रचनाओं में पाए जाते हैं। कुछ यह भी कहते हैं कि उनके आध्यात्मिक विचार उनके अपने हैं और इसलिए उनके सिद्धांतों को तुलसीमत या तुलसी दर्शन नाम देना चाहिए। किंतु वास्तविकता में इनमें से एक भी विचार ग्राह्य नहीं है और सभी भ्रमात्मक हैं। इस भ्रम का कारण यह है कि तुलसीदास के पूर्व रामभक्ति धारा का दर्शन क्या था, इसे जानने और समझने की यथेष्ट चेष्टा नहीं हुई है।

वास्तविकता यह है कि तुलसीदास ने जिस प्रकार अपनी राम कथा का निर्माण पूर्ववर्ती राम कथा के उस अंतिम रूप की नींव पर किया था जो ''अध्यात्म रामायण'' में मिलती है, उसी प्रकार उन्होंने अपने राम भक्ति दर्शन का निर्माण भी राम भक्ति दर्शन के उस अंतिम रूप की नींव पर किया था जो ''अध्यात्म रामायण'' में मिलता है।

तुलसी के तत्व दर्शन में जनसाधारण के लौकिक-सांसारिक जीवन के संबंधों, भावों, वृत्तियों और प्रेरणाओं को मायाकृत बताकर उनका निषेध किया गया है। बाह्य जगत और उसके संबंध परम-सत्ता और जीव की अपनी वास्तविक स्थिति के परिज्ञान में मायाकृत बाधा है। इसीलिए आपने देखा होगा कि गोस्वामी जी इनके फंदे, भवजंजाल, काम, क्रोध, मोह, लोभ, स्त्री-पुरुष संबंध, पिता-पुत्र संबंध तथा ऐंद्रिक संवेदनाओं का परित्याग आवश्यक मानते हैं। जैसे यज्ञ में तर्पण, हवन और बलिदान होता है उसी तरह भावनाओं के परित्याग का यज्ञ आवश्यक है जिसमें ममता की बलि करनी है, तभी इन्द्रिय निग्रह होगा और मन वश में आएगा। संसार में आसक्ति भवनिशा है, अब इंद्रियों के वश में नहीं रहना है, जितेंद्रिय बनना है।

''विनय पत्रिका'' में इंद्रिय बोधों के निषेध का बारम्बार उपदेश दिया गया है। इसके एक पद में यह कहा गया है कि जो भी आदमी इनका कहना मानता है वह भवकूप में गिरता है । इसी पद में आगे कहा गया है कि त्वचा, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, मेद और वीर्य - शरीर की रचना करने वाले, ये सातों धातु पाप के भंडार हैं। ''विनय पत्रिका'' के एक अन्य पद में यह कहा गया है कि आत्म-बोध और पर-बोध इस लौकिक संसार रूपी वृक्ष का मूल है, भय इसके कांटे हैं और शोक इसके फल हैं। इस भवतरु - इस संसार रूपी वृक्ष को कुल्हाड़ी से काट देने में ही भलाई है। लौकिक-पारिवारिक जीवन जीते हुए अपनी आजीविका के संघर्ष, बाल-बच्चों के भरण-पोषण आदि के क्रम में काम, लोभ, क्रोध, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, ममता, हर्ष विषाद आदि की भावनाएँ मनुष्य की चित्तवृत्तियों को आंदोलित किए रहती हैं। तुलसीदास कहते हैं कि मोह सकल व्याधियों का मूल है, काम वातरोग है, क्रोध पित्त है, विषयों का मनोरथ पेचिश रोग है, ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली है, हर्ष-विषाद कंठमाला रोग है। ऐसी काव्योक्तियों से तुलसीदास का काव्य-कृतित्व भरा पड़ा है। इसे ही गोस्वामी जी परिभाषिक करते हैं- ''सकल धरम विपरीत करत।'' नेत्रों से युवतियों को देखना, कानों से दूसरों की आलोचना सुनना, अपने मुँह से अन्यों के गुण-दोष बताना, हृदय में अभिमान, मोह आदि को स्थान देना और अपने सुंदर मानव शरीर से सांसारिक तृप्ति ढूँढना - ये सब ''सकल धरम विपरीत'' हैं।

मन रूपी भवन में जो स्थायी और संचारी भाव हैं (मोह, लोभ, क्रोध आदि), वे चोर की तरह घुस आये हैं। इन सहज मानवीय वृत्तियों को अद्वैतवादी शंकराचार्य भी चोर कहते हैं (देहें तिष्ठन्ति तस्करा:)। कबीर भी इन वृत्तियों को और सांसारिक इच्छाओं को चोर ही बताते हैं (तोरी गठरी में लागा चोर)। वैदिक दर्शन के भाष्यकारों से लेकर भक्तिकाल के रचनाकारों तक में यह प्रवृत्ति द्रष्टव्य है। यदि आप तुलसी-काव्य का मनोयोगपूर्वक अध्ययन करें तो ऐसे हजारों उदाहरण मिल जाएंगे। गोस्वामी जी लौकिक इंद्रिय बोध, मनोविकार और संसार धर्म के परित्याग के लिए आध्यात्मिक और नैतिक - दोनों प्रकार के तर्कों का उपयोग करते हैं। ये कामनाएं और वासनाएं मल हैं, पाप हैं, कलष हैं। ऐसी स्थिति में आपके मन में भी यह प्रश्न उठता होगा कि अगर साहित्य का सहृदय पाठक अथवा श्रोता अपनी इंद्रियों का निग्रह कर ले, भावों का परित्याग कर दे तो फिर राम के सत्य, शील और सौंदर्य का आस्वादन कैसे करेगा? आलम्बन, उद्दीपन स्थायी भाव, संचारी भाव आदि से युक्त रसात्मक काव्य का आनंद कैसे लेगा? राम कथा के विभिन्न अवतारी चरित्रों की नरलीला के अंतर्गत उनके मानवीय कियाकलापों, उनके बाल रूप, उनके प्रेम, उनके पराक्रम, उनके बंधुत्व, उनकी प्रजावत्सलता - अर्थात् वनगमन से लेकर रावण के संहार तक - रामलीला के दृश्यों को देखकर संवेदनात्मक प्रतिक्रिया कैसे होगी? बिना इंद्रियों के? क्या यह विचित्र बात नहीं लगती? रघुकुल गाथा के अंतर्गत लौकिक-अलौकिक व्यापारों को देखकर सुख-दु:ख, हर्ष-पुलग, क्रोध, करुणा, ममता आदि ठीक है, पर ये ही वृत्तियाँ जनसाधारण के लौकिक जीवन के लिए त्याज्य और गर्हित हैं? तुलसी के विचार जगत और उनके भावजगत का यही अंतर्विरोध है।

13.3.2 सामाजिक संरचना

जातिप्रथा अथवा वर्णाश्रम व्यवस्था पर लगातार हो रहे प्रहार; शुद्रों, अंत्यजों और दलित जातियों के भीषण उत्पीड़न के विरुद्ध और धर्म-परिवर्तन, नाथों, सिद्धों और संतों द्वारा वर्णाश्रम व्यक्स्था के विरूद्ध जन-जागृति से भरी बानियों और पदों का व्यापक प्रभाव और अंतत: जात-पाँत, छुआछूत, ऊंच-नीच के भेदभाव से भरी आश्रम व्यवस्था के अंदर पैदा हो रही टूट-फूट से भक्त कवि तुलसीदास क्षुब्ध और संतप्त थे। आपने ध्यान दिया होगा कि इतिहास की इस बहुआयामी प्रकिया को ठीक से समझने के बजाय वे दु:खी और खिन्न थे। इसके लिए वे कलियुग को दोषी तो मानते ही थे लेकिन ज्यादा दोषी वे सिद्धों, नाथों और संतों को समझते थे। अपने वचन और वेशभूषा मात्र से वैरागी बने लोगों ने जगत को ठग लिया है (वचन-बिराग, वेष जगतु हरो सो है)। कवितावली के इसी पद में बताया गया है कि गोरख ने जोग जगाकर, भक्ति को खदेड़ कर समाज से बाहर कर दिया (गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग)। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस पद के प्रारंभ में ही वर्ण, धर्म, आश्रम, आदि के विनाश की तथाकथित ट्रेजेडी पर तुलसी के गहरे शोक संताप की छाया फैली हुई है। वर्णाश्रम के विनाश पर संताप और वर्णाश्रम व्यवस्था के सोपान-क्रम में निचले दर्जे पर अवस्थित जातियों के बीच से आये कबीर, रैदास, दादू आदि संतों के प्रति कटूक्ति और शापवाणी - ये दोनों बातें तुलसी की काव्य-कृतियों में अनेक स्थलों पर एकत्र ही मिलती हैं। रामचरितमानस के उत्तरकांड में पंद्रहवी सदी से चले आ रहे विवाद का उत्तर गोस्वामी जी सोलहवीं सदी के अंतिम दशक में देते हैं -

बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि।।
परत्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने।।
तेइ अभेदवादी ज्ञानी पर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर।।
आपु गए अरु तिन्हहूं घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं।।
कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका।।
जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा।।
नारि मुई गृहसंपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी।।
जे विप्रन्ह सन आपु पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं।।
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी।।
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना।।
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा।।

(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 99-100)

शूद्र ब्राह्मणों से विवाद करते हैं और कहते हैं कि हम क्या तुमसे कुछ कम हैं? जो ब्रह्म को जानता है वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है - यह कह कर वे ब्राह्मणों को डाँट कर आँखें दिखाते हैं। जो परायी स्त्री में आसक्त, कपट करने में चतुर, मोह-ममता में लिपटे हुए हैं - ऐसे ही लोग ब्रह्म और जीव को एक बताने वाले अभेदवादी ज्ञानी हैं। मैंने उस युग का यह चरित्र देखा है। उपर्युक्त ज्ञानी-अभेदवादी स्वयं तो नष्ट हो ही चुके हैं - सन्मार्ग पर चलने वालों को भी नष्ट कर देते हैं। जो तर्क करके वेद की निन्दा करते हैं, ऐसे लोग युग-युग तक एक-से-एक नरक में पड़े रहते हैं। तेली, कुम्हार, चांडाल, भील, कोल और कलवार आदि जो वर्ण में नीचे हैं, स्त्री के मरने पर या घर की संपत्ति नष्ट होने पर सिर मुड़ाकर संन्यासी हो जाते हैं। वे अपने को ब्राह्मण से पुजवाते हैं और अपने ही हाथों लोक-परलोक दोनों नष्ट कर देते हैं। ब्राह्मण अनपढ़, लोभी, कामी, आचरणहीन, मूर्ख और नीची जाति की व्यभिचारिणी स्त्रियों के स्वामी होते हैं। शूद्र नाना प्रकार के जप, तप और व्रत करते हैं तथा ऊंचे आसन वाली गद्दी पर बैठकर पुराण कथा का वाचन करते हैं। सब मनुष्य मनमाना आचरण करते हैं। अपार अनीति का वर्णन नहीं किया जा सकता।

आप पूछेंगे वेदों, स्मृतिग्रंथों और पुराणों का पालन न करने पर भी तो वे इतने ही क्षुब्ध और चिंतित हैं - इसके पीछे कारण क्या हैं? आप शायद यह भी जानना चाहेंगे कि ब्राह्मणों के प्रति निरादर के उल्लेखों के साथ जो गहरा विषाद झलकता है उसके मूल में क्या है? जब तुलसी के समसामयिकों ने उनसे पूछा था कि आज का सबसे बड़ा पुण्य क्या है तो उन्होंने जवाब दिया था - इस जगत में पुण्य एक ही है, उसके समान दूसरा नहीं। वह है मन, वचन और कर्म से ब्राह्मणों के चरणों की पूजा -

पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्र पद पूजा।।
(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 45)

ब्राह्मणों के द्रोही को, यदि वह देवराज इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान भी हो, तो भी यह राम कथा नहीं सुनानी चाहिए। जो द्विज-निन्दक है वह घोर नरक में जाएगा और कौए के रूप में पुनर्जन्म पाएगा (वही, पद संख्या 121)। गोस्वामी जी उन सबको यह शाप देते हैं कि वे युगों-युगों तक नरक में पड़े रहेंगे जो तर्क-वितर्क करके वेद की निंदा करते हैं, सकल निगमागम ज्ञान के प्रतिकूल आचरण करते हैं और हेतुवाद (तर्कवाद) के समर्थक हैं।

ब्राह्मणवादी वैदिक-पौराणिक संस्कृति, विचारधारा और सामाजिक व्यवस्था के चतुर्दिक क्षरण के युग में वे रामभक्ति द्वारा समाज की पुरानी परिपाटियों को नवजीवन देना चाहते हैं। गोस्वामी जी इतिहास की गति पहचान नहीं पाते। वे यह समझ ही नहीं पाते कि वर्गीय अंतर्विरोध तीव्र हो रहे हैं और पुरानी व्यवस्था अपनी ही असंगतियों के परिणामस्वरूप लड़खड़ा रही है। यद्यपि भक्तिकालीन आंदोलन के उत्थान काल के सामाजिक प्रश्नों में सिर्फ एक प्रश्न पर वे सहमति व्यक्त करते हैं कि भगवान के दरबार में भक्ति का अधिकार सबके लिए एक-समान है और इस पहलू पर कोई गैर बराबरी नहीं हो सकती - पर यह बराबरी तो परलोक के लिए थी। इस लोक में यदि राम राज्य आएगा भी तो वर्णाश्रम के तहत शास्त्रों द्वारा निर्धारित विधान के तहत सब अपने-अपने कर्म ही करेंगे। पर जहाँ तक ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में वैधानिक और शास्त्रीय अंतर का प्रश्न है, उसमें कोई छूट नहीं होगी। भगवान के दरबार में भी ब्राह्मणों की ही श्रेष्ठता रहेगी, यद्यपि प्रभु की दृष्टि में दास सर्वप्रिय है :

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा।।
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए।।
तिन्ह महँ द्विज, द्विजमहँ श्रुतिधारी। तिन्ह महँ निगम धरम अनुसारी।।
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी।।
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।।
पुनि पुनि सत्य कहउं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।।
(रामचरितमानस, उत्तरकांड, पद संख्या 86)

पहले हम उनके तत्वदर्शन के चौखटे में स्त्री संबंधी उनके विचारों की छानबीन करें। गोस्वामी जी माया की साक्षात् मूर्ति के रूप में स्त्री समुदाय को देखते हैं। डॉ. रमेश कुंतल मेघ इसे 'रत्नावली ग्रंथि' मानते हैं। अद्वैतवाद की तर्क-व्यवस्था को वे स्त्री-प्रसंग में जब-जब रूपायित करते हैं उन्हें स्त्री और माया दोनों अभिन्न प्रतीत होती हैं। रामचरितमानस में नारद से प्रभु राम स्वयं कहते हैं - 'अति दारुन दुखद माया रूपी नारि' (अरण्यकांड, पद संख्या 43)। यह उक्ति छोटे-मोटे घटना-प्रसंगों में किसी नगण्य पात्र का तर्क-वितर्क नहीं है। भगवान राम जब नारद से यह स्पष्टीकरण दे रहे हैं कि उन्हें विवाह क्यों नहीं करने दिया गया, तभी स्त्री समुदाय पर पूरी वैचारिक चर्चा होती है। अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए भगवान राम पुराण, वेद और संतमत का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि मोह रूपी विपिन में स्त्री बसंत ऋतु बनकर आती है और सौंदर्य-शोभा-मकरंद से प्रलुब्ध कर लेती है। आपको ये उक्तियाँ कविजनोचित सादृश्य वर्णन मात्र प्रतीत हो सकती हैं। इस प्रसंग के निष्कर्ष रूप में निम्नलिखित पंक्तियों पर यदि आप ध्यान दें तो आपका संदेह दूर हो जाएगा:

अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
तातें कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि।।
(रामचरितमानस, अरण्य कांड, पद संख्या 44)

अर्थात् युवती स्त्री अवगुणों की मूल, पीड़ा देने वाली और सब दुखों की खान है। इसलिए हे मुनि! मैंने उक्त ज्ञान के आधार पर तुम्हारे निवारण के लिए तुमको विवाह करने से रोका था।

स्त्री जाति के लिए तुलसी एक ही धर्म, एक ही नियम बताते हैं "काय वचन मन पति पद प्रेमा।" पति चाहे जैसा भी हो - वृद्ध, रोगजर्जर, जड़, धनहीन, अंध, बधिर, क्रोधी, अतिदीन ... । इसके बावजूद ऐसे पति का अपमान करने वाली स्त्री यमपुरी जाती है। नारी अपनी सहज प्रकृति से ही "अपावन" है। इसके अलावा 'बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी" जैसी उक्तियाँ अनेक स्थलों पर आती हैं। पितृसत्तात्मक सामंती मूल्य-दृष्टि के तहत "तिरिया चरित्तर" की अवधारणा तुलसी की काव्यकृतियों में भी बद्धमूल होकर बार-बार उभरती है।

तुलसी की सामाजिक संरचना में सामंती राजतंत्र की विचार-दृष्टि का प्रतिफलन सर्वत्र दिखाई देता है। गरीबनेवाज, दीनदयालु, कृपानिधान, दलितों-वंचितों के शरणदाता के रूप में सर्वशक्तिमान प्रभु राम की कल्पना से यह स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी व्यवस्था तो सामंती राजतंत्र की ही सर्वश्रेष्ठ समझते थे, पर उस व्यवस्था में राजा के पद वे अपने आदर्शों के अनुकूल उदार राजा को अधिष्ठित करना चाहते थे। ऐसा राजा जो सत्य, शील और सौंदर्य की प्रतिमूर्ति हो, अन्यायी का दलन करने वाला वीर और पराक्रमी हो, निर्धन-निस्सहाय लोगों के लिए करुणा-निधान हो और कठिन जीवन संग्राम में अविचलित रहने वाला साधक हो। राजा-प्रजा संबंधों के मामले में प्रजावत्सल हो, शरणागत को अभयदान देता हो। राम राज्य की परिकल्पना में तुलसी के ये आदर्श निहित थे। लेकिन उस राम राज्य में भी वर्णाश्रम अपने अविकृत शुद्ध रूप में फिर से जीवित हो जाये - उनकी इसी आशावादी कल्पना की झलक मिलती है। राम राज्य के सामाजिक-राजनीतिक आदर्श के प्रतिलोम के रूप में लंका के राजा का राज्य है। विलासिता, ऐश्वर्य, मदांधता, अविवेक, अनैतिकता और निरंकुशता का प्रतिनिधित्व रावण करता है।

राम के प्रति दास्य भाव - सेवक भाव - वाली भक्ति राजा-प्रजा संबंधों के बारे में उनकी सामाजिक-राजनीतिक मान्यताओं का ही भावात्मक प्रतिरूप है।

अपने युग की समस्याओं के समाधान के लिए तुलसी ने राम कथा के आख्यान का जो पुनर्गठित पाठ तैयार किया उसमें कलियुग के प्रतिलोम के रूप में राम राज्य वस्तुतः एक 'मिथकीय यूटोपिया' है। यह यूटोपिया भारतीय सामंतवाद के अभ्युदयकालीन राजतंत्र का आदर्शीकरण करता है, लोक-विश्वासों और दंतकथाओं को नये संदर्भों में काल्पनिक स्वरूप प्रदान करता है, मृत अतीत का वर्तमान जटिलताओं में नये सिरे से आह्वान करता है और प्राचीन की स्वप्नमयी अतिरंजना करता है - चाहे वह निरी फैंटेसी ही क्यों न हो जाए।

13.4 तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना

मध्यकालीन भारतवर्ष में सामन्तवाद के पतन के साथ-साथ हिंदू धर्म में भी जकड़बंदी, सड़ांध, गतिरोध और दुर्निवार बुराइयों के लक्षण प्रकट हो रहे थे। पुरानी व्यवस्था के पंडितों ने वेद-वेदांत, पुराण, स्मृति और धर्मशास्त्र के नये-नये भाष्य प्रस्तुत कर मरणोन्मुख व्यवस्था को पुनर्जीवित करने और बचाने का प्रयास किया। जन्म, मुंडन, उपनयन, विवाह, श्राद्ध आदि जैसे संस्कारों के अवसर पर वैदिक मंत्रों के पाठ के साथ कर्मकांडीय विधानों की पुनः जोर-शोर से प्रतिष्ठा की गई। जाति प्रथा, वर्णाश्रम व्यवस्था, यज्ञ विधान आदि को नए सिरे से अनुमोदित करने के पीछे तुर्क, अफगान, मुगल, पठान आदि विदेशी आक्रमणकारियों और उनके धार्मिक-सामाजिक विचारों से रक्षा के प्रयासों ने वैदिक-पौराणिक संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठा की प्रवृत्ति को नये सिरे से मजबूत कर दिया। सामंती शासक वर्ग ने अपने हितों को धार्मिक जामे में पेश करना आवश्यक समझा और मुगल शासकों ने भी धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति से इस प्रवृत्ति को अपना समर्थन प्रदान किया। तुलसीदास की विचार-व्यवस्था और उनकी राजनीतिक चेतना उल्लिखित प्रवृत्ति के अनिवार्य अंग के रूप में विकसित हुई थी। कहना न होगा कि जनसाधारण पर ढाये जा रहे जुल्म, उनकी दुरवस्था, दरिद्रता तथा भूखे-नंगे लोगों की चीख-चीत्कार का वर्णन उन्होंने पूरी मार्मिकता और करुणा के साथ किया है। यहाँ तक कि महामारी, अकाल, गरीबी आदि की तत्कालीन वास्तविकता पूरी प्रखरता के साथ अंकित हो गई है। धार्मिक पाखंड, आडम्बर, झूठ, मक्कारी, अनैतिकता आदि का पर्दाफाश करने में भी गोस्वामी जी ने अपनी तरफ से कोई कसर नहीं छोड़ी है। पर अपने युग के सामाजिक-राजनीतिक संकट का हल प्रस्तुत करने में वे वैदिक-पौराणिक संस्कृति के ढाँचे से बाहर निकल ही नहीं पाते। उनके पास एक ही हल है - भक्ति, राम की भक्ति। उनका तर्क है कि राम गरीबनेवाज हैं, दीन दयालु हैं और शरणागत की रक्षा करने वाले भक्त-वत्सल और उद्धारक हैं। तुलसी वर्तमान यथार्थ के संकट का एक अतीतोन्मुख समाधान प्रस्तुत करने में राम कथा के सभी चरित्रों और उपाख्यानों का आदर्शीकरण करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास के संपूर्ण कृतित्व के अंदर इस असंगति से उत्पन्न द्वन्द्व और तनाव की गूँज-अनुगूंज सुनी जा सकती है।

तुलसी के राम की दृष्टि में सभी मनुष्य बराबर हैं। अपनी भक्ति के बल पर जात-कुजात, छोटा-बड़ा, अमीर-गरीब सभी बराबर हैं। भक्ति की भावभूमि से मानवीय समानता और एकता का आह्वान करने में तुलसी भक्तिकाल के किसी भी कृतिकार से पीछे नहीं हैं। पर वर्णाश्रम व्यवस्था की टूटन, जाति प्रथा के विनाश तथा श्रुति और स्मृति के अनादर से गोस्वामी तुलसीदास बहुत दुखी और संतप्त हैं। कलियुग की करालता के वर्णन में ऐसे प्रसंग बार-बार आते हैं। ब्राह्मणों के अनादर से भी वे बहुत परेशान और चिंतित हैं। वे जाति प्रथा के विनाशकारी परिणामों पर भी गौर नहीं करते। नाथों, सिद्धों और संतों की वे बार-बार खिल्ली उड़ाते हैं और ज्ञान मार्ग का खंडन करते हैं। भक्ति आंदोलन के मूल में अंतर्निहित विभिन्न दार्शनिक धाराओं के टकराव में वे तटस्थ नहीं हैं बल्कि खुल्लम-खुल्ला तौर पर गोरखनाथ, कबीर आदि पर फब्तियाँ कंसते हैं। विशिष्टाद्वैतवाद की प्रतिपत्तियों का अवलम्बन कर वे वेद-वेदांत, स्मृतियों और पुराणों की पुनर्रचित एक नयी विचार-व्यवस्था कायम करते हैं। इस विचार व्यवस्था में ज्ञान मार्ग का, संतों के रहस्यवाद का, जाति प्रथा को समूल नष्ट करने के आह्वान का, राम से भिन्न कृष्ण के स्वतंत्र व्यक्तित्व का पूरी तरह निषेध है। इस विचार-व्यवस्था में सिर्फ दास्य भाव की भक्ति है। इस भक्ति में नैतिकता मिली हुई है - इसीलिए सामाजिक उत्पीड़न के प्रति जागरूकता भी है। भक्त याचक है और भगवान राम दाता है। भक्ति का यह स्वरूप सामंती राजतंत्र के अंतर्गत निर्मित राजा-प्रजा संबंध का ही धार्मिक प्रतिबिम्ब है। "जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।।" राजतंत्र के ऐसे स्वरूप की यूटोपिया या अतिरंजित आदर्शीकरण का प्रयास रामराज्य की परिकल्पना में प्रतिफलित हुआ है।

अन्याय, उत्पीड़न, दुराचार, पाखंड और अनैतिकता के राज्य के रूप में कलियुग का वर्णन आता है और ठीक इसके विपरीत राम राज्य आता है, जहाँ न्याय है, शांति है और सर्वत्र सुख है। तुलसी का राज्यादर्श ऐसे शासक की कल्पना है जिसका कोई निजी स्वार्थ नहीं होता, त्याग ही जिसका आचरण है और लोकहित ही जिसका जीवन लक्ष्य है। इस राज्य में वर्णाश्रम के अंतर्गत सभी अपने-अपने कर्तव्य

का पालन करते हैं, पर ऊंच-नीच का भेद नहीं है। कोई निर्धन और दरिद्र नहीं है। पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण है। बादल समय पर जरूर बरसते हैं और सूर्य आवश्यकता के अनुरूप ही गर्मी देता है। शासन के पुण्य, धर्म और प्रताप से जनता सुखी और संतुष्ट है। परस्पर प्रीति है, कोई पीड़ा और अनाचार नहीं है। अल्पायु में मृत्यु नहीं होती और किसी को दैहिक, दैविक और भौतिक कष्ट नहीं होता। राजा इतना कम टैक्स ले कि किसी को पता न चले और उसके बदले में सुख-समृद्धि की वर्षा करे ताकि लोग कहें कि राजा दानी और प्रजापालक है। सूर्य के आचरण से हमें ऐसी ही शिक्षा लेनी चाहिए। सूर्य थोड़ा-थोड़ा करके पानी सोखता है पर वर्षाकाल में वही पानी जब बरसता है तो सब हर्षित हो जाते हैं-

बरषत, हरषत, लोग सब, करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा सुभाग तें, भूप भानु सो होई।।

निर्भय और हृदयहीन संसार में तुलसी के राम राज्य की यह परिकल्पना उत्पीड़ित जनसाधारण के लिए असंदिग्ध रूप से चिरकाम्य आश्रय-स्थल बनी हुई है। तुलसी की लोकप्रियता और जनमन में राम के प्रति भक्ति और अनुराग का रहस्य भी यही है। चूंकि किसी भी शासक ने वास्तविक रूप में राम राज्य के कल्पित सुख को चरितार्थ नहीं किया है, अतः तुलसी के रामचरितमानस और उनके संपूर्ण कृतित्व को दरिद्र और वंचित जनसाधारण ने एक थाती के रूप में अपने सीने से लगा रखा है। इसी संदर्भ में गोस्वामी जी की उक्तियाँ सदियों से हृदयहीन विश्व का हृदय और काल्पनिक सुख की अनंत निधि बनी हुई हैं।

13.5 सारांश

इस इकाई में हमने तुलसीदास के काव्य में तत्कालीन समाज का अध्ययन किया है। तुलसीकालीन युग राजनैतिक स्थिरता का युग था। मुगल सल्तनत अपनी मजबूती और उठान पर थी। साहित्यिक - सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह रचनात्मक युग था - अबुल फजल, रहीम, रामदास, दादूदयाल अपने-अपने क्षेत्रों में साहित्य की रचना कर रहे थे। परंतु समाज परंपरागत रूढ़ियों में जकड़ा हुआ था। कोई वैज्ञानिक खोज नहीं हो रही थी। बौद्धिक परिवेश संकीर्ण था। इसी युग में तुलसी का जन्म हुआ था। तुलसी ने "कवितावली" में समकालीन समाज का यथार्थ और कटु चित्रण किया है। परंतु अपने संपूर्ण दृष्टिकोण में तुलसी परंपरा का ही निर्वाह करते प्रतीत होते हैं। जाति-प्रथा, स्त्री-समाज और राजतंत्र के बारे में उनकी सोच आज की प्रगतिशील सोच से मेल नहीं खाती।

13.6 अभ्यास/प्रश्न

(1) कवितावली में तुलसीदास ने अपने समकालीन समाज का वर्णन किस प्रकार किया है?
(2) तुलसीदास की विचारधारा का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 14 एक कवि के रूप में तुलसीदास

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 कविता के बारे में तुलसीदास के विचार
14.3 मर्मस्पर्शी जीवन प्रसंगों का चित्रण
14.4 तुलसी के काव्य में चित्रित विस्तृत जीवन फलक
14.5 तुलसी की काव्य कला
  14.5.1 काव्य भाषा
  14.5.2 छंद और संगीत
  14.5.3 काव्य का रूप विधान
  14.5.4 रामचरितमानस का रूप विधान
14.6 सारांश
14.7 अभ्यास/प्रश्न

14.0 उद्देश्य

तुलसीदास पर यह दूसरी इकाई है। पहली इकाई में आप तुलसी कालीन समाज, तुलसी की विचारधारा और तुलसी की राजनीतिक चेतना और राम राज्य की परिकल्पना जैसे विषयों का अध्ययन कर चुके हैं। इस इकाई में हम तुलसी की कविता का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप:

- कविता के बारे में तुलसीदास के विचारों से अवगत हो सकेंगे,
- तुलसी के काव्य में चित्रित विस्तृत जीवन फलक का अवलोकन कर सकेंगे,
- उनके काव्य में जीवन की विभिन्न और महत्वपूर्ण स्थितियों के चित्रण को रेखांकित कर सकेंगे ; और
- उनकी काव्य कला का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

तुलसीदास लोक कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता जनभाषा (ब्रज, अवधी) में लिखी है। उनकी कविता में जीवन के अनेक प्रसंगों का विस्तृत और सूक्ष्म अंकन हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रामचरितमानस में अनेक मर्मस्पर्शी स्थलों का उल्लेख किया है। धनुषभंग होने पर परशुराम का आगमन और परशुराम-लक्ष्मण संवाद कवि की मौलिक कल्पना और सूझबूझ का प्रमाण है। इसी प्रकार के कई मार्मिक प्रसंग रामचरितमानास में भरे पड़े हैं। "वैराग्य संदीपनी" से लेकर 'हनुमान बाहुक' तक रचयिता के रूप में तुलसी एक से नहीं। उनकी काव्य-यात्रा में अनेक पड़ाव हैं, अनेक रंग हैं, अनेक छवियाँ हैं। तुलसीदास जनता के कवि हैं। उन्होंने दरबारी रचनाकारों और पतनशील सांस्कृतिक धारा का अनुसरण न कर भाषा-काव्य को समृद्ध किया है। उनकी कविताओं में ब्रज, अवधी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी के साथ-साथ अरबी और फारसी के शब्दों का भी सृजनात्मक प्रयोग हुआ है। इसके कारण उनकी कविता जन-जन में लोकप्रिय हुई। इन्हीं पक्षों पर इस इकाई में विस्तार से विचार किया गया है और एक कवि के रूप में तुलसीदास की सफलताओं और असफलताओं को पहचानने की कोशिश की गई है।

14.2 कविता के बारे में तुलसीदास के विचार

तुलसीदास जन कवि थे। उन्होंने जनभाषा में कविताएँ लिखी हैं। संस्कृत जैसी देवभाषा और फारसी जैसी राजभाषा का उपयोग न कर अवध और ब्रज प्रदेश के ग्रामीण जनों की बोलियों में अपनी कविता

लिखने का उन्होंने निश्चय किया था। इसलिए प्रबुद्ध पंडित और ज्ञानी समाज से माफी माँगते हुए, क्षमा प्रार्थना करते हुए और अपनी सच्ची विनम्रता के साथ कहते हैं कि उनकी काव्यकृति में "जदपि कबित रस एकउ नाहीं", और वह "भनिति भदेस" अर्थात् एक गँवार की काव्य वाणी है। पर इसके बावजूद उनकी कविता गंगा नदी की पवित्र जलधारा के समान टेढ़ी-मेढ़ी चाल से हरहरा कर बह रही है -"गति कूर कविता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की" (रामचरितमानस, बालकांड, पद संख्या 10)। यद्यपि उनकी "गिरा ग्राम्य" है (गँवारू भाषा), पर उसकी सुंदरता "मनि मानिक मुकुता छवि जैसी" है। भारतीय इतिहास के मध्ययुग तक जन-साधारण के दुःख दर्द, यथार्थ और संघर्ष का काव्य-विषय बनाने की परंपरा शुरू नहीं हुई थी। अतः तुलसीदास प्राकृत जनों के गुनगान अंकित नहीं करते, क्योंकि इससे तो सरस्वती पछताने लगती कि इस कवि की वाणी में साक्षात् मैं क्यों प्रगट हुई। पर श्रेष्ठ विचारों और आदर्श नायक रामचंद्र के चरित्र की कथाओं से मुक्तामणि के समान कविता लिखने का उनका प्रयत्न है।

गोस्वामी जी रामचरितमानस में अपने चरितनायक के आख्यान का आरंभ करने से पहले अपने मन को भरोसा देते हैं कि वाल्मीकि, व्यास तथा प्राकृत कवियों ने जो काव्य-परंमरा बनायी है, उसकी सहायता से वे काव्य रचना कर लेंगे -

चरन कमल बंदउं तिन्ह केरे। पुरवहुँ सकल मनोरथ मेरे।।
कलि के कबिन्ह करउं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा।।
जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषां जिन्ह हरि चरित बखाने।।
भए जे अहहिं जे होइहहिं आगे। प्रनवउं सबहि कपट सब त्यागें।।
होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू।।
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं।।
कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।।
राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अदेसा।।
तुम्हरी कृपाँ सुलभ सोउ मोरे। सिअनि सुहावनि टाट पटोरे।।
सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।।
सहज बयर बिसराइ रिप जो सुनि करहिं बखान।।
सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति बल अति थोर।।
करहु कृपा हरि जस कहउं पुनि पुनि करउं निहोर।।

अर्थात् मैं उन सब श्रेष्ठ कवियों के चरण-कमलों में अपनी वंदना अर्पित करता हूँ, वे मेरे सभी मनोरथों (काव्य रचना के संकल्प) को पूरा करें। कलियुग के उन कवियों को भी मैं प्रणाम करता हूँ जिन्होंने रघुपति की गुणगाथा का वर्णन किया है। जो बड़े बुद्धिमान प्राकृत (भाषाओं के) कवि हैं, जिन्होंने जनभाषाओं में हरिचरित्र का बखान किया है, जो ऐसे पूर्ववर्ती कवि हैं और भविष्य में होंगे, उन सबको निष्कपट भाव से मैं प्रणाम करता हूँ। आप सब मुझे वरदान दीजिए कि सज्जनों (साधु) के समाज में मेरी कविता का सम्मान हो क्योंकि बुद्धिमान लोग जिस कविता का आदर नहीं करते, उस कविता की रचना का व्यर्थ परिश्रम मूर्ख या बालबुद्धि रचनाकार ही करता है। कीर्ति, कविता और विभूति (अथवा संपत्ति) वही उत्तम है जो गंगा नदी के समान सबका हित करने वाली हो। राम की कीर्ति तो सुंदर है, पर मेरी कविता गँवारू भाषा में है (अथवा भद्दी है)। मेरी यही चिंता है, मेरा यह असमंजस है। परन्तु हे कवियो! आपकी कृपा से मेरी यह चिंता भी दूर हो जाएगी, इस असमंजस का हल भी निकल जाएगा क्योंकि रेशम की सिलाई टाट पर भी सुहावनी लगने लगती है। सुजान लोग उसी कविता का आदर करते हैं जो सरल हो, जिसमें निर्मल चरित्र का वर्णन हो तथा जिसे सुनकर शत्रु भी अत्यंत सहजता से वैर भूलकर सराहना करने लगते हैं। पर ऐसी कविता निर्मल बुद्धि के बिना रची ही नहीं जा सकती - दिक्कत यह है कि मेरी बुद्धि का बल बहुत ही थोड़ा है। इसलिए बार-बार निहोरा करता हूँ कि हे कवियो! आप कृपा करें जिससे मैं राम की महिमा (हरि यश) का वर्णन कर सकूँ।

प्रबुद्ध समाज में तुलसी अपनी कविता का आदर चाहते हैं। "जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं" जैसी उक्ति से स्पष्ट है कि बुद्धिमानों की बुद्धिमता को वे पैरों की जूती नहीं समझते। काव्य धार्मिक

पूजा-आराधना, श्रद्धा-विश्वास के कर्मकांड की पूर्ति के लिए मंदिर निर्माण नहीं है - गंगा नदी के समान सबका हित करने वाली भावधारा है। कविता के संबंध में तुलसी के इन विचारों पर ध्यान देना आवश्यक है। रामचरितमानस रूपी सरोवर के अवगाहन के लिए वे "कबि कोबिद" को आमंत्रित करते हैं और उन्हें "मानस मंजु मराल" की संज्ञा देते हैं अर्थात् विवेक और बुद्धिमत्ता के प्रतीक के रूप में हंस का स्वागत करते हैं - बुद्धिवाद के जूते को बाहर ही उतार देने का निर्देश नहीं देते। डॉ. लल्लन राय ने ठीक ही कहा है कि "तुलसी ने काव्य के संबंध में अपने लिए जो प्रतिमान निर्धारित किए थे उसमें समाजनिष्ठता सर्वोपरि है।" (तुलसी की साहित्य साधना, पृ. 39)।

काव्य के स्वरूप और लक्षण को परिभाषित करते हुए गोस्वामी जी रामचरितमानस के पहले श्लोक में ही कहते हैं -

वर्णनामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।।

मंगलाचरण के अंतर्गत ही भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा से प्राप्त काव्यादर्श को स्वीकार करते हुए वे रस और छंद को काव्य के अनिवार्य उपादान के रूप में परिगणित करते हैं। पर इन उपादानों की सार्थकता तभी है जब मंगल भी हो, लोक-कल्याण की भावना भी हो। वस्तुत: यह लोकमंगल ही उनकी दृष्टि में काव्य का प्रयोजन है।

पर इस लोकमंगल के प्रयोजन को कविता के माध्यम से तभी चरितार्थ या उपलब्ध किया जा सकता है जब श्रेष्ठ विचारों की मूसलाधार वर्षा हो - "जौं बरषइ बर बारि बिचारू"। रूपक के माध्यम से काव्य की सृजन प्रकिया को तुलसी स्पष्ट करते हैं और इस कम में अपने काव्यदर्श को सटीक ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं। यह रूपक इस प्रकार है -

हृदय सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।।
जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुता मनि चारू।।

कवि हृदय रूपी सिंधु में ही कविता रूपी श्रेष्ठ मोती की उत्पत्ति होती है। पर इसके लिए पूर्व शर्त यह है कि श्रेष्ठ विचार रूपी जल की वर्षा हो। उपर्युक्त पद की सांकेतिक व्यंजनाओं पर अगर ठीक से ध्यान दें तो स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी कवि के हृदय की विशालता, उदारता और विपुलता आवश्यक मानते हैं - और सामाजिक जीवन के प्रेक्षणों से प्राप्त नैतिक आदर्शों और विवेकपूर्ण विचारों की धाराप्रवाह दृष्टि भी आवश्यक मानते हैं अन्यथा मति रूपी सीप में मोती की सृष्टि नहीं हो सकती।

14.3 मर्मस्पर्शी जीवन प्रसंगों का चित्रण

आप इस बात से परिचित होंगे कि हिंदी समालोचना में तुलसी साहित्य के विवेचन के संदर्भ में "मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान" का प्रश्न प्रबंधकार कवि की भावुकता और कलात्मक सामर्थ्य की निर्णायक कसौटी के रूप में मान्य रहा है। तुलसीदास पर आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित जो निबंध 'त्रिवेणी" में संकलित है, उसका प्रस्थान बिंदु इस कसौटी का सूत्रीकरण करता है-

"प्रबंधकार कवि की भावुकता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सका है या नहीं। रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यंत मर्मस्पर्शी हैं - राम का अयोध्या त्याग और पथिक के रूप में वनगमन, चित्रकूट में राम और भरत का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा। इन स्थलों को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह पहचाना है, इनका उन्होंने अधिक विस्तृत और विशद वर्णन किया है।"

(त्रिवेणी, पृ. 114)

कथा विन्यास के अंतर्गत धनुष-भंग होने पर परशुराम की आकस्मिक उपस्थिति और राम-लक्ष्मण से उनके संवाद में एक मनोरंजक नाटकीय स्थिति की कल्पना में निःसंदेह एक मौलिक सूझबूझ है। धनुष टूट चुका है। चारों तरफ आनन्द और हर्ष है। सखियाँ मंगलाचार के गीत शुरू कर देती हैं। सीता ने राम के गले में जयमाला पहना दी। सहसा कोलाहल सुनकर सीता सशंकित हुई - परशुराम प्रगट हुए - भृकुटि कुटिल, नयन क्रोध से लाल, वृषभ के समान कंधे, विशाल छाती और भुजाएँ, सुंदर यज्ञोपवीत, माला, मृगचर्म, वल्कल, तरकस, धनुष-बाण और कंधे पर फरसा। पूछते हैं - कहु जड़ जनक धनुष के तोरा? राम कहते हैं आपके दास ने तोड़ा। परशुराम कहते हैं - सहस बान सम सो रिपु मोरा। लक्ष्मा थोड़ा मुस्कुराये और बोले-

बहु धनुहीं तोरीं लरिकाई। कबहुं न असि रिस कीन्हि गोसाई।।
एहि धनु पर ममता केहि हेतु। सुनि रिसाइ कह भृगकुल केतु।।

भृगुवंश की ध्वजा के समान अपनी प्रचंड क्रोधाग्नि लहराते हुए परशुराम बोले - अरे मूर्ख तू मुझे निरा मुनि समझता है। मैं तो क्षत्रिय कुल द्रोही के रूप में विश्वविदित हूँ - मेरे फरसे को देख। यह गर्भ के बच्चे का भी नाश करने वाला है। तुलसीदास द्वारा इस मुठभेड़ के क्षण में लक्ष्मण की प्रतिक्रिया का अंकन आपको अवश्य ही मनोरंजक प्रतीत होगा -

पुनि पुनि मोहि देखाव कुठारू। चहत उड़ावन फूंकि पहारू।।
इहां कुम्हड़ बतिया कोउ नाहीं। जे तरजनि देखि मरि जाहीं।।

लक्ष्मण के उत्तर परशुराम की क्रोधाग्नि के लिए आहुति के समान थे। परशुराम लक्ष्मण को तुरंत अपने फरसे से काटकर यमपुरी भेजने की धमकी देते हैं। इसी बीच राम हस्तक्षेप करते हैं और अपने अलौकिक अतिप्राकृतिक चमत्कारी करतब से परशुराम को शांत कर देते हैं। परशुराम कहते हैं -

अनुचित बहुत कहेउं अग्याता। छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता।।

कथा-श्रोता और रामलीला के दर्शक के लिए सारा सस्पेंस, सारा औत्सुक्य और कुतूहल अस्वाभाविक ढंग से खत्म हो जाता है। इस दृश्य चित्रण पर आपकी प्रतिक्रिया क्या है? क्या आप यह महसूस नहीं करते कि कंट्रास्ट उपस्थित करने में, द्वन्द्व और नाटकीयता उत्पन्न करने में तुलसी की कला महान है, पर उसकी सृजनात्मक संभावना उनके विचार दर्शन के कारण अपनी पूर्ण परिणति तक पहुँचने के पहले ही कुंठित हो जाती है? कवितावली के बालकांड में भी यही स्थिति है।

जहाँ तक राम के वनवास का कथा प्रसंग है, "तुलसी की भावुकता" शीर्षक निबंध में आचार्य शुक्ल द्वारा प्रस्तुत विशद विवेचन को आपने अवश्य ही पढ़ा होगा। कुछ याद कीजिए उन्होंने क्या-क्या कहा है। "अत्यंत सहृदयता से वर्णन", वनगमन के "दृश्य वर्णन में कुछ उठान दीखता", राम के वियोग में अयोध्या की विषादमग्नता का चित्रण - आचार्य शुक्ल द्वारा दिये गये इन सूत्रों के सहारे इस दृश्य-खंड के मार्मिक और हृदयस्पर्शी चित्रण पर संभवतः आप भी उतने ही मग्न होंगे।

राम के वनगमन के पहले दशरथ-कैकयी संवाद में अंतःपुर के दृश्य के अंतर्गत छल और निश्छलता, कपट और सत्य, प्रेम और द्वेष की द्वन्द्वभरी भावनाओं के संघर्ष को भी ध्यान से पढ़ना चाहिए। कैकेयी की कटु-कर्कशा और कुतर्की संवाद-भाषा प्रस्तुत करने में गोस्वामी जी को कोई हरा नहीं सकता। जनसाधारण की बातचीत में आपने नोट किया होगा कि लोग "रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाइ बरू बचनु न जाई।।" जैसी पंक्ति का लोकोक्ति की तरह अपने जीवन-व्यवहार में इस्तेमाल करते हैं। दरअसल यह कैकेई की उक्ति है जिसे उसने दशरथ को परास्त करने के लिए एक आदर्श मानदंड के रूप में पेश किया है। जब कैकेयी ने भरत के लिए राजसिंहासन और राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास मांगा तो राजा विवर्ण हो गए मानो बिजली ताड़व बरबस टूट गिरी हो -

बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ [illegible]रू तालू।।

ऐसे मनःसंताप के उद्विग्न क्षण में आपने कैकेयी की टिप्पणी अवश्य ही सुनी होगी - क्या भरत आपका पुत्र नहीं है? क्या मुझे आप बाजार से खरीदी औरत की तरह ले आये हैं? आपने वर देने के लिए कहा था। आप क्या समझ बैठे थे कि मैं वर के रूप में चबेना माँगूगी? दशरथ को प्रचंड क्रोध से जलती हुई कैकेयी ऐसी प्रतीत हुई मानो क्रोध रूपी तलवार म्यान से बाहर आ गई हो - कुबुद्धि उस तलवार की मूठ है, निष्ठुरता धार है और मंथरा रूपी सान पर रगड़ कर तेज की गई है - "लखी महीप कराल कठोरा।'' राजा हार जाते हैं और राम के वनवास का आदेश होता है। कौशल्या जब यह सुनती हैं तो इस भंयकर आघात के मारे सन्न रह जाती हैं।

राम, सीता और लक्ष्मण सहित अयोध्या से विदा हो जाते हैं। इस दृश्य का वर्णन तुलसी ने इस प्रकार किया है -

लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अंधियारी।।
घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी।।

अगर आप रामचरितमानस और कवितावली - दोनों के वनगमन दृश्य को मिलाकर पढ़ें तो कवितावली के अनेक पद आपको काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सुंदर प्रतीत होंगे। उदाहरण के लिए कवितावली के ये पद -

फीर के कागर ज्यों नृप चीर, बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।
औध तजी मगबास के रूख ज्यों, पंथ के साथ ज्यों लोग लोगाई।।
संग सुबंधु, पुनीत प्रिया, मनो धर्म क्रिया धरि देह सुहाई।
राजिव लोचन रामु चले तजि बाप को राजु बहाउ की नाई।।
कागर कीर ज्यों भूषन-चीर सरीख लस्यो तजि नीरू ज्यों काई।।
मातु-पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभायँ सनेह सगाई।।
संग सुभामिनि, भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन रामु चले तजि बाप को राजु बटाउ की नाई।।

एक अदना से बटोही की नाईं राम अवध से विदा लेकर चल पड़े। राजवस्त्र और आभूषण तोते के जीर्ण पड़े पंखों के समान त्याग कर राम वैसे ही स्वाभाविक सौंदर्य से सुशोभित हो उठे जैसे काई हटने पर स्वच्छ जल। इस वर्णन को आप किस प्रकार विवेचित करेंगे? यही न कि लोकसामान्य भावभूमि पर साधारण मनुष्य के रूप में चित्रण किया जा रहा है?

आप जानना चाहेंगे कि राम के वनवास पर जनसाधारण खासकर ग्रामीण जनों की क्या प्रतिक्रिया होती है? संपूर्ण रामचरितमानस में ऐसे मर्मस्पर्शी कथा प्रसंगों के अवसर पर सीधे-सादे गाँव के लोगों की प्रतिक्रियाओं का बड़ा भाव विह्वल चित्रण किया गया है-

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई।।
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाजु बिसारी।।

निरीह विपन्न ग्रामीण लोग सहृदय और उदार हैं। उनके पास जो भी है, उसे लेकर सत्कार करते हैं। स्त्रियाँ सीता की आवभगत करती हैं, परिचय प्राप्त करती हैं। राम का परिचय देने में सीता को कठिनाई है। तुलसी ने बड़ी सहजता से वर्णन किया है-

खंजन मंजु तिरीछे नयनि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि।
भई मुदित सब ग्राम बधूटी। रंकन्ह राय रासि जनु लूटी।।

खंजन पक्षी के समान अपने नयनों को जरा तिरछा करके सीता ने इशारे से बताया कि ये मेरे पति हैं। ग्राम वधूटियाँ परम आनंदित हुईं मानो कंगालों को लूट के रूप में अपार धनराशि प्राप्त हो गई हो।

वनवास, पर्णकुटी, कंदमूल फूल और साधनहीन वन्य जीवन। ऐसे वर्णनों के बीच आपको तुलसी की संवेदनाओं का विस्तार दिखाई पड़ेगा।

लेकिन उधर भरत और कैकेयी के संवाद में गोस्वामी जी अपनी महान कलात्मक प्रतिभा का परिचय देते हैं। सब लोग मानो इस संवाद की प्रतीक्षा में हैं। खास तौर पर यह जानने के लिए कि देखें भरत क्या कहते हैं। तब तक भरत को कुछ भी पता नहीं है। ममहर से लौट कर आते हैं। पिता की मृत्यु, स्वयं को राजगद्दी और राम को वनवास की सारी कहानी उन्हें बतायी जाती है। कुतूहल, उत्कंठा और बेचैनी के साथ भरत की प्रति क्रिया जानने की बेसब्री है।

कैकेयी भरत से कहती है जो होना था हो गया, अब जी भरकर समाज सहित नगर का राज्य संभालो। भरत को ऐसा लगा मानो घाव पर किसी ने जलता हुआ अंगार डाल दिया। लम्बी साँस लेते हुए उन्होंने कहा –

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ। खंड खंड होई हृदय न गयऊ।।
बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा।।

भरत के निश्छल, सत्यव्रती और पवित्र हृदय के ज्ञान, विवेक और स्वच्छ विचार को दर्शाने के लिए तुलसी भरत के मुँह से शापवाणी की वर्षा करवा रहे हैं। एक सामान्य आदमी दुष्टा स्त्री को जैसी गाली देता है, उसी तरह। भरत के चरित्र की उज्ज्वलता दर्शाकर तुलसी संयुक्त परिवार के अंदर भाईचारे का भावोत्कर्ष दिखलाते हैं। माता की कुटिलता से शत्रुघ्न भी इतने पीड़ित हैं। ज्यों ही मंथरा आती है शत्रुघ्न उसकी कूबड़ पर लातों से आघात करते हैं।

इसके बाद चित्रकूट में राम और भरत का मिलाप होता है। इस घटनावृत्त की कुंजी बतलाते हुए आचार्य शुक्ल ठीक ही कहते हैं कि यह "शील और शील का, स्नेह और स्नेह का, नीति और नीति का मिलन है।" (त्रिवेणी, पृ. 116)। ज्यों ही लक्ष्मण ने बताया कि भरत मिलने आ पहुंचे हैं और प्रणाम कर रहे हैं – राम प्रेमपुलकित और अधीर होकर उठ खड़े – कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तरकस, कहीं धनुष और कहीं बाण –

उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।।

सीता हरण के बाद राम के वियोग दग्ध हृदय की व्याकुलता के वर्णन में भी गोस्वामी जी ने अपनी महान कलात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। इससे बढ़कर और क्या मार्मिक आघात हो सकता है। लता, पल्लव, विटप, खग, मृग, मधुकर श्रेणी से राम पूछते हैं क्या तुम लोगों ने मेरी सीता मृगनयनी को कहीं देखा है। 'अरण्य कांड' में इस दृश्य की मार्मिकता को तुलसी बहुत सँभाल नहीं पाते हैं। नारद से संवाद के बाद इस वृत्तान्त पर वही मायावादी टिप्पणी जड़ दी जाती है – युवती स्त्रियों का शरीर दीपक की लौ के समान है। हे मन तू उसका पतंगा न बन –

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।

इसके बाद लंका कांड का युद्ध वर्णन है। कल्पना प्रसूत इस कथाबंध में आहत लक्ष्मण की बेहोशी के वक्त राम की व्याकुलता का वर्णन हृदय स्पर्शी है। इसके बाद रणभूमि में विरथ रघुवीर से विभीषण का प्रश्न है कि शत्रु तो बलवान है और रथ पर सवार है। भला आप युद्ध कैसे जीतेंगे। रणभूमि में इस शंका के समाधान के लिए धर्मरथ का रूपक खींच कर राम विभीषण को आश्वासन देते हैं। धर्मरथ का रूपक तुलसी के विचार दर्शन को मूर्त रूप प्रदान करता है:-

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा।।
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बंदि चरन कह सहित सनेहा।।
नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना।।
सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे।।
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरतिवर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा।।
अचल अमल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना।।
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।।

अर्थात् इस धर्मरथ में शौर्य और धैर्य पहिये हैं, सत्य और शील दृढ़ ध्वजा-पताका हैं, बल, विवेक, दम और परोपकार - ये चार घोड़े हैं जो क्षमा, दया और समता की रस्सियों से रथ को जोड़े हुए हैं, ईश्वर-भजन सारथी है, वैराग्य और संतोष ढाल-तलवार हैं। दान फरसा है, बुद्धि प्रचंड शक्ति है, श्रेष्ठ विज्ञान कठिन धनुष है। निर्मल और अचल मन तरकस के समान है। शम, यम और नियम बाणों के समान हैं। ब्राह्मण और गुरू का पूजन अभेद्य कवच है। इस धर्मरथ के अलावा और किसी उपाय से युद्ध जीता नहीं जा सकता। हे सखा विभीषण! ऐसा धर्ममय रथ जिसके पास हो उसे कोई भी दुश्मन हरा नहीं सकता।

अन्यायी और कपटी शत्रु से युद्ध के लिए ऐसे धर्मरथ का रूपक खड़ा कर तुलसी फिर उसी अलौकिक अति प्राकृतिक चमत्कार का सृजन करते हैं जो वास्तविक चुनौतियों के विरूद्ध तैयारी की भावना को व्यर्थ कर देता है। आपको यह शंका अवश्य होगी कि लौकिक और अलौकिक के मिश्रण से रागात्मक संवेदना का ऐसा तनाव महाकाव्यकार क्यों उत्पन्न करता है? आध्यात्मिक-धार्मिक तात्पर्यों से रचित रूपकों की भरमार तुलसी में क्यों है? ऐसे प्रश्नों के उत्तर देते वक्त कुछ समीक्षक मध्यकालीन समाज के अंतर्विरोध की व्याख्या का ऐसा सांचा (हिंदू-मुस्लिम संघर्ष) प्रस्तुत करते हैं जिससे एक रचनाकार के नाते तुलसी की सामाजिक सौंदर्य-संवेदना का वस्तुगत तरीके से स्पष्टीकरण नहीं हो पाता है। एक रचनाकार के नाते तुलसी के मध्यकालीन बोध की यह सीमा भी थी और असंगति भी। बाल कांड में अवतारवादी जीवन-दर्शन के अंतर्गत धर्म की हानि और असुरों के अत्याचार से पृथ्वी की रक्षा के लिए परब्रह्म परमेश्वर के अवतार की कथा आती है। रावण को यह वरदान प्राप्त था कि उसकी मृत्यु मनुष्य के हाथों होगी। अतः नर-रूप में राम ने रघुकुल में जन्म लिया। धर्म की रक्षा, असुर समूह का विनाश और रावण का संहार दिखलाकर रामचरित को उत्कर्ष बिंदु तक पहुँचाने का क्रम पूरा हुआ। लंका कांड के अंत में इस प्रचंड युद्धलीला के दृश्य चित्रण के क्रम में गोस्वामी जी कुतूहलवर्द्धक अपशकुन संबंधी अंधविश्वासों की भी चर्चा करते हैं। अंत में कानों तक धनुष को खींचकर राम ने इकतीस बाण छोड़े - ऐसे बाण जो कालसर्प के समान थे - "रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस।" एक बाण ने रावण की नाभि के अमृतकुंड को सोख लिया, अन्य तीस बाणों से सिर एवं भुजाओं सहित उसका धड़ पृथ्वी पर नाचने लगा - "सिर भुजहीन रूंड महि नाचा।" धड़ प्रचंड वेग से दौड़ता है। फिर राम ने एक बाण मारकर उसके दो टुकड़े कर दिए। मरते-मरते रावण की गर्जना सुनाई पड़ी -

गर्जेउ मरत घोर रव भारी। कहाँ रामु रन हतौं पचारी।।
डोली भूमि गिरत दसकंधर। छुभित सिंधु सरि दिग्गज भूधर।।
धरनि परेउ द्वौ खंड बढ़ाई। चापि भालि मर्कट समुदाई।।
मंदोदरि आगें भुज सीसा। धरि सर चले जहाँ जगदीसा।।
प्रबिसे सब निषंग महँ जाई। देखि सुरन्ह दुंदुभीं बजाई।।

रावण के गिरते ही पृथ्वी काँप उठी और राम के बाण रावण की भुजाओं समेत उसके रूंडमुंड को मंदोदरी के सामने रखकर फिर राम के तरकस में लौट कर समा गए। और अंत में राम का तेज प्रभु राम के मुख में समा गया - "तासु तेज समान प्रभु आनन।"

अवतारी मर्यादा पुरूषोत्तम की यह पराक्रमी नरलीला अलौकिक शक्ति से परिपूर्ण है और युद्धभूमि में अतिप्राकृतिक चमत्कारों से सबको अभिभूत कर लेती है। सत्य की विजय होगी - नरोत्तम राम की ही विजय होगी - सब कुछ पहले से निश्चित है। मध्यकालीन बोध की यही सीमा है। पौराणिक आख्यान परंपरा से तुलसी कोई प्रश्न नहीं पूछते, उसकी तार्किक आलोचना भी नहीं करते बल्कि उसे लोकविश्वास का हिस्सा बनाने में अपनी नयी भूमिका जोड़कर और भी प्रगाढ़ता प्रदान करते हैं। इस सवाल पर हो रही साहित्यिक बहस को जानने के लिए डॉ. रमेश कुन्तल की पुस्तक "तुलसी : आधुनिक वातायन से" अवश्य पढ़ें। उनकी मान्यता है "मिथकीय रामवृत्त के चरित्र अलौकिक और लौकिक दोनों शील धारण करते प्रतीत होते हैं। इसीलिए वे वाल्मीकि के नर-नरोत्तम राम न होकर नारायण (सगुण परब्रह्म) हो जाते हैं। अत: जिस तरह वाल्मीकि ने "रामायण" के पात्रों की वैदिक-अर्द्ध-पौराणिक व्याख्याएँ की हैं, उसी तरह तुलसी ने राम के मिथक प्रतीक (राम, रामवृत्त के पात्र, रामचरित) की "तत्कालीन एक पूर्ण वैष्णव व्याख्या" पेश की है।" (वही, पृ. 160)

आख्यान के सिर्फ हृदय विदारक घटना-प्रसंगों को चुनने की समस्या नहीं है। ऐसे प्रसंगों के चयन के पीछे अनिवार्य रूप में अंतर्निहित विचार-दृष्टि, युगबोध, लोकहृदय की मर्मज्ञता और ऐतिहासिक प्रेरणाओं के उपादान समवेत रूप में काव्य-विवेक का निर्माण करते हैं। मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान और उनके कलात्मक चित्रण का प्रश्न मूलत: काव्य-विवेक की विवेचना की मांग करता है।

आपके मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि तुलसी से संबंधित समालोचनाओं में "मर्मस्पर्शी स्थलों की पहचान" वाली यह कसौटी किस सीमा तक चर्चा का विषय रही है? तुलसी साहित्य के अधिकांश मर्मज्ञों ने इसी कसौटी को अपनी साहित्यिक विवेचना का आधार बनाया है। जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, आचार्य रामचंद्र शुक्ल "त्रिवेणी" के ऊपर उद्धृत अनुच्छेद में ऐसे पाँच मर्मस्पर्शी स्थल बताए गए हैं।

वाल्मीकि, भवभूति आदि द्वारा वर्णित रामकथा में सीता के निर्वासन का प्रसंग गोस्वामी तुलसीदास ने न तो "रामचरितमानस" में लिया, न "बरवै रामायण" में और न "कवितावली" में। वाल्मीकि ने जितनी गहरी मार्मिकता और करुणा के साथ सीता के निर्वासन और वनवास का चित्रण किया है, उसके आगे राम का वनगमन एकदम बेजान और फीका लगता है। रामविलास शर्मा ने "आदिकाव्य" नामक निबंध में इस प्रश्न पर बेबाक टिप्पणी की है। "राम के साथ लक्ष्मण और सीता भी गए थे और इनके साथ रहने से राम को अयोध्या की याद बहुत न आती थी। लेकिन गर्भिणी सीता को धोखा देकर उनका वन में त्याग करना ऐसी हृदय विदारक घटना है जिससे राम के वनवास की तुलना की ही नहीं जा सकती। रामायण की इसी घटना को लेकर उत्तर रामचरित और कुन्दमाला जैसे महानाटकों की रचना की गई है। लेकिन सीता के त्याग में जिस क्रूरता का आभास आदिकवि ने दिया है, परवर्ती कवि उसे छू नहीं सके। गोमती के किनारे दुख से बेहोश होकर सीता के गिर पड़ने में जो स्वाभाविकता है, परवर्ती कवि अपने अलंकृत वर्णनों में उसे नहीं पा सके। सीता एक वीर नारी है।" (भाषा, युगबोध और कविता, पृ. 23-24)

आखिर तुलसी-साहित्य के मर्मज्ञों ने रामचरितमानस में कथा के पुनर्विन्यास के इस पक्ष पर विचार क्यों नहीं किया? इसके पीछे गोस्वामी जी की विचार दृष्टि क्या थी? क्या स्त्री को बार-बार अज्ञ, "सकल कपट अवगुन खानी" और ताड़न की अधिकारिणी मानने वाली दृष्टि ही इस काट-छाँट के लिए जिम्मेदार नहीं थी? इन शंकाओं के संबंध में अनेक विद्वानों द्वारा यह समाधान सुझाया गया है कि चूंकि तुलसीदास राम का वर्णन एक अवतारी पुरुष के रूप में करना चाहते थे, अत: लंका में विजय और रावण के संहार के साथ उनके चरित्र का उत्कर्ष राम-राज्य की स्थापना में दिखाकर उन्होंने अपने युग को एक संदेश दे दिया है। उनका अभिप्रेत मात्र इतना ही था। आपको भी संदेह होगा - फिर

गोस्वामी जी बार-बार रामकथा के बखान की प्रतिज्ञा क्यों दोहराते हैं? सीता के निर्वासन और लवकुश के बिना यह कथा अधूरी रह जाएगी - क्या उन्हें इतना भी अनुमान न था?

इस चर्चा से आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि रामकथा के पुनर्विन्यास के क्रम में "मार्मिक स्थल की पहचान" की असफलता ने रामचरितमानस की प्रभावोत्पादकता को घटाया है। कथाविन्यास का एक और प्रसंग जिसे गोस्वामी जी ने छोड़ दिया है, वह है शम्बूक वध। वाल्मीकि के राम एक शुद्र तपस्वी का वध करते हुए ज़रा भी नहीं झिझकते। इधर सिर कटा, उधर देवता फूल बरसाने लगे। भवभूति के राम हिचक, खीझ और किंचित करुणा के बावजूद यह कहकर कृपाण चलाते हैं कि जिस राम को गर्भिणी सीता के निर्वासन में उद्विग्नता नहीं हुई वह राम शम्बूक का वध करने में आगा-पीछा क्यों करें। "तुलसीदास ने रामचरितमानस में राम द्वारा शूद्र तपस्वी का वध नहीं करवाया है। तुलसी के राम ब्राह्मणों का सम्मान करते हैं, वे शायद गुणी होने पर भी शुद्र का वध नहीं कर सकते। भक्ति आंदोलन वर्ण व्यवस्था को तोड़ता था।" (डा. विश्वनाथ त्रिपाठी, लोकवादी तुलसीदास पृ. 23)

वर्णाश्रम व्यवस्था में जो सबसे नीचे था, उस शूद्र जाति के दीन-दलित तपस्वी के वध से राम के गरीब निवाज, कृपालु और राम-राज्य के संस्थापक आदर्शवादी राजा के चरित्र की असंगति के चित्रण में अपने युगबोध और अपनी करुणा के लिए जो अवसर मिल सकता था, तुलसी उसे भी पहचान नहीं पाये।

14.4 तुलसी के काव्य में चित्रित विस्तृत जीवन फलक

गोस्वामी जी के काव्य की विवेचना के प्रसंग में तथा भक्त कवियों के बीच उनकी विशिष्टता के संदर्भ में आपने आचार्य शुक्ल का सूत्र वाक्य जरूर सुना होगा - **प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव, जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार, हिंदी के सभी कवियों में उनकी सर्वांगपूर्ण भावुकता, मानव प्रकृति के अधिकाधिक रूपों के साथ उनके हृदय का रामात्मक सामंजस्य।** काव्य-सृजन के इन विशिष्ट उपादानों की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा था - **"यदि कहीं सौंदर्य है तो प्रफुल्लता, शक्ति है तो प्रणति, शील है तो हर्ष पुलक, गुण है तो आदर, पाप है तो घृणा, अत्याचार है तो क्रोध, अलौकिकता है तो विस्मय, पाखंड है तो कुढ़न, शोक है तो करुणा, आनन्दोत्सव है तो उल्लास, उपकार है तो कृतज्ञता, महत्व है तो दीनता, तुलसीदास के हृदय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से विद्यमान है।"** (त्रिवेणी, पृ. 122)

रामकथा में अंतर्भूत संघर्षशील विराट जीवन का वैविध्य तथा मुगल शासन के अंतर्गत दुर्दशाग्रस्त वैषम्यपूर्ण जनजीवन - ये दोनों परस्पर घुलमिल गए हैं। आपने अवश्य ही ध्यान दिया होगा कि उपर्युक्त दोनों पहलुओं की परस्पर घुलनशीलता से तुलसी का काव्य इतना मार्मिक और भाव-व्यंजक हो गया है कि उत्तरी भारत के हिंदी भाषी अपढ़ जनगण तक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, द्वेष-ईर्ष्या के क्षणों में तुलसी के वाक्यों को स्वयंसिद्ध लोकोक्ति के रूप में उद्धृत कर देते हैं ; कभी संत और असंत, सज्जन और दुर्जन का फर्क समझाते हुए, कभी खलों का स्वभाव बतलाते हुए, कभी अन्याय और अत्याचार का हवाला देते हुए, कभी नीति और अनीति, सदाचार और दुराचार की व्याख्या करते हुए। इसीलिए कहा जाता है कि तुलसी लोकप्रिय हैं, लोकहृदय के मर्मज्ञ हैं। कुछ लोग धर्म और भक्ति के लिए भी उन्हें याद करते हैं। हिंदू गृहस्थ परिवारों में रामचरितमानस के नियमित पाठ का भी चलन अभी समाप्त नहीं हुआ है। लेकिन तुलसी धर्म और भक्ति के मार्ग के पथ-प्रदर्शक के नाते बीसवीं सदी के श्रोताओं-पाठकों के लिए उतने प्रासंगिक नहीं हैं, जितने नैतिक लोकानुभव के सूक्तिकोश के रूप में। जब तक यह उत्पीड़नकारी वैषम्यपूर्ण समाज व्यवस्था है तब तक तुलसी काव्य की वैविध्यपूर्ण व्यंजना की शक्ति क्षीण नहीं पड़ेगी। इस व्यंजना में भक्ति, धर्म, नैतिकता, मानवीय मूल्य, संयुक्त परिवार की आचार संहिता, न्याय-अन्याय बोध सब कुछ समाहित रहता है। जीवन के विराट दृश्य-फलक पर तुलसी की दृष्टि की चर्चा आपको अपूर्ण प्रतीत होगी यदि आप कलियुग और राम राज्य के वर्णन को ध्यान से न पढ़ें, यदि आप दीन-दुःखी और दरिद्र जनसाधारण के प्रवक्ता और परामर्शदाता के रूप में गोस्वामी जी के विनय संबंधी पदों और गीतों की संवेदनशीलता में अंतर्निहित गहरी व्यंजना को न समझें। "वैराग्य संदीपनी" से "हनुमान बाहुक" तक एक रचयिता के रूप में तुलसी में हो रहे निरंतर

परिवर्तनों पर ध्यान अवश्य दें वर्ना उनकी कविताओं के बदलते हुए बहु-अर्थ और उनकी रंगारंग बहु-छवि को आप आत्मसात ही नहीं कर पायेंगे। वीतराग और वैष्णव हो जाने के बावजूद अपने युग के यथार्थ पर उनकी दृष्टि थी - अत: उनके विचार-संस्कार बाहर की दुनिया से टकरा रहे थे।

आप यह जरूर जानना चाहेंगे कि तुलसीदास के काव्य विकास की रूपरेखा क्या है? गोस्वामी जी के सृजनात्मक विकास के क्रम में "वैराग्य संदीपनी" के शांतिपद प्राप्त संत के रूप में आत्म-साक्षात्कार प्रस्थान बिंदु है, प्रौढ़ विकास का दूसरा पड़ाव राम-भक्ति में गहरी अनुरक्ति के फलस्वरूप "रामचरितमानस" है ; और तीसरा चरण है आत्मनिवेदन की व्याकुलता जिसकी परिणति "विनय पत्रिका", "कवितावली" और "हनुमान बाहुक" में होती है। पहले चरण में तुलसी बाह्य विश्व से अंत:क्रिया का समारंभ करते हैं। दूसरे चरण में वैष्णव आध्यात्मिकता और राम-भक्ति के माध्यम से अपने युग के पीड़ितों के एक नायक का अन्वेषण करते हैं जो लौकिक-अलौकिक दोनों हो; तीसरे चरण में पीड़ामय संसार के परिवेश में आत्मिक छटपटाहट और मोहभंग को पूरी तरह व्यक्त न कर पाने की अंतर्वेदना है।

आपने देखा कि तुलसी के रचना संसार के तीनों चरण बाह्य विश्व से अनुकूलित हैं। इसीलिए यह माना जाता है कि अपने युग और समाज के मुखर प्रवक्ता और प्रतिबिम्ब के रूप में भक्त कवियों के बीच तुलसी अद्वितीय हैं। उनके संपूर्ण काव्य कृतित्व में मानवतावादी नैतिकता ("परहित जैसा कोई पुण्य नहीं तथा परपीड़ा जैसा कोई पाप नहीं") अंत:सलिला के रूप में प्रवहमान है। रचयिता की यह नैतिकता उनके काव्य विवेक के रूप में सर्वत्र विद्यमान है।

आप पूछेंगे कि उनके दृष्टिफलक के अंतर्गत कौन-कौन सी चीजें हैं? जाहिर है कि प्रकृति, संपूर्ण देश, सृष्टि निर्माण का रहस्य, देव मंडल, भारतीय सांस्कृतिक परंपरा, ज्योतिष, तत्कालीन समाज की अवस्था अर्थात् अकाल, दरिद्रता, शोषण, कपट, अत्याचार, कृषक जीवन, तत्कालीन निरंकुश सामंती व्यवस्था, राजा-प्रजा संबंधों की वास्तविकता और आदर्श राज्य का स्वरूप, खेत-खलिहान, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, नदी-नाले, पर्वत, वन्य जीवन, कोल-किरात-भील, नैतिक मूल्य, पाप-पुण्य बोध, वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मण समाज, सज्जन-दुर्जन, छलकपट आदि न जाने कितनी चीजें उनके काव्य में समायी हुई हैं। राम कथा के विभिन्न पात्रों के चारित्रिक वैविध्य के अंकन द्वारा अपने दृष्टि क्षेत्र की व्यापकता और अपने ज्ञान प्रसार का तुलसी ने परिचय दिया है। सादृश्य विधान और प्रतीक चयन भी सर्वांगीण जीवन दृष्टि के परिचायक हैं। इसी के अंतर्गत अन्योक्तियाँ भी आती हैं। डॉ. रमेश शुक्ल मेघ ने तुलसी पर लिखित अपनी पुस्तकों में इनका व्यवस्थित अध्ययन किया है। जैसे कौओं को बड़े प्रेम से पालो पर क्या वे कभी मांस भक्षण छोड़ सकते हैं? मानसरोवर के जल में पली हुई हंसिनी कहीं खारे समुद्र में जी सकती है? कहीं पोखरे का क्षुद्र कछुआ भी मंदराचल उठा सकता है? संसार में जितने भी कामी और लोभी होते हैं वे कुटिल कौवे की तरह सबसे डरते हैं। राजा तड़पने लगे मानो मछली को माँजा व्याप गया हो। राजा के वचनों को कैकेयी टेढ़ा करके जान रही है जैसे "चलइ जोंक जल वक्र गति, जदपि सलिल समान।" नगर के लोग ऐसे व्याकुल हैं जैसे शहद छीन लिए जाने पर मधुमक्खियाँ। ऐसे न जाने कितने आलंकारिक वर्णन हैं जो मूलत: रचनाकार के सूक्ष्म पर्यवेक्षण और व्यापक दृष्टिफलक का परिचय देते हैं।

14.5 तुलसी की काव्य कला

अभी तक आपने तुलसी के काव्य में आए मर्मस्पर्शी स्थलों, तुलसी काव्य में चित्रित जीवन और कविता के बारे में तुलसीदास के विचार से अवगत हो चुके हैं। अब हम तुलसी की भाषा और रूप विधान की चर्चा करने जा रहे हैं।

14.5.1 काव्य भाषा

तुलसी की सृजनशील काव्य कला की महानता को समझने के लिए सबसे पहले इस तथ्य को विशेष रूप से रेखांकित करने की जरूरत है कि उन्होंने संस्कृत और फारसी की दरबारी काव्य परंपरा और लक्षण

ग्रंथों को तिलांजलि देकर आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदयकाल की नवीन जातीयता के उन्नयन को ऐतिहासिक कार्यभार के रूप में स्वीकार किया। दरबारी रचनाकारों और अपने युग के पंडितों की पतनशील सांस्कृतिक धारा का अनुसरण न कर तुलसी अन्य भक्तिकालीन कवियों की तरह भाषा काव्य को समृद्ध करने का निर्णय करते हैं। अपने युग के जनसाधारण की सांस्कृतिक आकांक्षा और सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति के दायित्व को एक चुनौती की तरह लेकर वे खुल्लम-खुल्ला नई धारा के सहयात्री बन गए। इस प्रश्न पर निर्णय में उनकी युक्ति भी गौर करने लायक है –

का भाषा, का संस्कृत, प्रेम चाहिए साँच।
काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाँच।।

सच्चे प्रेम की अभिव्यक्ति का माध्यम नितप्रति व्यवहार की टकसाल में ढली हुई जनभाषा ही हो सकती है – ठीक वैसे ही जैसे शीतकाल में कंबल ही काम आता है, रेशमी वस्त्र नहीं। "भाखा बहता नीर" जैसी उक्ति के द्वारा कबीर ने संस्कृत के विरूद्ध जो तर्क दिया था, तुलसी उसी तर्क के आधार पर अपना भी निर्णय बतलाते हैं। भक्तिकालीन अन्य कवियों की तरह गोस्वामी जी को भी पंडितों के द्वारा किये जा रहे उपहास और व्यंग्य की चिंता नहीं थी।

मध्यकालीन सामंती समाज के सांस्कृतिक रूढ़िवाद और पतनशील मूल्य व्यवस्था के विरूद्ध संघर्ष का जो व्यापक आंदोलन मराठी, बंगला, उड़िया, असमिया समेत सभी जनभाषाओं में चल रहा था, तुलसीदास उसी आंदोलन के एक अंग थे। डॉ० राम विलास शर्मा मानते हैं कि इस आंदोलन ने सामंती बंधनों की जकड़बंदी के बरक्स भक्त कवियों के लिए "व्यक्तित्व की सापेक्ष मुक्ति" का द्वार उन्मुक्त कर दिया :

"सामंतवाद ने मनुष्य के व्यक्तित्व को अनेक बंधनों में जकड़कर उसके विकास को रोक दिया था। जाति (कास्ट), धर्म, सम्प्रदाय, सामाजिक आचार-विचार की शृंखलाओं में बंधकर मनुष्य का यह व्यक्तित्व स्वाधीन विकास के लिए तड़प उठता था। बिना इस व्यक्तित्व को स्वच्छंदता दिए हुए, बिना मुक्त आकाश में उड़ान भरे हुए काव्य में गेयता उत्पन्न नहीं हो सकती। ब्रजभाषा काव्य में जो अभूतपूर्व गेयता उत्पन्न हुई है, उसका सबसे बड़ा कारण इसी व्यक्तित्व की सापेक्ष मुक्ति है। सापेक्ष मुक्ति इसलिए कि सामाजिक बंधनों से यह पूर्ण मुक्त नहीं थी।" (भाषा, युगबोध और कविता, पृ. 48)

डॉ० रामविलास शर्मा का यह उद्धरण "मध्यकालीन हिंदी कविता में गेयता" शीर्षक जिस निबंध से लिया गया है, उसी में आगे चलकर तुलसी काव्य की गेयता – चाहे वह अवधी में लिखित हो या ब्रजभाषा में – का उपयुक्त विवेचन किया गया है। इस दृष्टि से हिंदी भाषी जनता द्वारा रामचरितमानस का गाया जाना – एक प्रबंध काव्य में गेयता के गुण उपलब्ध करना निश्चित रूप से तुलसी की महान उपलब्धि थी।

भाषा में लिखने के निर्णय से तुलसी को लोक-संस्कृति और जनसाधारण की दैनंदिन जीवनधारा में कलात्मक साधनों की अक्षय निधि प्राप्त हो गई। भारत के विभिन्न जनपदों में प्रचलित लोक-संस्कृति के विभिन्न रूपों, संस्कार गीतों, पर्व-त्योहार और विभिन्न ऋतुओं के लोक गीतों से गोस्वामी जी को वे छंद प्राप्त हुए जो अपभ्रंश काव्यों में भी व्यवहृत होकर निखर चुके थे। उपमान, रूपक, प्रतीक, बिम्ब, मुहावरे, लोकोक्ति तथा दृष्टान्त भी इसी लोक-संस्कृति और ठेठ ग्रामीण जीवन से लिए गए हैं।

शब्द-चयन पर भी तुलसी की दृष्टि सांस्कृतिक संकीर्णतावाद से मुक्त थी। इस प्रसंग में प्रोफेसर लल्लन राय ने बताया है – **"भाषा के संबंध में तुलसी की एक अन्य विशेषता है, मुक्त रूप से दूसरी बोलियों और भाषाओं से शब्द ग्रहण। इसमें ब्रज, अवधी, बुंदेलखंडी, भोजपुरी तथा कुछ नितान्त स्थानीय शब्दों के साथ अरबी और फारसी भाषा के शब्द भी आ जाते हैं। तुलसी ने अपनी रचनाओं में इतने अधिक अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है, जितना शायद हिंदी के किसी भी पुराने या आधुनिक कवि ने नहीं किया।" (तुलसी की साहित्य साधना, पृ. 144)**

भारतीय वाङ्मय और विभिन्न भाषाओं तथा बोलियों से शब्द-चयन की उन्मुक्तता के कारण ही प्रसंगानुकूल भाषा शैली की विविधता विकसित करने में तुलसी अद्वितीय हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का ध्यान गोस्वामी जी की इस विशेषता की ओर गया था। उनकी टिप्पणी है - "गोस्वामी जी ने इस बात का भी ध्यान रखा है कि किस स्थल पर विद्वानों या शिक्षितों की संस्कृत मिश्रित भाषा रखनी चाहिए और किस स्थल पर ठेठ बोली। घरेलू प्रसंग समझकर कैकेयी और मंथरा के संवाद में उन्होंने ठेठ बोली और स्त्रियों में विशेष चलते प्रयोगों का व्यवहार किया है।" (हि.सा.इ., पृ. 131)

अपने उद्भव काल से ही कविता मुख्यत: श्रव्य विद्या है। भक्तिकालीन कवियों के काल में भी यह मुख्यत: श्रव्य विद्या ही थी। इसीलिए महान कलाकार की काव्य कला की कसौटी के अंतर्गत इस बात की माँग होती थी कि रचनाकार भाषा के ध्वनि प्रवाह और गति को पहचाने। रचना की श्रव्यता के लिए यह आवश्यक माना जाता है। इस कसौटी पर खरा उतरने वाला काव्य जन-जन का कंठहार बन जाता है और सदियों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी लोकस्मृति में अक्षुण्ण पड़ा रहता है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी गोस्वामी जी के काव्य की इस विशेषता का विवेचन करते हुए कहते हैं - "तुलसी की पंक्तियाँ लोगों को बहुत याद हैं। वे उत्तरी भारत के गाँवों, पुरवों, खेतों, खलिहानों, चरागाहों, चौपालों में दूब, जल, धूल, फसल की भाँति बिखरी हैं - इसे कहना अनावश्यक है। अवश्य ही इसका कारण उन पंक्तियों की संदर्भवत्ता और मार्मिकता है, लेकिन इसमें तुलसी की पंक्तियों के ध्वनि प्रवाह का भी बहुत योगदान है। तुलसी की पंक्तियों में वह रपटन और फिसलन है कि उनका एक शब्द याद पड़ जाए तो पूरी पंक्ति अपने आप ही स्मृति में उदित हो आती है। इसका कारण है पंक्तियों में प्रयुक्त शब्दों की ध्वनिमैत्री।" (लोकवादी तुलसीदास, पृ. 139)

आगे के विवेचन में डॉ. त्रिपाठी उल्लिखित ध्वनिमैत्री के लिए अपनाए गए कौशलों का सोदाहरण विवेचन करते हैं। इन कौशलों के अंतर्गत ही ह्रस्व स्वरान्त पद प्रयोग और वर्णानुप्रास की छटा तुलसी की उल्लेखनीय विशेषता है। अनुप्रासों में खास तौर पर आनुनासिक ध्वनियों के आरोह-अवरोह गौर करने लायक है। उदाहरण के लिए "नील सरोरूह स्याम तरून अरून बारिज नयन" अथवा "किंकिणि नूपुर धुनि सुनि", "तुलसी मनरंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन चातक से" अथवा "उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पंतग" आदि से संबंधित पदों के ध्वनि सौंदर्य और तदनुसारी भाव सौंदर्य को देखा जा सकता है।

14.5.2 छंद और संगीत

मध्ययुग में मुक्त छंद का प्रचलन आरंभ नहीं हुआ था। कविता छंदोबद्ध होती थी। तुलसी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अवधी और ब्रजभाषा के काव्यग्रंथों में प्रयुक्त छंदों के अच्छे जानकार थे। इसीलिए अपनी काव्यकृतियों में उन्होंने अभिप्रेत विषय-वस्तु और भाव के अनुसार विविध प्रकार के छंदों का उपयोग किया है। "छंद प्रबंध अनेक बिधाना" जैसी उक्ति के द्वारा छंदों के भेद और प्रकार के प्रति उन्होंने अपनी सजगता का संकेत भी दिया है। उनके साहित्यिक जीवनवृत्त और सृजन-प्रक्रिया के क्रम विकास से ऐसा प्रतीत होता है कि "रामचरितमानस" की रचना से पहले एक ओर जहाँ अवधी के लोकगीतों में प्रचलित सोहर छंद का उपयोग कर वे "रामलला नहछू" और "जानकी मंगल" की रचना कर रहे थे, वहीं दूसरी ओर अपभ्रंश काव्य परंपरा के जातीय छंद दोहा और चौपाई में "रामाज्ञा प्रश्न" और "वैराग्य संदीपनी" की भी रचना कर रहे थे। इन प्रयोगों से पता चलता है कि भाखा-काव्य के लिए अपेक्षित अंत:संगीत के अन्वेषण द्वारा वे अपने कौशल परिष्कृत कर रहे थे। जीवन की प्रौढ़ावस्था में ही "रामचरितमानस" की रचना में वे अपने को समर्थ और सक्षम समझकर जुटे। संस्कृत से अवधी-ब्रज तक की काव्य संपदा के अनुशीलन से प्राप्त रचना विधियों और छंद कौशल का प्रमाण प्रस्तुत करने की दृष्टि से गोस्वामी जी के लिए यह जबर्दस्त चुनौती और आत्मपरीक्षा की अवधि थी। संस्कृत में भी वे काव्य सृजन कर सकते हैं और संस्कृत के वर्णिक तथा मात्रिक छंदों का साधिकार उपयोग कर सकते हैं। काशी के पंडितों को यह दिखलाना आवश्यक था। भाखा काव्य के प्रति "खल उपहास" के बौद्धिक परिवेश से वे परिचित थे। वाल्मीकि, व्यास से लेकर भवभूति तक द्वारा उपयोग में लाए गए संस्कृत छंदों में वे अपनी रचनात्मक प्रतिभा के प्रमाण प्रस्तुत कर सकते हैं, इसे सोदाहरण प्रस्तुत कर वे पंडित समाज में अपनी स्वीकृति चाहते थे ताकि यह बता सकें कि भाषा-काव्य किसी अज्ञानी गँवार की रचना नहीं है। इसीलिए संस्कृत श्लोकों, में अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, त्रोटक, भुजंग प्रयात

वृत्त, मालिनी वृत्त, वसंतलतिका वृत्त, शार्दूल विक्रीड़ित वृत्त, वंशस्थ विलय वृत्त, स्रग्धरा छंद और नागर स्वरूपिणी वृत्त के उपयोग से गोस्वामी की रचनात्मक प्रतिभा के निखरे स्वरूप का दिग्दर्शन संभव हुआ।

रामचरितमानस के संस्कृत श्लोकों को छोड़कर शेष संपूर्ण महाकाव्य में दोहा-चौपाई और सोरठा में ही रचना की गई है, यद्यपि भावधारा और प्रसंग के अनुसार लय-गति-ताल का अनुसरण करते हुए हरिगीतिका, तोमर, अरिल्ल, त्रिभगी आदि छंदों के उपयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। कार्य या घटना की पूर्णता पर कथाविन्यास में कड़ियाँ मिलाने के लिए मंथर गति से चलने वाले छंद के प्रयोगों में नई उद्भावनाओं के प्रमाण भी मिलते हैं। चरितकाव्यों की परंपरा में परखी जा चुकी कड़वक योजना का प्रभाव रामचरितमानस पर पर्याप्त रूप में परिलक्षित होता है। चरितकाव्यों पर शोध करने वाले डॉ. दीनानाथ शुक्ल की टिप्पणी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है - **"मानस में भी हमें संस्कृत काव्यों की सर्गनिबद्धता का नहीं प्रत्युत् कड़वक योजना का ही प्रभाव स्पष्ट रूप में दिखाई पड़ता है। इन कड़वकों में उपलब्ध होने वाली अर्द्धालियों की संख्या के लिए कोई निश्चित नियम न तो अपभ्रंश के महाकाव्यों में ही पाया जाता है और न रामचरितमानस में ही। "पउमचरिउ" की बारहवीं संधि में ही हमें कहीं आठ अद्धालियों का कड़वक दिखाई देता है, तो कहीं नौ का। मानस में भी आठ अर्द्धालियों से लेकर सोलह तक के कड़वक देखने को मिलते हैं।"** - (चरित काव्य की परंपरा और रामचरितमानस, पृ. 286)

गोस्वामी जी की अन्य प्रमुख कृतियों में "कवितावली" और "हनुमान बाहुक" के प्रिय छंद कवित्त और सवैया है। "रामाज्ञा प्रश्न" और "दोहावली" में दोहा छंद, "पार्वती मंगल" और "जानकी मंगल" में मंगल, सोहर और हरिगीतिका छंद का उपयोग दिखाई देता है। "विनय पत्रिका", "गीतावली" और "कृष्ण गीतावली" में प्रगीत और मुक्तक के रचनातंत्र का प्रयोग है। पद शैली में रचित ये प्रगीत और मुक्तक कल्याण, गौरी, असावरी, भैरवी, केदारी घनाश्री, मल्हार, रामकली, टोड़ी, मारु, विलावल आदि राग-रागनियों में निबद्ध हैं। स्वामी हरिदास की संगीत परंपरा से रस-सिक्त गायन शैली का लाभ उठाते हुए और ब्रजभाषा की मँजी हुई प्रगीतात्मकता का निखार प्रस्तुत करते हुए तुलसीदास ने संगीत के प्रति भी अपनी गहरी अभिरुचि और रागमयता का परिचय दिया है।

तानसेन, बैजू, स्वामी हरिदास, लाल खाँ आदि के द्वारा भारतीय संगीत परंपरा का परिष्कार हुआ, उसे नया रूप मिला। हिन्दुस्तानी संगीत की इस लोकाश्रित जातीय परंपरा के विकास में हिन्दू-मुस्लिम संगीतकार योग दे रहे थे। बारहवीं-तेरहवीं सदी से सत्रहवीं सदी तक संतों, सूफियों और भक्तों के पदों की गायन परंपरा पर संगीत के राग और ताल की गहरी छाप है। यह मूलत: लोकसंगीत है जिसे कभी-कभी मुगल दाबार में या हिंदू-मुस्लिम रियासतों में भी आश्रय प्राप्त हो जाता था। आचार्य शुक्ल सूरदास के प्रसंग में पहले से चली आ रही जिस गीत परंपरा का उल्लेख करते हैं, वह वस्तुत: सिर्फ ब्रजभाषा में ही नहीं है, मैथिली, अवधी, खड़ी बोली, पंजाबी, मराठी, बंगला, आदि में भी है और इस गीत परंपरा का जातीय लोकसंगीत के रूप में अलग-अलग प्रसार हो रहा था। रामविलास शर्मा का अनुमान है **"संतों के पद लोकगीतों का विकास है। दक्षिण की शास्त्रीय पद्धति के गायक त्यागराज और पुरंदरदास के पद गाते हैं, उत्तर की शास्त्रीय पद्धति के गायक सूर, तुलसी और मीरा के पद गाते हैं। यही नहीं, कुछ गायिकाएँ शास्त्रीय गायन का समापन कजरी या किसी अन्य संगीत से करती हैं और वादक भी अपने शास्त्रीय वादन का समापन कभी किसी लोकधुन से करते हैं। इस तरह वे उस आदि स्रोत को याद कर लेते हैं जिसने संतों के गायन और शास्त्रीय गायन दोनों को जन्म दिया था।"** (भारतीय साहित्य की भूमिका, पृ. 190)

तुलसी की सभी कृतियों में कथागायन का लोकरूप, डॉ. रमेश कुंतल मेघ के विश्लेषण के अनुसार चित्रकूट के परिवेश से ही आया है। उनके अनुसार **"चूँकि चित्रकूट राम की उपासना में वृंदावन की तरह है, अत: कीर्तनियों की भिन्न-भिन्न मंडलियों द्वारा राम के भजन और राम के लीलागान की परंपरा आज तक चली आ रही है। कहना न होगा कि गोस्वामी जी के जीवन के इस वृत्त में चित्रकूट के संपर्क ने तुलसी के सृजनकार्य तथा कवित्स को गढ़ा है।"** (तुलसी : आधुनिक वातायन से, पृ. 154)

14.5.3 काव्य का रूप विधान

तुलसी ने मध्यकाल में प्रचलित काव्य सृष्टि के तीनों रूप विधानों - प्रबंध, मुक्तक और प्रगीत को अपनाया। कथा वर्णन की परिपाटी में अपना काव्य लेखन आरंभ करने के पहले गोस्वामी जी फुटकर मुक्तक और पदावली में उपलब्ध संत काव्य की परंपरा की ओर आकृष्ट हुए थे। रत्नावली से दुत्कारे जाने के बाद जब उन्हें लौकिक-पारिवारिक गृहस्थ जीवन से विरक्ति हुई तो संतों की वैराग्य-प्रधान रचनाओं में ही उन्हें आत्माभिव्यक्ति दिखाई पड़ी। ऐसा माना जाता है कि "वैराग्य संदीपनी" के पद निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना, जीवन की क्षण-भंगुरता और इंद्रियार्थ निषेध से भरे पड़े हैं। यह मात्र संयोग नहीं है कि तुलसीदास पश्चिमी ब्रजभाषा में अपनी रचना आरंभ करते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद लिया जा सकता है, जो "वैराग्य संदीपनी" से उद्धृत तीसरा पद माना जाता है-

सुनत लखत श्रुति नयन बिनु रसना बिनु रस लेत।
बास नासिक बिनु लहै परसै बिना निकेत।।

अपनी इस प्रारंभिक रचना में भी वे हरिकथा और रामकथा के अंतर्गत ही इन पदों की रचना कर रहे थे। "वैराग्य संदीपनी" के पद 38 और 40 में आयी निम्नांकित उक्तियाँ ध्यान देने लायक हैं-

(1) तुलसी भगत सुपच भलौ भजै रैन दिन राम।
ऊंचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम।।

(2) जदपि साधु सब ही बिधि हीना। तदपि समता के न कुलीना।।

सुपच (श्वपच, चांडाल) और कुलीन में तथा साधु और कुलीन में तुलसी चांडाल और साधु को ऊंचा स्थान देते हैं। तुलसी साहित्य के मर्मज्ञ पंडित राम नरेश त्रिपाठी की दृष्टि में "**तुलसीदास की सबसे पहली रचना "वैराग्य संदीपनी" जान पड़ती है। यह उस समय की रचना है जब तुलसीदास का झुकाव संतमत की तरफ रहा होगा। संतमत का प्रचार उन दिनों जोरों पर था।**" (तुलसीदास और उनका काव्य, पृ. 223)

"वैराग्य संदीपनी" के दोहे और कबीर की साखियों में काफी साम्य दिखाई देता है। डॉ. माता प्रसाद गुप्त भी प्रकारान्तर से इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए यह कहते हैं कि "**इसकी शैली और विचारधारा तुलसीदास की ज्ञात रचनाओं से भिन्न है।**" (हिंदी साहित्य कोश, खंड 2, पृ. 553) निष्कर्ष यह कि स्वतंत्र मुक्तक रचनाविधिका रूपबंध प्रारंभ में ही गोस्वामी जी को अपनी प्रतिभा के संचरण के लिहाज से उपयुक्त प्रतीत हुआ। विभिन्न छंदों में मुक्तक रचना की इस प्रणाली का उपयोग उनके संपूर्ण कृतित्व में प्रारंभ से अंत तक दिखाई पड़ता है - "वैराग्य संदीपनी" से लेकर "कवितावली" और "हनुमान बाहुक" तक में।

"रामलला नहछू", "जानकी मंगल", "पार्वती मंगल" आदि में राम कथा के कुछ घटना प्रसंगों को वर्णन की आधारभूत सामग्री के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कहना चाहिए कि मुक्तक और आख्यान के मिश्रित रूपबंध में प्रस्तुत इन काव्य-कृतियों में युवा रचनाकार की प्रयोगशीलता बरबस संत काव्य परंपरा से भिन्न नये आस्वाद का परिचय देती है। राम के यज्ञोपवीत और विवाह संस्कार के कथासंदर्भ में गाये जाने वाले मंगल-गीतों के रूप में इन काव्य-कृतियों की रचना की गई है। "रामलला नहछू" में लोहारिन, अहीरिन, तंबोलिन, दरजिन, मोचिन, मालिन आदि का रूपचित्रण किया गया है। नाइन निछावर माँग रही है, हठ और झगड़ा कर रही है। संपूर्ण वस्तुविधान अवध, भोजपुर क्षेत्र और मिथिला के लोकरिवाजों को सामने लाता है और इसके लिए लोकगीतों की सहज-सरल रोचक शैली अपनायी गयी है। कथावस्तु की दृष्टि से भिन्नता यह है कि दशरथ ग्रामीण स्त्रियों, खासकर, निम्न कुल की स्त्रियों के रूपयौवन पर मुग्ध और आसक्त दिखाए गए हैं। मर्यादावादी तुलसी उत्तान शृंगार का ऐसा वर्णन करें, और वह भी अपने उपास्यदेव के परमपूज्य पिताश्री के चरित्र का स्खलन दिखाते हुए - यह सर्वथा अविश्वसनीय मान लिया गया और इसी के आधार पर अनेक विद्वानों ने "रामलला नहछू" को

प्रामाणिक कृति मानने से इन्कार कर दिया। अद्यतन शोधकार्यों के आधार पर अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि यह गोस्वामी जी की ही कृति है। दरअस्ल ये तीनों कृतियाँ अवधी में लिखी गई हैं और इन पर लोक संस्कृति की गहरी छाप है। राम के प्रति तुलसी की अनन्य भक्ति की विकास प्रक्रिया में तथा एक समर्थ रचनाकार की संभावनाशील यथार्थ दृष्टि के स्वरूप ग्रहण की प्रक्रिया में दशरथ का ऐसा चित्रण "रामचरितमानस" से पहले का एक पड़ाव प्रतीत होता है। मुक्तक और आख्यान की घुली-मिली वर्णन शैली में नाटकीय त्वरा और गति संबंधी ये ऐसे प्रयोग हैं जो ग्रामीण लोक जीवन के प्रेक्षण पर आधारित हैं। "जानकी मंगल" में निबद्ध कथा यह बताती है कि अब गोस्वामी जी "रामचरितमानस" की रचना के लिए आवश्यक तैयारी पूरी कर चुके हैं।

"रामचरितमानस" के रूप विधान, प्रबंधत्व और महाकाव्यत्व पर चर्चा इस टिप्पणी के अंत में की जाएगी। इस बीच यह देखना आवश्यक है कि मानस के बाद लिखित रचनाओं में "पार्वती मंगल" का रूप विधान क्या है? यह एक प्रबंधकाव्य है। इसे हम खंडकाव्य या कथा प्रबंध की संज्ञा दे सकते हैं। इसमें शिव-पार्वती विवाह का आख्यान है। माता प्रसाद गुप्त इसे खंड काव्य मानते हैं।

प्रबंध काव्य के लिए अपेक्षित वर्णनात्मकता की काव्य प्रतिभा का अब पूर्ण प्रस्फुटन हो चुका है। अत: "रामचरितमानस" में वर्णित शिव-पार्वती विवाह के घटना-संयोजनों में गोस्वामी जी एक भिन्नता लाते हैं। जाहिर है कि मानस में यह आख्यान शिवपुराण पर आधारित है, जबकि पार्वती मंगल में कालिदास के "कुमारसंभव" में उपलब्ध कथा-विन्यास का उपयोग किया गया है। मानस में तो जब राम बीच में पड़ते हैं, तभी पार्वती से विवाह के लिए शिव राजी होते हैं, जबकि पार्वती मंगल में राम बीच में नहीं पड़ते। पार्वती की तपस्या से शिव स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं और बटु रूप में जाकर पार्वती की परीक्षा लेते हैं। मानस में सप्तर्षि और पार्वती के बीच संवाद की योजना करायी गयी है, जबकि पार्वती मंगल में बटु और पार्वती के बीच। सोहर और हरिगीतिका छंदों में इसकी रचना की गई है।

कथा प्रबंध में क्रमश: सफलता पाते जाने की प्रक्रिया में गोस्वामी जी "बरवै रामायण" नाम से 69 स्फुट पदों के संग्रह द्वारा "कवितावली" की ही तरह सात कांडों में कथा का विभाजन करते हैं। बरवै अवधी का प्रिय छंद है। इसकी गति और क्षिप्रता पर तुलसीदास की महारत देखने लायक है। रूप विधान की दृष्टि से कुछ आलोचक इसे मुक्तक रचना-संग्रह भी मानते हैं और कुछ इसे खंडकाव्य बताते हैं। वस्तुत: "बरवै रामाण" "रामचरितमानस" का ही लघु गुटका संस्करण है, यद्यपि भाषा और छंद की दृष्टि से इस रचना की अपनी विशिष्टताएं हैं। अपने मित्र अब्दुर्रहीम खानखाना की प्रेरणा से तुलसी ने बरवै छंद में रामकथा को संक्षेप में प्रस्तुत करने के दायित्व को कलात्मक चुनौती के साथ स्वीकार किया था। माना जाता है कि 1612 ई. में इसकी रचना हुई थी अर्थात् मानस की रचना के काफी बाद।

उल्लेखनीय कृतियों में अब "गीतावली" और "विनय पत्रिका" पर विचार करना आवश्यक है। ये दोनों ही कृतियाँ आत्मनिवेदन से लबालब गेय पद हैं। इनका रचनातंत्र भक्तिकाल के प्रारंभिक दौर की रचनाशीलता से अनुशासित है और तत्कालीन उत्तरी भारत के जनपदों में प्रचलित लोकसंगीत की टकसाल में ढल कर इसका पदविन्यास निखर उठा है।

14.5.4 रामचरितमानस का रूप विधान

"रामचरितमानस" अपनी प्रबंधात्मकता और आख्यान के रूप विधान की दृष्टि से महाकाव्य के रूप में लगभग सर्वस्वीकृत है, यद्यपि अनेक विद्वानों ने इसे पुराण काव्य भी कहा है। तुलसी ने इस रचना का रूपबंध ऐसा बनाया है कि हिंदी भाषी क्षेत्र के प्राय: सभी जनपदों में यह गाया जाता है और गाकर सुनाया जाता है। इस महाकाव्य के श्रोता और इसके आधार पर होने वाली रामलीलाओं के दर्शक श्रद्धा के विवश होकर पौराणिक कथा में प्रयुक्त चमत्कारों के प्रति अपने अविश्वास को स्थगित कर देते हैं, चूंकि तुलसी ने अपने नायक में ही अलौकिकता और सर्वशक्तिमानता की प्रतिष्ठा कर दी है। गोस्वामी जी के इस चरितनायक का लौकिक-सामाजिक जीवन प्रसंग इतना विराट है कि ताड़का, वाल्मीकि, अहिल्या, केवट, निषाद, जटायु, सम्पाती, सुमंत्र आदि सब के सब कथानक के फलक पर सर्वशक्तिमान और अलौकिक के सहज मानवीय व्यापार में शामिल हो जाते हैं। वस्तुत: ये सभी किसी न किसी

प्रासंगिक कथानक के अनिवार्य अंग हैं। आधिकारिक और प्रासंगिक कथानकों के बीच आख्यान और इतिवृत्त जैसा संबंध है। इस संबंध को दिखाने के लिए अनेक स्थलों पर काल भी एक ही रखा गया है। कथानकों के बीच संबंधों से घटनाओं में जो मोड़ आता है अर्थात् आकस्मिकता आती है उसे दैव विधात् और प्रारब्ध की तार्किकता से विश्वसनीय तथा कुतूहलवर्द्धक बनाया गया है। चित्रपटल के ऐसे आकस्मिक परिवर्तनों के लिए प्रारंभ से अंत तक जिन युक्तियों का आश्रय लिखा गया है उनमें शंका और समाधान की प्रश्नोत्तर शैली, अवतारी महापुरुष का अतिप्राकृतिक दिव्य शक्ति का प्रदर्शन तथा कुछ पात्रों के पूर्वजन्म की कथा का वाचन आदि कौशल द्रष्टव्य है। बालकांड में बतौर पृष्ठभूमि शिवचरित, नारद शाप, मनु-शतरूपा, प्रतापभानु-कपटी मुनि, जलंधर-वृन्दा, रावण चरित आदि प्रासंगिक कथा इकाइयों के नियोजन में पुराणों की आख्यान शैली का अनुसरण है। इसी तरह रामचरितमानस के अन्य सर्गों में सम्पति, लंकिनी, राक्षसी, काक्भुशंडि आदि के निजी आत्मवृत्त भी मिथकीय कोटि के ही हैं। गोस्वामी जी ने कथाविन्यास की इस संरचना के लिए पुराणों के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, कुमारसंभव तथा पउमचरिउ जैसी चरितकाव्य परंपरा में लिखित रामायणों के प्रबंध कौशल को फेरबदल कर दोहराया है। डॉ. रमेश कुंतल मेघ मानते हैं कि "इनमें निःसंदेह प्रबंध सौष्ठव विफल हुआ है।" (तुलसीदास : आधुनिक वातायन से, पृ. 193)

आधिकारिक कथा के घटनाविकास के अंतर्गत वर्णित अनेक घटनाएं परवर्ती कथावाचन के बीच लगभग पूरी की पूरी दोहरायी जाती हैं, केवल सूच्य बनकर नहीं आतीं। ऐसी आवृत्ति के द्वारा कालविपर्यय होता है, अर्थात् वर्तमान के बीच विगत् आ खड़ा होता है बल्कि वर्तमान को धुंधला कर देता है। उदाहरण के लिए - दशरथ की सभा में दूत द्वारा धनुर्भंग की पूरी घटना की इतिवृत्तात्मक आवृत्ति, मारीच द्वारा रावण को दी गई सूचना के अंतर्गत विश्वमित्र के साथ राम के प्रस्थान का प्रसंग, विवाह के बाद लौटे राम से ताड़का वध की कथा का माताओं द्वारा श्रवण। शिव पार्वती विवाह, रति को दिये गये वरदान, शिव द्वारा पार्वती को सुनायी गयी रामकथा की काक्भुशुंडि द्वारा गरूड़ को सुनायी गयी कथा में आवृत्ति - कथा विन्यास की तकनीक में ऐसे अनेक स्खलन हैं जो रामचरितमानस के महाकाव्यात्मक प्रभाव को बाधित करते हैं और सौंदर्यात्मक संवेग की त्वरा को कुंठित करते हैं। कथा की जीवंतता, सुश्रृंखलन और व्यवस्थापन के मार्ग में अनेक स्थलों पर स्तुतिपरक, उपदेशात्मक और ब्रह्मचिंतन के तात्विक प्रसंग आते हैं कि उनसे कथा प्रवाह बार-बार खंडित होकर शिथिल पड़ जाता है। ऋषियों, मुनियों और भक्तों से जब भी राम की भेंट होती है तो गोस्वामी जी अटक-भटक कर कथा की गति में अनावश्यक व्यतिक्रम कर देते हैं। वनगमन के समय राम और वाल्मीकि संवाद ऐसे ही व्यतिक्रम के अनेक उदाहरणों में से एक है।

मानस के सात सोपानों तथा चार घाटों की व्याख्या से तुलसी साहित्य संबंधी समालोचना और शोधकृतियाँ भरी पड़ी हैं। मानस को धर्मग्रंथ या भक्ति सरोवर के रूप में प्रस्तुत करने वाले विद्वानों ने इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। "मानस में रामकथा" नामक अपनी समालोचनात्मक कृति के माध्यम से पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र ने भी इस प्रकार की विवेचन पद्धति को गंभीर ज्ञानचर्चा का रूप दे दिया। विद्वानों के बीच इस प्रसंग को लेकर इतनी प्रतिद्वंद्विता बढ़ी कि डॉ. उदयभानु सिंह मानस के सोपान की व्याख्या और कथा संरचना के प्रश्नों के बीच घालमेल करते हैं। उनके अनुसार ये सात सोपान रामभक्ति के सात पंथ हैं और **"मानस भक्तिजल से लबालब भरा है। पहले ही सोपान के आरंभ से भक्तिरस मिलने लगता है। पाठक ज्यों-ज्यों गहराई में उतरता जाता है त्यों-त्यों भक्तिजल में प्रवेश करता जाता है और सातवें सोपान पर पहुँचकर वह भक्तिरस में पूर्णतः मग्न हो जाता है।"** (रामचरितमानस, संपादक सुधाकर पांडेय, पृ. 153)। यद्यपि अच्छी बात यह है कि काक्भुशुंडि संवाद को उपासना घाट, शिव पार्वती संवाद को ज्ञानघाट-राजघाट, याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद को कर्मघाट-पंचायती घाट और तुलसी-संत संवाद को प्रपत्तिघाट-गायघाट के रूप में देखने-दिखाने वाली विवेचना पद्धति से डॉ. उदयभानु ने अपनी असहमति जताते हुए इसकी व्यर्थता बतायी है। पर कथा प्रवचन परंपरा के अद्यतन आचार्य पंडित रामकिंकर उपाध्याय इन चार संवादों और मानस के चार घाटों की आध्यात्मिक और भक्तिरसमय व्याख्या से अभी भी जनसाधारण को चमत्कृत करते हैं। उनका निष्कर्ष है **"रामचरितमानस के राम ज्ञानियों के परब्रह्म परमात्मा हैं। भक्तों के सगुण साकार ईश्वर हैं। कर्ममार्ग के अनुयायियों के लिए महान मार्गदर्शक और दीनों के लिए दीनबंधु हैं। चार**

घाटों के माध्यम से रामचरितमानस में गोस्वामी जी ने सारे समाज के व्यक्तियों को आमंत्रण दिया कि वे श्रीराम के चरित्र से अपनी अभीष्ट वस्तु प्राप्त कर लें।" (मानसमुक्तावली, खंड 1, पृ. 167)

रामचरितमानस की कला संरचना में चार वक्ता और चार श्रोता के अलग-अलग स्थान, उनकी अलग-अलग प्रकार की लौकिक-सामाजिक अस्मिता तथा इनकी पृथक-पृथक कथाओं में अंतर्भूत उपादानों की परस्पर भिन्नता के आधार पर कलात्मक और सौंदर्यपरक व्याख्या प्रायः नहीं हुई है। इस व्याख्या पर धार्मिक और आध्यात्मिक रंग चढ़ाने में कथावाचकों का जितना योगदान है, उससे कहीं अधिक साहित्य के विद्वानों का ही योगदान है।

तथ्य की दृष्टि से यह सर्वविदित है कि अध्यात्म रामायण, काकभुशुंडि रामायण आदि से तुलसी ने शिव पार्वती और काक गरूड़ संवाद की पद्धति अपनायी है। पर इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण उस कलात्मक आवश्यकता का विवेचन हमारे विद्वान समालोचकगण भूल गए जिसके निर्णायक दबाव में उनकी संपूर्ण रचनाशीलता अनुशासित-अनुकूलित हो रही थी। तत्कालीन जनसमाज और सहृदय समुदाय की ऐतिहासिक पुनर्रचना कर यदि हम सोचें तो पता चलेगा कि गोस्वामी जी साक्षर समुदाय के लिए किसी साहित्यिक पाठ की रचना न कर, निरक्षर जनसाधारण को गाकर सुनायी जाने वाली कथाकृति या कथाप्रबंध की रचना कर रहे थे। रामचरितमानस की हस्तलिखित पोथियों से रामकथा काव्य का थोड़ा-बहुत प्रसार सिर्फ शिक्षित-कुलीन समाज में हो रहा होगा। पर एक कृतिकार के नाते गोस्वामी जी अपने कथाप्रबंध, गाथा या गाहा का पाठ कथा प्रवचन, लोक गायन और लीला गान सुनने वाले सहृदय श्रोता समाज के लिए तैयार कर रहे थे। नाटक-नृत्य-संगीत की समवेत विधा के रूप में अगर रामलीला तुलसी से पहले किसी भी रूप में अयोध्या और चित्रकूट में रही होगी तो तुलसी की रचनाशीलता पर जिस प्रकार की छाप पड़ी होगी, उसकी कल्पना की जा सकती है।

इस पृष्ठभूमि में रामचरितमानस के लोकरंजनकारी वाचिक पाठ के रूप विधान पर विचार न करना और सिर्फ लिखित पाठ के साहित्यिक कलेवर के रचनातंत्र पर विचार करना अपर्याप्त प्रतीत होता है। इन दोनों पक्षों पर गौर करने से ही यह पता चलता है कि हर सर्ग के नामकरण में कांड क्यों आया है। एक महागाथा के अलग-अलग कांड सीरियलों की धारावाहिकता और परस्पर पृथक घटनागाथा जैसे प्रतीत होते हैं। संस्कृत और अपभ्रंश की प्रबंधकाव्य परंपरा के अनुसार सर्गों का विधान जहाँ लिखित पाठ का वैशिष्ट्य है, वहीं विभिन्न वाचिक आख्यान के सूचक हैं।

मध्यकाल के हिंदी भाषी क्षेत्र में संतों की गायी जाने वाली बानियाँ और पदावलियाँ, कृष्ण-भक्तों की रासलीला और राम-भक्तों की रामलीला विभिन्न जनपदों के सांस्कृतिक जीवन स्पंदन की ठोस अभिव्यक्तियाँ हैं। उस युग का कोई भी रचनाकार इनसे कटकर या अप्रभावित रहकर जीवंत रचना कर ही नहीं सकता था। उस युग के किसान-विद्रोहों और धार्मिक-आध्यात्मिक रंगत लिए सांस्कृतिक क्रियाकलापों के बीच के अर्थपूर्ण संबंधों की वैज्ञानिक व्याख्या से ही यह समझ में आता है कि नृत्य, गायन, कविता में यथार्थ की उत्पीड़नकारी दुनिया को क्यों खारिज किया जा रहा था - वास्तविक संसार के बीच निरूपायता कलात्मक दुनिया में मनोवांछित क्रीड़ा के दृश्यरूपकों की निर्मितियाँ प्रस्तुत कर रही थीं - कभी वीतराग होकर, कभी आनन्ददायी लीला के नृत्य में तल्लीन होकर, कभी पराक्रमी नायक की प्रतिष्ठा के गीत गाकर। यह मनचाही क्रीड़ा अनुभूतियों का एक साझा तानाबाना प्रदान करती थी, अपने साथियों से साहचर्य और हिस्सेदारी के लिए अपेक्षित समान संवेदनाओं का यह भावजगत लोकख्यात नायक के अतिप्राकृतिक चमत्कारों के कारण जनजन के हृदयकुंज में आशा का प्रदीप जलाकर जगमगा उठता था। मध्यकाल के निरंकुश सामंती शासन, मनसबदारी-जागीरदारी व्यवस्था और भूराजस्व के नये रूपों के विरुद्ध थे। किसान-विद्रोहों में संघर्ष के कारगर औजार के रूप में उत्पीड़ितों के पारस्परिक साहचर्य की यह आवश्यकता गीत, गायन, कविता, नाटक, लीला आदि को भी अपने रंगों में ढाल रही थी। भक्ति के प्रतीक-रूपकों से आवृत्त इस भावधारा की परस्पर-विरोधी गूंज-अनुगूंज को नये सिरे से समझने की आवश्यकता है। दरअसल दुःख दैन्य से मुक्ति दिलाने वाले अपने युग के नायक की खोज तुलसीदास को जनमन में बसे लोकख्यात वृत्त की ओर ले जाती है। एक सृजनशील कृतिकार के नाते अपने चरितनायक को जिस विचारभूमि पर वे प्रतिष्ठित करते हैं, उससे उनकी वैचारिक सीमा और असंगतियों के साथ-साथ उनकी महान कलात्मक प्रतिभा और गहरी संवेदनशीलता का भी परिचय

मिलता है। "रामचरितमानस" इस दृष्टि से गोस्वामी जी की प्रतिनिधि रचना है। हिंदी भाषी जनता को यह जातीय महाकाव्य जनजन का कंठहार क्यों बना हुआ है? इसके काव्यरूप और प्रबंधत्व की कलात्मक विशेषताएं क्या हैं? इन प्रश्नों पर काव्यशास्त्रीय मानदंडों के अनुसार विद्वान आलोचकों ने बहुत विस्तार से विचार किया है और सभी इस नतीजे पर पहुंचे हैं कि लोकख्यात वृत्त, सर्गबद्ध कथा, धीरोदात्त नायक की प्रतिष्ठा, विराट जीवन संदर्भ, लोकमंगल के आदर्श, अन्याय पर न्याय की विजय, रस व्यंजना में वैविध्य, सहज-सुगम भाषा शैली, कथा विन्यास में आधिकारिक कथा के साथ प्रासंगिक-पताका-प्रकरी कथाओं के कलात्मक संग्रथन, मार्मिक स्थलों की पहचान, विभावन व्यापार में दृश्यात्मकता, प्रभावोत्पादक सादृश्य योजना, अलंकार विधान में अनुभवगम्य विस्तार, नैतिक आदर्शों के संदेह आदि के सफल कलात्मक संयोजन के कारण रामचरितमानस एक अद्वितीय महाकाव्यात्मक कृति है।

14.6 सारांश

इस इकाई में आपने एक कवि के रूप में तुलसीदास की विशेषताओं और सीमाओं की जानकारी प्राप्त की। तुलसी एक बड़े कवि हैं। उनके विचारों से असहमत हुआ जा सकता है परंतु उन्होंने अपनी कविता में जीवन के प्रसंगों का मार्मिक, सूक्ष्म और जीवन्त चित्रण किया है। जनभाषा अवधी को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हीं को जाता है। उन्होंने जीवन के कई पक्षों का इतना हृदयस्पर्शी चित्रण किया है कि पाठक भाव-विभोर हो जाते हैं। रामचरितमानस के एक-एक प्रसंग को पढ़कर पाठक सुध-बुध खो बैठते हैं। हाँ, जहाँ-जहाँ ब्रह्म और दर्शन का उल्लेख होता है वहाँ-वहाँ कथा-रस अवश्य बाधित होता है। कुल मिलाकर रामचरितमानस एक अद्वितीय महाकाव्यात्मक कृति है।

14.7 अभ्यास/प्रश्न

(1) "प्रबंधकार कवि की भावकुता का सबसे अधिक पता यह देखने से चल सकता है कि वह किसी आख्यान के अधिक मर्मस्पर्शी स्थलों को पहचान सकता है या नहीं।" तुलसीदास कृत रामचरितमानस के संदर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के उक्त कथन का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

(2) तुलसी की कविता में चित्रित जीवन फलक का विवेचन कीजिए।

(3) तुलसी की भाषा पर विचार कीजिए।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

गोस्वामी तुलसीदास,	:	रामचंद्र शुक्ल नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी
भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य	:	मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
मीरा का काव्य	:	विश्वनाथ त्रिपाठी दी मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड
लोकवादी तुलसीदास	:	विश्वनाथ त्रिपाठी राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली
सूरदास	:	रामचंद्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी, वाराणसी
त्रिवेणी	:	रामचंद्र शुक्ल नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-01 (N)

हिन्दी काव्य

(आदि काव्य, भक्ति काव्य एवं रीति काव्य)

खंड

4

रीति काव्य

इकाई 15
बिहारी के काव्य का महत्व 5

इकाई 16
घनानंद के काव्य में स्वच्छंद चेतना 17

इकाई 17
पद्माकर की कविता 28

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें 38

खंड 4 रीति काव्य का परिचय

पिछले दो खंडों में आपने भक्ति काव्य के प्रमुख रचनाकारों और उनकी रचनाओं की जानकारी प्राप्त की। इस खंड में आप रीति काव्य के तीन प्रमुख रचनाकारों - बिहारी, घनानंद और पद्माकर - की रचनाओं का अध्ययन करने जा रहे हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहास में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक के काल को रीतिकाल की संज्ञा दी गई है। अब तक साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति भक्ति थी, यहाँ से अलंकार, रस और नायिका-भेद कविता को प्रेरणा देने लगे। लगभग एक ढर्रे या रीति से कविता लिखी जाने लगी। काव्यांगों का लक्षण-उदाहरण देना ही कविता का उद्देश्य हो गया।

इस युग के कवियों को तीन धाराओं में विभक्त किया गया है - रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीति मुक्त।

बिहारी रीतिसिद्ध कवि थे। उन्होंने रीति की बंधी-बंधाई परिपाटी के अनुकूल रचना की पर लक्षण ग्रंथ प्रस्तुत न करके स्वतंत्र रूप से कविता लिखी। बिहारी के दोहे रीति ग्रंथ लिखने वालों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि बिहारी रीति से बंधकर भी स्वतंत्र हैं। इकाई 15 में बिहारी के काव्यगत सौंदर्य पर विचार किया गया है। बिहारी ने सतसैया की रचना की और दोहे में 'मुक्तक' लिखा। उनकी कविता में शृंगार की प्रमुखता है, हालांकि भक्ति और नीति के दोहे भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

इकाई 16 में रीति मुक्त या स्वच्छंदधारा के कवि घनानंद की कविताओं का अध्ययन किया गया है। इनकी कविताओं में अनुभूति पर आधारित प्रेम की व्यंजना हुई है। जिस युग में घनानंद ने कविता लिखी उस युग में शृंगार का बोलबाला था। यह शृंगार उपभोग-प्रधान था। घनानंद के लिए प्रेम खेल नहीं था बल्कि उसमें सब कुछ गंवाकर प्रेम को प्राप्त करने की आकांक्षा थी। उनके लिए प्रेम एक सच्चा मार्ग था जिसपर कपटी और बुरे आचरण वाले लोग नहीं चल सकते । उनके प्रेम में अनुभूति है जो उस युग के कवियों में ढूँढने पर भी नहीं मिलती। यही घनानंद के महत्व का आधार है।

रीतिबद्ध कवियों ने लक्षण ग्रंथ लिखे। उनकी कविता उन लक्षणों के उदाहरणों के रूप में सामने आई। रीतिबद्ध कवियों में केशवदास, सेनापति, मतिराम, देव और पद्माकर प्रमुख हैं। हम इस खंड में पद्माकर की कविताओं का अध्ययन करेंगे (इकाई 17)। पद्माकर रीतिबद्ध कवि हैं। पद्माकर ने रीति काव्य के साथ-साथ प्रशस्ति काव्य और भक्ति काव्य की भी रचना की है। परंतु अपनी शृंगारिक कविताओं के लिए वे प्रसिद्ध हैं। पद्माकर को अनेक राजदरबारों में आश्रय मिला। वे राजसी ठाठ में रहते थे और शृंगारिक कविताएँ लिखते थे। 'जगद्विनोद' उनका प्रमुख शृंगार ग्रंथ है। उन्होंने अपने इस काव्य ग्रंथ में शृंगार, रस और नायक-नायिका भेद का विस्तार से वर्णन किया है। वे कवि के साथ-साथ आचार्य भी थे। इस खंड की अंतिम इकाई (इकाई 17) में हम पद्माकर की काव्यगत विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

इकाई 15 बिहारी के काव्य का महत्व

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 समकालीन परिवेश
15.3 शृंगार निरूपण
  15.3.1 संयोग चित्रण
  15.3.2 वियोग चित्रण
15.4 प्रकृति चित्रण
15.5 भक्ति और नीति
15.6 मुक्तक काव्य परंपरा और बिहारी
15.7 बिहारी की भाषा
15.8 सारांश
15.9 प्रश्न/अभ्यास

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम बिहारी की कविता का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप :

- बिहारी के समकालीन परिवेश की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे
- शृंगार के कवि के रूप में बिहारी से परिचित हो सकेंगे
- बिहारी की कविताओं में हुए प्रकृति चित्रण के स्वरूप पर विचार कर सकेंगे
- बिहारी के भक्ति और नीति संबंधी दोहों की विशेषताएँ जान सकेंगे
- मुक्तक कवि के रूप में बिहारी की उत्कृष्टता को रेखांकित कर सकेंगे
- बिहारी की भाषा पर प्रकाश डाल सकेंगे; और
- हिंदी साहित्य में बिहारी का स्थान-निर्धारण और मूल्यांकन कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

बिहारी रीतिकाल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। बिहारी की एकमात्र कृति "सतसई" है, और यह इस बात का प्रमाण है कि किसी कवि की श्रेष्ठता की अंतिम कसौटी उसके कृतित्व का परिमाण नहीं, गुण ही है। केवल चौदह सौ से कुछ अधिक पंक्तियाँ लिखकर बिहारी ने जो यश अर्जित किया, वह बहुतेरे चौदह हज़ार पंक्तियों के रचयिता के लिए भी दुर्लभ है। लोकप्रियता की दृष्टि से "बिहारी सतसई" का एकमात्र प्रतिद्वंद्वी "रामचरितमानस" है।

अनुमानत: बिहारी का जन्म 1595 ई. में ग्वालियर में हुआ। बचपन में ही उन्हें अपने पिता के साथ ग्वालियर से ओरछा चला जाना पड़ा, जहाँ उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। बिहारी का विवाह मथुरा के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ और विवाहोपरांत वहाँ बहुत दिनों तक रहे भी।

रीति-कविता राजाओं और रईसों के आश्रय में पली थी। रीति-कवियों के आश्रयदाता तत्कालीन राजा और रईस ही थे। रीति काव्य के सिरमौर बिहारी के आश्रयदाता कई राजा थे। उन्हें कुछ काल तक जहाँगीर के दरबार में रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ। वे शाहजहाँ के कृपापात्रों में थे। 1620 ई. में शाहजहाँ के पुत्र-जन्मोत्सव पर सारे देश के अनेक नरेश आमंत्रित हुए थे। बिहारी को उस आयोजन में अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय देने का अवसर मिला, जिससे प्रसन्न होकर अनेक राजाओं ने उनकी थोड़ी-थोड़ी वृत्ति बाँध दी। 1621 ई. में नूरजहाँ की कुटिलता के कारण शाहजहाँ को आगरा छोड़ देना पड़ा और, इसके साथ ही बिहारी का भी मुगल दरबार से सम्बन्ध टूट-सा गया। इसके उपरांत उनका जीवन कुछ काल तक बड़ी अनिश्चित स्थिति में रहा। 1635 ई. के आसपास वे अपनी वृत्ति के लिए जयपुर के राजदरबार में गए, जहाँ महाराजा जय सिंह राज्य की सारी चिंताओं से दूर अपनी नई रानी में डूबे हुए थे। तब उन्होंने महाराज की सेवा में यह दोहा भेजा -

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
> अली कली ही सों बंध्यौ, आगे कौन हवाल।।

अर्थात "न पराग है, न मीठा मकरंद; इस समय तक विकास भी नहीं हुआ है - वह खिली भी नहीं है। अरे भौंरा! काली से ही तो तू इस प्रकार उलझ गया, फिर आगे तेरी क्या दशा होगी।" इस दोहे ने महाराज पर जादू का-सा असर किया और वे अंत:पुर से निकलकर फिर राज-काज देखने लगे। बिहारी पुरस्कृत हुए और भविष्य में इस प्रकार के प्रत्येक दोहे पर एक स्वर्ण मुद्रा पुरस्कार स्वरूप देने का आश्वासन भी मिला। बड़ी रानी श्रीमती अनन्त कुमारी (चौहानी रानी) ने बिहारी का सम्मान करते हुए "काली पहाड़ी" नामक एक ग्राम दे डाला। साथ ही, उपर्युक्त घटना का स्मारक चित्र भी बनवाया, जो जयपुर के राज प्रासाद में सुरक्षित है। आगे चलकर चौहानी रानी के पुत्र युवराज राम सिंह के लिए बिहारी को शिक्षक भी नियुक्त किया गया। महाराज जयसिंह के दरबार से एक लम्बे समय तक बिहारी का सम्बन्ध रहा और वहाँ रहते हुए "सतसई" के अधिकतर दोहे लिखे गए। कहा जाता है कि "सतसई" की रचना बिहारी लाल ने महाराज जय सिंह के लिए की थी। उन्होंने निम्नलिखित दोहे में इसका संकेत किया है -

हुकुम पाय जयसाह को, हरि राधिका प्रसाद।
करी बिहारी सतसई, भरी अनेक सवाद।।

शाहजहाँ के सम्राट बनने के बाद बिहारी का पुन: मुगल दरबार से सम्बन्ध जुड़ गया और उनका शेष जीवन बड़े गौरव और सम्मान के साथ व्यतीत हुआ। उनका देहावसान 1663 ई. के आसपास माना जाता है।

15.2 समकालीन परिवेश

बिहारी के जीवन के इतिवृत्त से स्पष्ट है कि उन्हें विभिन्न राज दरबारों में आश्रय मिला। तब अधिकांश राजाओं का जीवन सामयिक राजनीति से पृथक अवकाश और विलास का जीवन था। दिल्ली का राजवंश ऐश-आराम में मस्त था। राजाओं और रईसों के लिए अवकाश और विलास का अवसर कहीं अधिक था। इनमें आत्म-गौरव की चेतना नि:शेष हो चुकी थी। जीवन के प्रति इनका दृष्टिकोण सर्वथा ऐहिक और सामंती रह गया था। किंतु ऐहिकता और सामंतवाद की शक्ति भी अब उनमें नहीं थी, केवल भोगवाद ही शेष था। अतएव ये लोग भोग के सभी उपकरणों को एकत्र करने में प्रयत्नशील रहते थे जिनमें सरस काव्य भी सम्मिलित था। वह सरस काव्य केवल विनोद का रसाला ही नहीं था, एक परिष्कृत बौद्धिक आनंद का साधन तथा व्यक्तित्व का शृंगार भी था। राजा और रईस रससिद्ध कवियों का सत्संग और काव्य का आस्वादन अनिवार्य समझते थे। इससे उनका व्यक्तित्व कलात्मक एवं संस्कृत बनता था।

बिहारी इसी परिवेश में सतसई के दोहों की रचना कर रहे थे। उनके सामने जीवन का कोई ऊँचा आदर्श या यथार्थ की खुरदरी ज़मीन नहीं थी, रूप-रस की उपासना ही उनका मुख्य लक्ष्य था। बिहारी इस रूप-रस के बेजोड़ उपासक कवि हैं। रूप-चित्रण में नारी ही उनका आलंबन है। उन्होंने जैसी अमलवर्ण अनिन्द्य सुंदरियों का गतिशील रूप रेखांकित करने का प्रयास किया है, वे किसी भी साहित्य का शृंगार बन सकता है। रूप-वर्णन में विद्यापति भी कम नहीं हैं, पर दोनों में भारी अंतर यह है कि विद्यापति की नायिका "साँवरि" है जबकि बिहारी लाल ने साँवलियों का मानो तिरस्कार ही किया है। इसके पीछे कहीं-न-कहीं दरबारी संस्कृति का असर है। दरबार में "साँवरि" की पूछ कहाँ? बिहारी की नायिका की गोराई - दुधिया गोराई - है। उनकी श्वेत-वर्णा नायिका की निष्कलंक प्रभा परमोज्ज्वल है, ऐसी कि प्रेक्षकों की आँखों में भी दूध उड़ेल देती है -

कहा कुसुम, कह कौमदी, कितक आरसी-जोति।
जाकि उजराई लखै, आंखि ऊजरी होति।।

रीति-काव्य जिस दरबारी परिवेश में रचा जा रहा था, वहाँ काव्य मात्र क्रीड़ा और मनोविनोद की वस्तु बनकर रह जाता है। उसमें अलंकारों की प्रचुरता, उक्ति की बारीकी और भाषा की सजावट-सँजावट पर अधिक ध्यान दिया जाता है और उद्देश्य की व्यापकता गौण पड़ जाती है। बिहारी के काव्य में भी ये सारी बातें कमोबेश देखी जा सकती हैं। इस अर्थ में बिहारी का काव्य अपने परिवेशगत संस्कारों का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। तत्कालीन राजाओं, रईसों एवं दरबारी-जनों के लिए सौंदर्य अपने-आप में उतना मनोज्ञ नहीं समझा जाता था। उसकी मनोज्ञता के लिए अलंकरण आवश्यक शर्त थी। बिहारी

ने भी अलंकरण पर बहुत अधिक बल दिया है। यह अलंकरण प्राय: वस्त्रों के चटकीलेपन, अलंकारों के बहुल प्रयोग और प्रसाधनाधिक्य के रूप में देखने को मिलता है। बिहारी की नायिका की ऐसी स्थिति है कि

अंग-अंग नग जगमगत, दीप सिखा-सी देह।
दिया बढ़ाए हू रहे, बड़ो उजारौ गेह।।

अर्थात "दीपक की लौ के समान नायिका के अंग-प्रत्यंग में नग जगमगा रहे हैं। अतएव दीपक बुझा देने पर भी घर में (ज्योतिपूर्ण शरीर और नगों के प्रकाश से) खूब उजाला रहता है।" इसके विपरीत, लोक जीवन की नैसर्गिक सुषमा की ओर या तो कवि की दृष्टि जाती ही नहीं और जाती भी है तो ग्राम वधू के "ललचौंहे नैन" और "उठौंहे कुच" से ही टकराकर रह जाती है।

15.3 शृंगार निरूपण

बिहारी शृंगार के बड़े कवि हैं। उनके दोहों में शृंगार के दोनों पक्षों - संयोग और वियोग - का विशद् और सूक्ष्म चित्रण हुआ है। बिहारी की कविता में प्रेम के भौतिक पक्ष का वर्चस्व है। इसमें वर्णित प्रेम सामंती है जिसका मूल आधार रूपासक्ति है।

15.3.1 संयोग चित्रण

बिहारी की कविताओं में संयोग शृंगार के प्रति विशेष ललक दिखाई पड़ती है। संयोग शृंगार का मूल आधार रूपासक्ति और शारीरिक आकर्षण है जिसमें नायक-नायिका के रूप, भंगिमा, चेष्टा आदि का बाहुल्य है। देखकर, सुनकर, स्पर्श कर, बातचीत कर संयोग का परिवेश तैयार होता है। बिहारी के शृंगार वर्णन में क्रीड़ा की प्रधानता है। बिहारी प्रेम को चौगान का एक खेल मानते हैं -

सरस सुमिल चित्र तुरंग की, करि-करि अमित उठान।
गोह निबाहें जीतियै, खेलि प्रेम चौगान।।

बिहारी का प्रेम घनानंद के प्रेम के समान उदात्त नहीं है जहाँ प्रेम 'अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँकी नहीं।' यहाँ प्रेम में जीवन-मरण का सवाल है। बिहारी के नायक-नायिकाओं के लिए तो प्रेम एक खेल है।

जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है, बिहारी का मुख्य वर्ण्य-विषय नायक-नायिका का संयोग-वियोग वर्णन है। इस संयोग-वियोग वर्णन में भी उनकी दरबारी मनोवृत्ति की झलक देखने को मिलती है। उनके संयोग-चित्रों में मानसिक विशदता और उत्फुल्लता उतनी नहीं मिलती जितना नायिका की विभिन्न शारीरिक चेष्टाओं का मनोरम अंकन मिलता है। इसे शास्त्रीय शब्दावली में "अनुभाव योजना" कहते हैं। उदाहरण के लिए आँखों का लाल होना, भौहों का चढ़ना आदि अनुभाव हैं जिनसे क्रोध की व्यंजना होती है। बिहारी एक ही भाव की व्यंजना के लिए एक-साथ अनेक अनुभावों का चित्रण करते हैं। इस संदर्भ में बिहारी अपना सानी नहीं जानते। रीति-युग के वे सबसे बड़े शब्द-चित्रकार हैं। उनकी बनाई तस्वीरें बड़ी साफ हैं, जिनमें नायिका की भिन्न-भिन्न भंगिमाओं, उसके अंगों के बाँकपन और उठान, उसकी एक-एक अदा और खूबी को देखा जा सकता है -

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै दैन कहै नटि जाय।।

(राधा ने) बातचीत का मजा लेने के लिए लोभ से श्रीकृष्ण की मुरली छिपाकर रख दी। (अब श्रीकृष्ण के माँगने पर) शपथ खाती है, भौंहों से हँसती है। (भौंहों को नचा-नचाकर प्रसन्नता जताती है) देने को कहती है (देने के लिए तैयार होती है) और पुनः मना कर देती है। वस्तुत: बिहारी का प्रत्येक दोहा अपने-आप में एक पूरी तस्वीर है। उन्होंने दोहे जैसे छोटे छंद का प्रयोग करके भी चित्र में कहीं धूमिलता नहीं रहने दी है। इतनी कम रेखाओं से ऐसी साफ तस्वीर खींच देना किसी कुशल चित्रकार के लिए भी कठिन होता है।

बिहारी नायिका की मुद्राओं का सहज चित्रण करने में माहिर हैं। देखिए एक चित्रण -

कर समेटि कच भुज उलटि खएँ सीसपट डारि।
काको मन बाँधै न यह जूरो बाँध निहारि।।

नायिका अपने हाथों से अपने बालों को झटक कर पीछे ले जाती है और उसका जूड़ा बना रही है। कवि कहता है कि यह दृश्य किसी को भी बाँध सकता है। यहाँ नायिका की चेष्टाओं का वर्णन मात्र कर दिया गया है। इसमें किसी प्रकार के भाव की स्थापना नहीं है। नायिका की मुद्राओं का सहज वर्णन इस दोहे की विशेषता है।

बिहारी-सतसई नायक-नायिका की ऐसी ही चेष्टाओं-क्रियाओं के चित्रण से भरा पड़ा है। गुरुजनों के बीच बैठे नायक-नायिका के बीच आँखों ही आँखों में प्रेम संवाद होता है -

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात।
भरे भौन में करत हैं, नैननु हीं सब बात।।

प्रेम में प्रिय की सभी वस्तुएँ प्यारी लगती हैं। एक बानगी देखिए :

उड़ति गुडी लखि लाल की, अंगना अंगना मांहि।
बौरी लौं दौरी फिरति, छुअत छबीली छांहि।।

नायक पतंग उड़ा रहा है, उसकी परछाईं नायिका के घर पर पड़ रही है। नायिका उस परछाईं के पीछे-पीछे भाग रही है तथा पतंग की छाया को छूकर प्रिय-स्पर्श के सुख का अनुभव कर रही है। बिहारी के अनेक दोहों में इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक अवस्था का चित्रण किया गया है।

यह सही है कि बिहारी के संयोग शृंगार में युग का विलासी-वातावरण चित्रित हुआ है जिसमें उन्होंने जीवन के रसीले प्रसंगों का सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। इसीलिए संयोग-शृंगार को उनकी काव्य की आत्मा माना गया है। उनकी कविताओं में नायक-नायिका की मुद्राएँ, हाव-भाव, चेष्टाएँ पाठक को मुग्ध और चमत्कृत करती हैं। बिहारी ने रूप वर्णन के साथ-साथ रूप की सूक्ष्म अनुभूतियों का भी चित्रण किया है। उन्होंने प्रेम और सौंदर्य का सूक्ष्म चित्रण किया है।

15.3.2 वियोग चित्रण

शृंगार-रस में वियोग का विशेष महत्व है क्योंकि इसमें प्रेमानुभूति की गहरी और व्यापक अनुभूति होती है। जब प्रेम विरह की आग में तपता है तब ही उसकी असली परीक्षा होती है। कवि विरह की इस व्यापकता को पहचानता है -

लाल, तुम्हारे बिरह की अगनि अनूप, अपार।
सरसै बरसैं नीर दूँ, झर हूँ मिटै न झार।।

अर्थात् प्रिय तुम्हारे विरह की अग्नि की तुलना और किसी चीज़ से नहीं की जा सकती, इसकी थाह भी नहीं ली जा सकती। ऊपर से नीचे तक मैं आँसू की धारा बन गई हूँ फिर भी इस प्रचंड ताप की जलन मिट नहीं रही है।

बिहारी ने अपनी कविता में नायक के परदेश जाने के प्रसंग और उससे उत्पन्न विरह वेदना का यथार्थ चित्रण किया है -

अजौ न आए सहज रंग, बिरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयत ललन चलन की बात।।

नायक 'परदेस' जा रहा है। सखी कहती है कि अभी तो प्रथम वियोग से ही नायिका पूरी तरह उबर नहीं पाई थी कि प्रिय के जाने का समय आ गया। विरह में दुबले हो गए शरीर (विरह दूबरे गात) में वियोग की पीड़ा व्यंजित हुई है। इन पंक्तियों में विरह सीधे-सीधे हमारी संवेदना और सुख-दुःख की अनुभूति से जुड़ गया है।

प्रिय का इंतज़ार कठिन और पीड़ादायी होता है। आसपास की चीज़ों में प्रिय की ही तस्वीर नज़र आती है पर प्रिय नहीं होता। कवि ने प्रेमिका की इसी संवेदना को निम्नलिखित दोहे में व्यक्त किया है -

स्याम-सुरति करि राधिका, तकति तरनिजा-नीर।
अँसुवनि करति तरौंस को खिनक खरौहों नीर।।

राधा श्याम का स्मरण करके बार-बार श्याम-वर्णी यमुना की ओर देख रही है। यमुना में उसे श्याम का प्रतिबिंब दीख रहा है पर श्याम आते नहीं दीखते। यमुना तट को देखकर न जाने कितनी यादें ताज़ा हो जाती हैं। आँसू खारा है और इसके निरंतर प्रवाहित होने से यमुना तट का जल भी खारा हो जाता है।

प्रतीक्षा की एक-एक घड़ी युगों के समान मालूम पड़ती है। नायक की प्रतीक्षा, आतुरता, उत्सुकता और अधीरता का वर्णन निम्नलिखित दोहे में हुआ है -

जदपि तेज राहौल बल पलकौ लगी न बार।
तौ ग्वैंडो घर को भयौ पैंडो कोस हजार।।

नायक तेज़ चलने वाले घोड़े पर सदार होकर पलक झलकते ही घर के बाहर पहुँच जाता है किंतु घर का रास्ता ही उसे हज़ार कोस लगने लगा। प्रतीक्षा की वेला का बड़ा ही सुंदर चित्रण बिहारी ने किया है।

लेकिन जैसे ही बिहारी की वाणी अतिशयोक्तिपूर्ण एवं ऊहात्मक होती है वहीं विरह की उक्तियाँ खिलवाड़ मात्र बनकर रह जाती हैं। उनकी ये उक्तियाँ विरहिणी के प्रति पाठक की सहानुभूति तो नहीं ही उकसा पाती, उल्टे इस प्रयत्न में विरहिणी हास्यारपद बन जाती है -

आड़ै दै आले वसन, जाड़े हूँ की राति।
साहस ककै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति।।

'जाड़े की (ठंडी) रात में भी गीले कपड़े की ओट कर, बड़े साहस से प्रेमवश सभी सखियाँ (उस विरहिणी नायिका के) निकट जाती हैं। (क्योंकि उसके शरीर में ऐसी प्रचंड विरह-ज्वाला है कि आँच सही नहीं जाती!)।' इसलिए बिहारी की विरहिणी जाड़े में भी गीले वस्त्र पहनकर उसके पास जाती है। विरह की व्याकुल नायिका की ज्वाला को शांत करने के लिए जब सखियाँ गुलाब जल डालने का प्रयास करती हैं तो वह बीच में ही वाष्प बनकर उड़ जाता है -

औंधाई सीसी, सुलखि विरह - बरनि बिललात।
बिच हीं सूखि गुलाबु गौ, छीटौ छुई न गात।।

विरह-संबंधी अत्युक्ति के अखाड़े में तो बिहारी उर्दू-फारसी के कवियों को भी पीछे छोड़ देते हैं। उर्दू कवियों का "आशिक" तो "इन्तहाए लागरी" से मौत को सिर्फ नंगी आँखों से नहीं दीख पड़ा था, मगर बिहारी की नायिका की कृशता इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि चश्मा लगाने पर भी वह नहीं देखी जाती-

करी विरह ऐसी तऊ गैल न छाड़त नीचु।
दीनेहूँ चसमा चखनि चाहे लखै न मीचु।।

विरह ने नायिका को ऐसी दुबली-पतली बना दिया तो भी नीच मृत्यु उसका पीछा नहीं छोड़ती। आँखों पर चश्मा चढ़ाकर भी उसे ढूँढ निकालना चाहती है, पर तो भी नहीं ढूँढ पाती। इस संदर्भ में जफर का शेर बरबस याद हो आता है -

नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
कोने-कोने ढूँढती फिर कजा थी मैं न था।।

वस्तुत: बिहारी का संयोग वर्णन जितना सफल हुआ है उतना वियोग वर्णन नहीं। लगता है बिहारी को जीवन के संयोग पक्ष का जैसा अनुभव था वैसा वियोग पक्ष का नहीं। नायिका की सुकुमारता, विरह ताप, विरह क्षीणता आदि में बिहारी कहीं-कहीं औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर गए हैं और वहाँ

उनकी कविता खिलवाड़ मात्र बन गई है। इनके-विरह-वर्णन में न तो सूर की स्वाभाविकता और तीव्रता है और न जायसी की सी गहनता और अशेष सृष्टि के साथ रागात्मकता। वियोगावस्था में पहुँचते ही बिहारी की नायिका कभी चन्द्रमा और समीर के सामने दौड़ती-फिरती है, कभी जुगनुओं को अंगारे समझकर भीतर छिप जाने की सलाह देती है। रोती है तो आँसू छाती पर पड़ते ही भाप बन कर उड़ जाते हैं। गुलाबजल छिड़कने पर वह भीतर ही सूख जाता है। ऐसे स्थलों में बिहारी बुरी तरह असफल रहे हैं।

बिहारी का मन वियोग-वर्णन में रमा नहीं और विरह में प्रेम क जिस उदात्त रूप का रससिद्ध कवि साक्षात्कार करा दिया करते हैं, बिहारी नहीं करा सके। वे प्रेम के सहज रूप को कम और उसके मनोहर रूप को अधिक पसंद करते हैं। वे उसके कल्पना-कोमल रूप को उभारने का अधिक प्रयास करते हैं और उसकी अनायास शोभा को कम। वे चित्र को कलापूर्ण बनाने में अधिक श्रम करते हैं, उसे वैयक्तिक संबंधों की अनुभूतियों से रंग नहीं पाते। इसीलिए न तो उनमें कालिदास और भवभूति का प्रेमादर्श है, न ही सूर की गहनता और व्यापकता और न ही तुलसी की शालीनता। इस संदर्भ में रीति-युग के ही मतिराम, पद्माकर और देव में अधिक गहनता है। वस्तुत: बिहारी का प्रेम चित्रण रसिकता की कोटि तक पहुँच कर रह गया है, उसकी उच्च भावभूमि पर नहीं पहुँच पाया है। इसके बावजूद बिहारी रीति-युग के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि हैं। इसका मुख्य कारण रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में बिहारी की कृति का जो अधिक मूल्य आँका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यत: दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए - उसके पक्ष से समझना चाहिए जो किसी हाथी दाँत के टुकड़े पर महीन बेलबूटे देखकर घंटों वाह-वाह किया करते हैं पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते हैं उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता। बिहारी का काव्य हृदय में किसी ऐसी लय या संगीत का संचार नहीं करता जिसकी स्वरधारा कुछ काल तक गूँजती रहे। यदि घुले हुए भावों का आभ्यांतर प्रवाह बिहारी में होता तो वे एक दोहे पर ही संतोष न करते। मार्मिक प्रभाव का विचार करें तो देव और पद्माकर के कवित्त सवैयों का-सा गूँजने वाला प्रभाव बिहारी के दोहों का नहीं पड़ता।

15.4 प्रकृति चित्रण

बहरहाल सम्पूर्ण भक्ति और रीति-काल में प्रकृति उपेक्षिता रही है। उसे या तो मानव व्यापारों की पृष्ठभूमि बनना पड़ा है अथवा मानव-सौंदर्य के अंकन-क्रम में अलंकार रूप में उसका उपयोग हुआ है। उसकी स्वतंत्र सत्ता की ओर बहुत कम कवियों ने ध्यान दिया। बिहारी भी इस सामान्य नियम के अपवाद नहीं थे। उनके मन में प्रकृति-सौंदर्य के प्रति कोई ममत्व नहीं, फिर भी दो-चार वसन्त, ग्रीष्म या पावस से सम्बद्ध अच्छे दोहे उनकी लेखनी से फिसल पड़े हैं। वह उनकी प्रतिभा का वैसा ही दिशान्तर-भ्रमण है, जैसे कभी-कभी शहराती बाबू "पिकनिक" के लिए पड़ोस की वनभूमि की ओर निकल जाते हैं। प्राचीन कवियों में से सेनापति को छोड़कर किसी ने भी प्रकृति का आलम्बन रूप में ग्रहण नहीं किया। प्राय: उपदेश, रहस्य, अलंकार-विधान या उद्दीपन रूप में उसका प्रयोग किया गया है। बिहारी ने भी उसका ग्रहण अप्रस्तुत रूप में किया है, पर कहीं-कहीं पर उसको स्वतंत्र इकाई के रूप में भी चित्रित किया है। बिहारी का एकाध प्रकृति-चित्र तो बेजोड़ है -

रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु नीरु।
मंद-मंद आवतु चल्यौ कुंजर कुंज समीरु॥

भौंरे-रूपी घंटे बज रहे हैं और मकरंद-रूपी गज-मद झर रहा है। कुंज-समीर-रूपी हाथी मंद-मंद चला आ रहा है। एक दूसरा प्रकृति-चित्र देखिए -

बैठी रही अति सघन वन पैठि सदन तन मांह।
देखी दुपहरी जेठ की छांहौं चाहति छांह॥

छाया या तो अत्यंत सघन वन में बैठ रही है या बस्ती के घर या जीवों के शरीर में घुस गई है। मालूम पड़ता है जेठ मास की दुपहरी देखकर छाया भी छाया चाहती है। ध्यातव्य है कि जेठ की दुपहरी में सूर्य ठीक सिर के ऊपर मध्य आकाश में रहता है। अत: सब चीज़ों की छाया अत्यंत छोटी होती है। पेड़ की

छाया ठीक उसकी डालियों के नीचे रहती है। घर की छाया घर में ही घुसी रहती है - दीवार से नीचे नहीं उतरती। शरीर की छाया भी नहीं दीख पड़ती - परछाई पैरों के नीचे चली जाती है, मानो वह भी शरीर में ही घुस गई हो। इस दोहे से बिहारी के प्रकृति निरीक्षण-नैपुण्य का उत्कृष्ट परिचय मिलता है।

यहाँ पर प्रकृति के चित्रांकन और नाद-सौंदर्य मनोरम बन पड़े हैं। बिहारी ने मनुष्य स्वभाव को प्रकृति से बहुत कुछ प्रभावित माना है। अत: दोनों को आमने-सामने रखकर चित्रित किया है। इसके बावजूद प्रकृति-चित्रण के संदर्भ में कहना ही होगा कि बिहारी 'शहराती बाबू' की तरह पिकनिक के लिए पड़ोस की वनभूमि की ओर निकले हैं। वस्तुत: 'बिहारी सतसई' में प्रकृति के प्रति यह दुराव या अनभिज्ञता दरबारी संस्कृति में आपाद-मस्तक डूबे रहने के कारण है। राज दरबारों में तो प्रकृति के औदार्य एवं विस्तार का दर्शन दुर्लभ ही रहता है। किंतु जहाँ वे प्रकृति का मनोरम दृश्य चित्रित करते हैं, वहाँ दरबारी संस्कृति से मुक्ति भी दिखाई पड़ती है।

15.5 भक्ति और नीति

भक्ति

बिहारी ने भक्ति और नीति के दोहे भी लिखे हैं। और यहाँ वे दरबारी संस्कृति से मुक्त होते प्रतीत होते हैं। यह सही है कि रीति-काल के अधिकांश कवियों की भाँति बिहारी की भक्ति भी औपचारिक है और शायद कवि के आत्म-प्रबोध का एक बहाना भी! बिहारी ने जहाँ अपने आराध्य का स्मरण किया है, वहाँ भी उनकी रसिकता, चमत्कारप्रियता और अलंकरण-वृत्ति साथ लगी हुई है। "सतसई" के मंगलाचरण वाले इस दोहे को देखें -

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं स्याम हरित-दुति होइ॥

ध्यातव्य है कि कवि का सांसारिक कष्टों के शमन के लिए निवेदन "नागरी राधा" से है। दोहे के चौथे चरण के चमत्कार के संबंध में तो कुछ कहना ही व्यर्थ है, जिसके दर्जनों अर्थ किए जा चुके हैं। तब इतना अवश्य है कि बिहारी मुक्ति हेतु तीर्थ-व्रत और कर्मकांड को व्यर्थ घोषित कर अनन्य भगवत्प्रेम और सत्संग पर बल देते हैं -

जपमाला छापा तिलक सरै न एको काम।
मन काँचै नांचै वृथा साँचै राँचे राम॥

जप (मंत्र-पाठ), माला (सुमिरन), छापा या तिलक से एक भी काम नहीं सध सकता - कोई भी मनोरथ सिद्ध नहीं हो सकता। जब मन कच्चा है - मन वश में नहीं है तो यह सारा नाच (आडम्बर) वृथा है, (क्योंकि) राम तो सत्य से ही प्रसन्न होते हैं (आडम्बरों से नहीं)। कबीरदास ने भी इन्हीं भावों से मिलते-जुलते लिखा है -

माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माँहि।
मनुआँ तो दस दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाँहि॥

बिहारी और कबीर दो विपरीत ध्रुवों पर स्थित हैं, किंतु यह भाव-साम्य रेखांकित करने योग्य अवश्य है।

"बिहारी सतसई" में भक्ति की चर्चा है,किंतु इससे बिहारी को भक्त नहीं कहा जा सकता। यद्यपि इस बात के प्रमाण हैं कि बिहारी की शिक्षा-दीक्षा ओरछा में ही हुई और वे वहाँ हरिदास सम्प्रदाय के महात्मा नरहरि दास के शिष्य हो गए। किंतु इनकी आस्था किसी वाद विशेष पर नहीं थी। उन्होंने समान भाव से राम, कृष्ण और नृसिंह का स्मरण किया है। कहीं निर्गुण की महिमा मुक्त कंठ से गाई है। प्रतिबिम्बवाद और अद्वैतवाद के संबंध में भी कुछ न कुछ कहा है। नाम-स्मरण पर भी अत्यंत बल दिया है। कहीं-कहीं पर अपने आराध्य देव के प्रति अति श्रद्धामयी वचनवक्रता से भी काम लिया है। यह सब कुछ होते हुए भी उन्हें भक्त नहीं कहा जा सकता है। वे पहले कवि हैं और वह भी अनुराग के, विराग के नहीं। भक्त का हृदय उन्हें प्राप्त नहीं था। तभी तो उनकी दृष्टि राधा की तनद्युति पर टिकी रही है, मन तक नहीं जा सकी। भक्तों के हृदय की-सी पवित्रता, आर्द्रता, कोमलता, कातरता, दीनता

और भावमग्नता उनमें नहीं है। फिर भी इतना तय है कि बिहारी के भक्ति संबंधी दोहे उनकी दरबारी संस्कृति से एक सीमित अर्थ में मुक्ति के प्रमाण हैं।

नीति

बिहारी के नीति के दोहे भले ही भक्ति के दोहों की तरह हाशिये पर हों, पर वे बिहारी के विशद जीवनानुभव और बहुज्ञता के प्रमाण हैं। उन्होंने न केवल सामान्य रीति-नीति और दरबारी अदब-कायदों से अपने पाठकों को अवगत कराने की आवश्यकता समझी है बल्कि जीवन के विभिन्न पक्षों, उतार-चढ़ाव के संबंध में भी मार्मिक सूक्तियाँ कही हैं। इसी क्रम में वे हँसते-हँसते अपने समाज की असंगतियों पर भी उंगली रख देते हैं। देखिए, पुंसत्व की दवा देने वाले एक वैद्य जी के प्रति कितना गहरा व्यंग्य है -

बहुधन लै अहसान कै, पारौ देत सराहि।
वैदवधू हँसि भेद सौं रही नाह-मुँह चाहि।।

बेचारा रोगी तो विश्वासपूर्वक पौष्टिक भस्म ले लेता है, लेकिन वैद्य की पत्नी, जो स्वयं पति की नपुंसकता को जानती है, इस ढकोसले को देखकर अपनी मुस्कुराहट नहीं छिपा पाती। ऐसे प्रसंगों में बिहारी की कविता दरबारी संस्कृति से मुक्त दृष्टिगत होती है।

बिहारी के नीति के दोहे कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन दोहों में जीवन की कठोर वास्तविकता पर बड़ी मार्मिक उक्तियाँ कही गई हैं। ऐसा लगता है शृंगार के दोहे जहाँ राजाओं और आश्रयदाताओं के मनोविनोद के लिए लिखे गए हैं, वहाँ नीति के दोहे वास्तविक जीवन में पैठकर रचे गए हैं। इन दोहों में जिंदगी के वे आनंद और विषादपूर्ण अनुभव व्यक्त हुए हैं, जो कवि ने घूम-घूम कर पाये थे। एक ओर उन्होंने सज्जनों की वह मित्रता पाई थी, जो कभी नहीं घटती -

चटक न छाँड़त घटतहूँ सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरू फटै रंग्यो चोल रंग चीर।।

ऐसे सज्जन ज्यों-ज्यों उन्नति करते जाते हैं, त्यों-त्यों विनम्र होते जाते हैं -

नर की अरु नीलनीर की गति एकै करि जोय।
जेतो नीचौ ह्वै चलै तेतो ऊँचौ होय।।

यह भी देखा था कि अधिक दिनों तक पहुनाई करने से मान घट जाता है -

आवत जात न जानियत, तेजहि तजि सियरान।
घरहिं जँवाई लौ घट्यो, खरो पूस-दिनमान।।

महाराज जयसिंह की मृत्यु के पश्चात राज्य के लिए उनके उत्तराधिकारियों में होने वाले झगड़े और इस कारण उपेक्षित-पीड़ित प्रजा को देखकर बिहारी ने अनुभव किया था कि अधिक मालिकों के हो जाने से प्रजा को दुख भोगना पड़ता है -

दुसह दुराज-प्रजान को, क्यों न बढ़ै दुख द्वंद।
अधिक अंधेरो जग करै मिलि पावस रविचंद।।

कवि ने धन के नशे में चूर उन व्यक्तियों को देखा था और पाया था कि धन का नशा धतूरे के नशे से भी बढ़कर होता है -

कनक कनक ते सौगुनी मादकता अधिकाय।
वहि खाये बौरात नर यहि पाये बौराय।।

वस्तुत: नीति के दोहे अनुभव की खमीर से बने हैं। कवि ने अपने काव्य-कौशल से इन्हें परम विश्वसनीय और काव्योपयोगी बना दिया है। जल से सज्जन की तुलना करके कवि ने सज्जन के स्वभाव को बड़ी खूबी से उदाहृत कर दिया है। इसी प्रकार, दो राजाओं से उत्पन्न स्थिति को अमावस्या

की पृष्ठभूमि में रखना, जबकि सूरज और चाँद के मिल जाने से घोर अंधेरा हो जाता है, बिहारी की कवि-बुद्धि का परिचायक है।

15.6 मुक्तक काव्य परंपरा और बिहारी

बहुत बड़ी बात को थोड़े शब्दों में चमत्कारपूर्ण ढंग से कह देना, एक बड़े प्रसंग को दोहे की सीमित काया में अंटाकर अलंकारों की लड़ी पिरो देना बिहारी का प्रमुख कौशल है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में **मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं। मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं बहती, जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं, जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।**

भारत में ईसा के आसपास से ही ऐसे शृंगारिक मुक्तकों का प्रचलन था, जिसमें धर्म और नैतिकता के अनुशासन से दूर लोक जीवन के रसमय पक्षों की झाँकी उपस्थित की जाती थी। इस संदर्भ में सातवाहन नरेश हाल की प्राकृत रचना "गाथा सप्तशती" उल्लेखनीय है। इसमें आभीर जाति के जीवन के उन्मुक्त हास-विलास, मनोरम प्रेम-क्रीड़ाओं और उन्मादक काम चेष्टाओं का मार्मिक अंकन हुआ है। यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई कि इसके अनुकरण पर संस्कृत में भी रचनाएँ होने लगीं। गोवर्द्धन की "आर्या सप्तशती", अमरूक के "अमरूक शतक", उत्प्रेक्षावल्लभ के "सुन्दरी तिलक" आदि में इसी परम्परा का विकास है। बिहारी जहाँ एक ओर रीतिशास्त्र के जानकार थे, वहीं दूसरी ओर उनका शृंगारिक मुक्तकों की इस सरस परम्परा से भी निकट का परिचय था और उन्होंने अपनी "सतसई" में दोनों का मुँह मिला दिया है। उन्होंने अपने संस्कार, परिवेश और फारसी शायरी से कलम की सफाई और महीनकारी लेकर पुरानी उक्तियों को और भी बेधक बना दिया है एवं उसमें एक विशेष प्रकार की चमक भर दी है। "गाथा सप्तशती" का एक पद है -

अब्बो दुक्कर आरक पुणो वितन्ति करेसि गमणास।
अज्ज विण होन्ति सरला वेणीय तरंगिणे चिउरा।।

अर्थात "हे दुष्कर व्यवहार करने वाले! अब तक तो तुम्हारे प्रवास के दिनों के गुलझट पड़े केश भी नहीं सुलझ पाए हैं और तुम फिर बाहर जाने की चिन्ता में लगे।" बिहारी ने इस भाव को किंचित बदलकर अपनी "सतसई" में यह रूप दे दिया है -

अजौ न आए सहज रंग विरह दूबरे गात।
अब ही कहा चलाइयतु, ललन चलन की बात।।

"विरह में दुबली हुई (नायिका की) देह में अब तक स्वाभाविक कांति भी नहीं आई है (फिर) हे ललन, (परदेस) चलने की बात अभी क्यों चला रहे हैं?"

बिहारी का यह दोहा गाथाकार की उक्ति से कहीं ज्यादा मार्मिक और मनोज्ञ बन गया है क्योंकि वहाँ उलझे हुए केशों के ही न सुलझ पाने की चर्चा थी, यहाँ प्रिय के प्रवास का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर की विवर्णता के रूप में प्रकट हुआ है। इससे विरह की तीव्रता की व्यंजना तो होती ही है, पाठकों के अंत:करण पर भी इसका प्रभाव अधिक सीधा और गहरा पड़ता है। यह दोहा एक बाह्य व्यापार-मात्र से सम्बद्ध नहीं और अपेक्षाकृत विशद जीवन-दृष्टि तथा व्यापक मानसिक संघटन का परिचायक है।

बिहारी एक सजग कलाकार हैं। उन्होंने जीवन में 713 दोहों का ही एक ग्रंथ लिखा और वह है "बिहारी सतसई"। बिहारी मुक्तक कवि हैं। मुक्तकार के पास जीवन का आधार फलक अत्यंत सीमित होता है और उसमें ही उसे सजीव रूप रेखाएँ और रंग भरने पड़ते हैं। जिस मुक्तक काव्य में यह रूप रंग जितना उज्ज्वल होगा वह उतना ही सफल होगा। संस्कृत के अमरूक और बिहारी के दोहों में मुक्तक काव्य की यह विशिष्टता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। मुक्तक काव्य में कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति का होना अनिवार्य होता है, उसे अपने खंड दृश्यों में रस की एक ऐसी वेगवती अजस्र धारा प्रवाहित करनी होती है जो हृदय कलिका को विकसित कर दे, उसके प्रत्येक पद्य का पूर्वापर सम्बन्ध से रहित अपना एक अलग अस्तित्व हो, उसके पद्य-स्तबकों में

प्रभावजन्य एक अपूर्व निविड़ता और तरलता हो, जो स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हो और पाठक को चमत्कृत कर दे। मुक्तक के ये सभी गुण अपने भव्य रूप में बिहारी के दोहों में विद्यमान हैं। उनका प्रत्येक दोहा एक-एक उज्ज्वल रत्न है। उन्होंने गागर में सागर भर दिया है। किसी ने ठीक ही कहा है -

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, बेधैं सकल सरीर।।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मुक्तक की सफलता के लिए दो शर्तें रखी हैं - "कल्पना की समाहार शक्ति" और "भाषा की समास शक्ति"। बिहारी रमणीय प्रसंगों की उद्भावना और संयोजन में जितने पटु हैं, भाषा के चुस्त प्रयोग में भी उतने ही सुदक्ष। इसीलिए वे दोहे की छोटी-सी ज़मीन पर इतने करिश्मे दिखा सके हैं, जैसे नट कूदकर छोटी-सी कुंडली से शीघ्रता से निकल जाता है। ध्यातव्य है कि एक से एक बारीक सूझ बिहारी की कविता में मिलेगी। फिर, खूबी यह कि ये कल्पनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी प्रतीत रहती हैं। कल्पना की इसी समाहार शक्ति के कारण बिहारी ने एक-एक दोहे में अपार अर्थ-गाम्भीर्य भर दिया है - "अर्थ अमित अरू आखर थोरे" - तुलसीदास की इस उक्ति को बिहारी ने ही चरितार्थ किया।

बिहारी की काव्य-भाषा में समास शक्ति पूर्ण रूप में विद्यमान है। इसके कारण काव्य-भाषा में अद्भुत कसावट आ गई है। थोड़े में बहुत अधिक कह देना बिहारी का बहुत बड़ा कौशल है और यही उनकी सफलता का रहस्य भी है। लेकिन इसके लिए उन्हें शब्दों की ज्यादा तोड़-मरोड़ नहीं करनी पड़ी है।

संक्षिप्तता और सांकेतिकता के अतिरिक्त, बिहारी की काव्य-कला की दूसरी विशेषता है वाग्वैदग्ध या कथन-चातुरी। बिहारी एक साधारण-सी लगने वाली बात को भी इस खूबी से, इस शब्दावली में कहते हैं कि वह साधारण बात भी अपूर्व-असाधारण हो जाती है। अच्छे गहने और अच्छे वस्त्र के अभाव में भी वस्तुत: सुंदर स्त्री सुंदर लगती है। यह एक साधारण बात है। मगर इसी को बिहारी इस खूबी से कहते हैं कि एक अपूर्व चमत्कार आ जाता है -

भूषण भार सँभारिहैं, क्यों यह तन सुकुमार।
सूधो पायँ न परत महि, सोभा ही के भार।।

बिहारी ने शब्दों का निपुण और बेजोड़ प्रयोग किया है। यदि किसी शब्द विशेष को बदलकर पर्यायवाची अन्य शब्द रख दिए जाएँ तो सारा चमत्कार तो चौपट हो ही जाएगा "लीक नहीं यह पीक की, श्रुति-मन-मूल कपाल।" यहाँ "श्रुति" आदि शब्द बदले नहीं जा सकते। बिहारी के दोहे में प्रत्येक शब्द एक विशिष्ट चित्र, ध्वनि और अर्थ रखता है। निम्नलिखित दोहे में प्रत्येक शब्द एक शब्द-चित्र दे रहा है और लगता है कि आँखों के सामने तस्वीरों की रील चल रही है -

भरत, ढरत, बूड़त, तिरत, रहत, घरी लौं नैन।
ज्यों-ज्यों पट झटकति, हँसति, हठति, नचावति नैन ।।

इसी प्रकार निम्नलिखित दोहे में प्रत्येक शब्द ऐसी ध्वनि लिए हुए है कि उच्चारण से वस्तु का बोध हो जाता है -

रनित भृंग घंटावली झरित दान मधु-नीरू।
मंद मंद आवतु चल्यौ कुंजर कुंज समीरू।।

15.7 बिहारी की भाषा

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है। उनके समय तक ब्रजभाषा साहित्य की भाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी और सूर, तुलसी, नंददास, रसखान जैसे कवियों द्वारा उसका पर्याप्त परिमार्जन भी किया जा चुका था। बिहारी ने इस परिमार्जन का लाभ उठाया और उसके माधुर्य, ध्वन्यात्मकता आदि के विकास की साधना की। बिहारी की भाषा को हम अपेक्षाकृत शुद्ध ब्रजभाषा कह सकते हैं। उनके समय में ब्रजभाषा का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत हो चुका था। इनकी भाषा चलती हुई ब्रजभाषा का साहित्यिक रूप है। उनका

शब्द-गठन और वाक्य-विन्यास पर्याप्त सुव्यवस्थित है। बिहारी ने सबसे पहले शब्दों की एकरूपता और सांजलता पर ध्यान दिया और भाषा में परिष्कार का मार्ग प्रशस्त किया। साहित्यिक ब्रजभाषा का रूप इनकी ही कविता में सर्वप्रथम निखार को प्राप्त हुआ। बाद में घनानंद और पद्माकर ने उसे और अधिक परिष्कृत किया। बिहारी की भाषा में बुंदेलखंडी और पूर्वी का प्रभाव है। तुक के आग्रह और प्रयोग बाहुल्य के कारण पूर्वी के प्रयोग हुए हैं। बुंदेलखंडी के प्रयोग शैशव के अभ्यास के कारण सहज रूप में आए हैं। कहीं-कहीं अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भाषा को प्रेषणीय बना देता है। बिहारी की काव्य-भाषा में नाद-सौंदर्य है और वह माधुर्य गुण सम्पन्न है। माधुर्य गुण के अनुकूल शब्द चयन किया है। भाषा के अलंकरण के लिए इन्होंने यमक, अनुप्रास, वीप्सा आदि शब्दालंकारों का प्रयोग किया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की दृष्टि में बिहारी का भाषा पर वास्तविक अधिकार था। उनके बाद भाषा पर अच्छा अधिकार दिखाने वाले मतिराम, पद्माकर आदि कुछ ही प्रवीण कवि हुए हैं। आधुनिक समय में रत्नाकर ने वैसा ही अधिकार दिखाया है। इसलिए बिहारी को भाषा का पंडित कहना चाहिए। भाषा की दृष्टि से बिहारी की समता करने वाला, भाषा पर वैसा अधिकार रखने वाला कोई मुक्तककार नहीं दिखाई पड़ता है।

बिहारी ने केवल दो छंदों का प्रयोग किया है - दोहा और सोरठा। ये दोनों 48 मात्रा के छंद हैं और परस्पर सम्बद्ध हैं। संस्कृत के मुक्तक कवि अमरूक ने शार्दूलविक्रीड़ित छंद को, प्राकृत एवं संस्कृत के अन्य मुक्तककारों ने गाथा और आर्या छंद को, बिहारी के बाद के मुक्तककारों ने सवैया एवं कुंडलिया छंद को अपनाया है। किंतु बिहारी दोहे में ही अपनी भाव-सुषमा को चित्रित करते रहे।

बिहारी के काव्य की एक बड़ी उपलब्धि है अलंकारों का निपुण प्रयोग। यद्यपि बिहारी ने किसी रीति-ग्रंथ का निर्माण नहीं किया, किंतु अलंकारों का जैसा सटीक और चुस्त प्रयोग उनके दोहों में दीख पड़ता है, वैसा बहुतेरे उन कवियों की कविताओं में भी नहीं दीखता जिनका प्रमुख लक्ष्य अलंकार-निरूपण ही रहा है। ''असंगति'' अलंकार का यह बेजोड़ उदाहरण चिरकाल से सहृदयों का कंठाहार रहा है -

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परत गाँठ दुरजन हिए, दई नई यह रीति।।

''उलझते हैं नेत्र, टूटता है कुटुम्ब! प्रीति जुड़ती है चतुरों के चित्त में, और गाँठ पड़ती है दुर्जन के हृदय में! प्रेम की यह अनोखी रीति है।''

बिहारी का शायद ही कोई ऐसा दोहा हो, जिसमें किसी न किसी अलंकार का प्रयोग न मिले। कहीं-कहीं तो एक साथ पाँच-छह अलंकार लिपटे हुए दीख पड़ेंगे, जैसे निम्नलिखित दोहे में हमें एक ही जगह वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, उपमा, तद्गुण, परिकर, देहली-दीपक आदि अनेक अलंकार संश्लिष्ट दीख पड़ते हैं -

हौं रीझी लखि रीझिहौ, छबिहि छबीले लाल।
सोनजूही सी होत दुति, मिलत मालती माल।।

बिहारी अलंकारवादी नहीं थे। उन्होंने स्वच्छंद रूप से अलंकारों का प्रयोग किया है। प्राय: प्रत्येक दोहे में उक्ति वैचित्र्य के साथ अलंकारों की सुंदर योजना हुई है। सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकादि का प्रयोग अधिक हुआ है। रूपक तो बिहारी का प्रिय अलंकार है। वैसे यमक, समासोक्ति, अपह्नुति अलंकारों का भी सुंदर प्रयोग हुआ है। यमक का उदाहरण देखिए -

तो पर वारौं उरबसी सुधि राधिके सुजान।
तू मोहन के उरबसी ह्वै उरबसी समान।।

रीतिकाल में मुख्यत: तीन सम्प्रदाय प्रचलित थे - अलंकार, रस और ध्वनि। बिहारी आलंकारिक चमत्कार के अनावश्यक मोह से कहीं भी ग्रस्त नहीं हुए। उन्होंने अलंकारों का प्रयोग साधन के रूप में किया है, साध्य रूप में नहीं। रस भी बिहारी का साध्य लक्षित नहीं होता। वे वस्तुत: ध्वनिवादी हैं। रस-ध्वनि, अलंकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि को ग्रहण करके बिहारी ने सांकेतिक अर्थ को द्योतित किया है। अत: उनकी रुचि ध्वनि-सम्प्रदाय की ओर अधिक है।

15.8 सारांश

बिहारी शृंगार रस के बड़े कवि हैं। उन्होंने अपनी कविता में शृंगार और वियोग का विशद चित्रण किया है। उनकी कविता में रूपासक्ति, चेष्टाओं और प्रेम क्रीड़ा पर ही ज्यादा बल दिया गया है। वे प्रेम को चौगान का खेल समझते थे जिसमें दाँव-पेंच, लुका-छिपी का महत्व होता है। उनकी कविता में स्थापत्य और शिल्प और पांडित्य का ज़ोर ज्यादा है अनुभूति का कम। इनकी कविताओं को पढ़कर पाठक चमत्कृत तो होता है परंतु इससे उसके हृदय पर मार्मिक प्रभाव नहीं पड़ता। बिहारी के बारे में आचार्य शुक्ल ने लिखा है :

बिहारी की कृति का मूल्य जो अधिक आंका गया है उसे अधिकतर रचना की बारीकी या काव्यांगों के सूक्ष्म विन्यास की निपुणता की ओर ही मुख्यतः दृष्टि रखने वाले पारखियों के पक्ष से समझना चाहिए - उनके पक्षों को समझना चाहिए जो किसी हाथी-दाँत के टुकड़े पर महीन बेलबूटे देख घंटों वाह वाह किया करते हैं। पर जो हृदय के अंतस्तल पर मार्मिक प्रभाव चाहते हैं, किसी भाव की स्वच्छ निर्मल धारा में कुछ देर अपना मन मग्न रखना चाहते है, उनका संतोष बिहारी से नहीं हो सकता।

बिहारी की कविता के सीमित फलक से हम निराश हो सकते हैं, उनकी जीवन-दृष्टि से असहमत हो सकते हैं। किंतु उन्होंने रूप, चित्रों के कनक-कटोरों में इतना लावण्य उडेल दिया है कि काव्य-रसिक कभी उनकी उपेक्षा नहीं कर पाएंगे।

15.9 प्रश्न/अभ्यास

1. बिहारी की कविता में चित्रित संयोग और वियोग शृंगार की खूबियों और खामियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
2. 'मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है।' इस कथन के आलोक में बिहारी की कविता का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 16 घनानंद के काव्य में स्वच्छंद चेतना

इकाई के रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 रीति काव्य परंपरा में घनानंद का महत्व
16.3 घनानंद का प्रेम संबंधी दृष्टिकोण
16.4 भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में विकास
16.5 घनानंद की प्रेमानुभूति में स्वच्छंदता
16.6 घनानंद का काव्य-कौशल
16.7 घनानंद की काव्य-भाषा
16.8 सारांश
16.9 अभ्यास/प्रश्न

16.0 उद्देश्य

पिछली इकाई में आपने बिहारी के काव्य का अध्ययन किया। इस इकाई में हम घनानंद के काव्य की विशेषताओं को जानने का प्रयास करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- रीतिकाव्य परंपरा में घनानंद का महत्व बता सकेंगे;
- घनानंद के प्रेम संबंधी दृष्टिकोण का अध्ययन कर सकेंगे;
- घनानंद की प्रेमानुभूति में स्वच्छंदता के दर्शन कर सकेंगे;
- घनानंद के काव्य कौशल से परिचित हो सकेंगे; और
- घनानंद की काव्य-भाषा पर विचार कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

घनानंद रीतिकाल के एक विलक्षण कवि हैं। रीतियुग में कविता हृदय की नैसर्गिक अनुभूति का विषय न रह गई थी। वह आश्रयदाताओं के मनोविनोद का साधन-मात्र बन गई थी। कविगण अपनी कवित्व-शक्ति पर विश्वास खोकर 'आचार्य' कहलाने की महत्वाकांक्षा से पीड़ित हो रहे थे। उस युग में घनानंद अपनी पीड़ा से रोते हैं, किराए के आँसू नहीं बहाते। रीतिकाव्य-परंपरा में घनानंद का अपना महत्व है। उनका प्रेम संबंधी दृष्टिकोण रीति कवियों से सर्वथा भिन्न है। उनकी प्रेमानुभूति स्वच्छंद है। इस स्वच्छंद प्रेमानुभूति के कारण उनका काव्य-कौशल और उनकी काव्य-भाषा सर्वथा नयी और सर्जनात्मक दिखाई पड़ती है। आगे हम इन्हीं बातों की विस्तार से चर्चा करते हुए रीतिकाल के विलक्षण कवि घनानंद की विशिष्टताओं को रेखांकित करेंगे।

16.2 रीति काव्य परंपरा में घनानंद का महत्व

रीतिकालीन काव्यादर्श काव्य के बाह्य रूपों को सँवारने-सजाने के ही थे। अनुभूति पक्ष पर ज़ोर नहीं था। अनुप्रासमयी शब्दावली, छंदों में यति-लय का सुष्ठु विधान, दोषों का परिहार आदि गुण श्रेष्ठ कविता के लिए अनिवार्य माने जाते थे। रीतिकालीन कवि साहित्यशास्त्र की बंधी-बँधाई सरिणयों का अबलम्बन लेकर शृंगार-रस का उपस्थापन कर रहे थे। वस्तुतः रीतिकालीन कविता साहित्यशास्त्र की रूढ़ियों पर अत्यधिक आश्रित और स्रष्टा के व्यक्तित्व के तिरोधान की कविता है। उसमें आँखों पर कम, कानों पर ज्यादा भरोसा किया गया है। इसके विपरीत, घनानंद ने स्वीकार्य अनुभूतियों पर विश्वास किया और अपने हृदय की भोगी हुई पीड़ा को अपनी कविताओं में रूपायित किया। वे ऐसे लोगों पर दया प्रकट करते हैं जो शास्त्र या बुद्धि की आँखों से प्रेम के हर्ष-विषाद का अनुमान किया करते हैं। प्रेमानुभूति की साक्षी तो उनकी ही आँखें हो सकती हैं जिनके हृदय में चाहे की मीठी पीर

उठती हो। रीति कवि भावों को बुद्धिगम्य समझकर उसी से उन्हें काव्य निबद्ध करते थे। घनानंद ने सच्ची अनुभूति को बुद्धि से परे सिद्ध किया है -

जौ लौं जागै न भूल, तौ लौं सोवै सुरति-सुख।
वही होय अनुकूल, तौर भूलै सुख-सुधि सबै।।

प्रेमानुभूति में बुद्धि दासी है और रीझ पटरानी, तत्व का बोध 'बौरानि' में ही होता है। घनानंद बुद्धिवादी कवियों के प्रेम-कथन को नीर-मंथन के समान निष्फल बताते हैं। उन्हें वाणी के रहस्य से अनभिज्ञ, ठंडे हृदय के तथा जड़ कहा है। वे लोग कृत्रिम प्रेम का निर्वाह करते हैं। उनसे कवि का मेल नहीं हो सकता -

बात के देसतें दूरि परें जड़ता नियरे सियरे हिय दाहैं।
चित्र की आँखिन लीने विचित्र महारस रूप सवाद सराहैं।
नेह कथैं, सठ नीर मथें, हठ कै कठप्रेम को नेम निबाहैं।
क्यों घनआनंद भीजै सुजाननि यौं अमिले मिलिबो फिरि चाहैं।।

16.3 घनानंद का प्रेम संबंधी दृष्टिकोण

घनानंद मूलतः एक प्रेमी कवि थे। जिस युग में घनानंद ने लेखनी उठायी, उस युग की प्रवृत्ति भी शृंगारिक थी। उस युग के अधिकांश कवियों ने न केवल सैद्धांतिक धरातल पर शृंगार की रसराजता घोषित की, बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी इसी के अंग-उपांगों की उपासना की। फिर भी, घनानंद और उनके समसामयिक अन्य कवियों में बड़ा भारी अंतर है जिसकी चर्चा अभी-अभी की गई है। बहरहाल डॉ0 नगेन्द्र ने रीतिमार्गीय प्रेम शृंगार की चार मुख्य विशेषताएँ बताई हैं। रीतिमार्गीय प्रेम शृंगार का मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं। वह रसिकता शुद्ध ऐंद्रिक अतएव उपभोग प्रधान है। इसीलिए वासना को अपने प्राकृतिक रूप में ग्रहण करते हुए उसी की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम रूप में स्वीकार किया गया है। उसको न आध्यात्मिक रूप देने का प्रयत्न किया गया, न उदात्त और परिष्कृत करने का। यह शृंगार उपभोग प्रधान एवं गार्हस्थिक है। यह एक ओर बाज़ारी इश्क से भिन्न है दूसरी ओर रोमानी प्रेम की साहसिकता भी प्रायः उसमें नहीं मिलती। इसीलिए इसमें तरलता और छटा अधिक है, आत्मा की पुकार और तीव्रता कम।

घनानंद के प्रेम में गांभीर्य हैं। बिहारी की तरह वे प्रेम को चौगान का खेल नहीं मानते बल्कि वे प्रेम को एक सीधा स्नेहपूर्ण मार्ग मानते हैं जहाँ तनिक भी चतुराई के लिए स्थान नहीं है। प्रेम के पथ पर वे ही सच्चे लोग चल सकते हैं जो अपना सब कुछ गंवाने के लिए तैयार होते हैं। जो कपटी हैं, बुरे आचरण वाले हैं वे इस रास्ते पर निर्भय होकर नहीं चल सकते। प्रेम की बस यही एक डगर है, दूसरी कोई नहीं -

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलें तजि आपनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरी आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।।

इन पंक्तियों में प्रेम के सत्यनिष्ठ मार्ग के साथ-साथ प्रेमी की निष्ठुरता का भी जिक्र आया है जो प्रिया का मन तो हर लेता है परंतु अपना मन देने में संकोच करता है। यहाँ प्रिय के समक्ष प्रेम का आदर्श रखकर कवि दिखा रहा है कि वह इसका पालन नहीं कर रहे हैं। प्रेम का मार्ग तो सीधा और सरल है। इसपर अज्ञानी से अज्ञानी व्यक्ति भी चल सकता है।

असल में घनानंद का प्रेम भावात्मक है, शारीरिक नहीं। संयोग में शरीर सहवास की चेष्टाओं का तथा वियोग में उसके हाव-भाव का वर्णन कवि ने नहीं किया है। अन्यत्र हृदय के भावों का ही विश्लेषण किया है। प्रिय के बिछुड़ने पर तथा मिलने पर प्रेमी शांति का अनुभव नहीं करता - **बिछुरै मिलै प्रीतम सांति न मानै।** कभी दैवगति से स्वप्न की भाँति प्रिय-प्रियतमा का मिलन भी होता है तो मनोरथों की भीड़ भर जाती है। फलतः मिलकर भी मिलाप नहीं होता -

कबहूँ जौ दई गति सौं सपनौ सो लखौं तो मनोरथ भीर भरै।
मिलिहू ने मिलाप मिलै तन कौ उर की गति क्यों करि ब्यौरि परै।।

प्रिय के रूप का साक्षात्कार कर लेने से भी प्रेमी प्रसन्न नहीं होता। भगवान की छटा देखकर जैसे भक्त आश्चर्यचकित होता है उसी प्रकार प्रेमी की बुद्धि आश्चर्यचकित हो जाती है। मति की गति रुक जाती है, कहने का सामर्थ्य नहीं रहता -

क्यों करि आनंदघन लहियै संजोग सुख,
ललसानि भीजि रीझि बातै न परै कहीं।

रूप दर्शन के समय बाह्य इंद्रियाँ संतुष्ट होकर हर्ष लाभ करें, इसके पूर्व ही हृदय विविध भावों का उद्‌गम, दुख का घूँघट उठा देता है। प्राण उसी में घुटने लगते हैं।

प्रियतम का साक्षात्कार कर प्रिय बेसुध हो जाता है। घनानंद के सौंदर्य चित्रण में भी एक गरिमा है जो पाठक को रस विभोर कर देता है :

झलकै अति सुंदर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलन मैं छबि फूलन की बरषा, उर ऊपर जाति है ह्वै।
लट लोल कपोल कलोल करै, कल-कंठ बनी जल जावलि ह्वै।
अंग अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वैं।।

प्रियतम का गोरा मुख अत्यंत सुंदर लग रहा है, उसकी बड़ी-बड़ी आँखें मानो कानों को स्पर्श करना चाहती हों। जब वह हँसती है तो उससे सौंदर्य रूपी फूल की वर्षा होती है और वह सीधे हृदय पर गिरती है। उसकी लटें गालों से खेलती प्रतीत होती हैं। उसके गले में मोतियों की माला शोभायमान है। उसके शरीर का प्रत्येक अंग जगमगा रहा है, लगता है अभी सौंदर्य धरा पर टपक पड़ेगा। सौंदर्य का इतना सहज और यथार्थ चित्रण रीतिकाल के दूसरे कवि में नहीं मिल सकता।

संयोगकाल में घनानंद की अनुभूति रीतिमार्गी कवियों की भाँति कुंठित नहीं होती। वह और तीक्ष्णतर होती जाती है। उसका कारण प्रेम भावना की भावात्मकता है। वियोग में और लोग शरीर-संयोग के सुखों का स्मरण करते हैं किंतु घनानंद आंतरिक पीड़ा की विविध अभिव्यक्ति करते हैं। यहाँ मौन में आकुल प्राण पुकारते हैं -

वहै मुसक्यानि, वहै मृदु बतरानि, वहै
लड़कीली बानि आनि उर मैं आरति है।
वहै गति लैन औ बजावनि ललित बैन,
वहै हँसि दैन, हियरा तें न टरति है।
वहै चतुराई सों चिताई चाहिबे की छबि,
वहै छैलताई न छिनक बिसरति है।
आनंदनिधान प्रानप्रीतम सुजानजू की,
सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करती है।।

यहाँ प्रिय की मुस्कान, मधुर वाणी, ललक युक्त मुद्रा की स्मृति का चित्रण हुआ है। प्रिय का यह रूप उसके हृदय में बसा हुआ है। उसकी बाँसुरी बजाने की मुद्रा, उसकी हँसी हृदय से चाहकर भी हटती नहीं। उसकी चतुराई से देखने की कला, उसका रंगीलापन क्षण मात्र को भी भुलाया नहीं जाता। आनंद प्रदान करने वाली प्राण प्रियतम सुजान की याद आने से प्रिय अपने होश हवास खो बैठता है। प्रेम के प्रति यह पूर्ण समर्पण ही घनानंद की विशिष्टता है।

रीतिकाव्य का प्रेम सामाजिक परंपराओं से मुक्त नहीं था। लेकिन घनानंद ने सामाजिक बंधनों की लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं की। उन्होंने वेश्या से प्रेम किया। उनका प्रेम गार्हस्थिक नहीं है। उसमें समाज की मर्यादा नहीं है, जीवन की स्वच्छंदता है। घनानंद प्रेम-व्यापार में अंतर्मुख थे, जबकि रीतिमार्गी कवि बहिर्मुख। घनानंद मौन होकर विरह-व्यथा सहते हैं। ठाकुर ने भी प्रेमानुभूति के हृदय में ही गुप्त रहने की बात बार-बार कही है। नायिका-भेद रीतिकाल की सर्वोपरि विशेषता थी। किंतु घनानंद ने नायिका के

भेदों में अपनी काव्य-सरस्वती को नहीं फँसाया। प्रेमी-प्रेमिकाओं के भावों का विश्लेषण ही इनका विषय है। रीतिकाव्य में सम प्रेम वर्णित हुआ है। किंतु घनानंद ने प्रेम की उदात्तता तथा उच्चता व्यक्त करने के लिए विषम प्रेम को ही अपनाया है -

अधिक बधिक तें सुजान, रीति रावरी है,
कपट-चुगौ दे फिरि निपट करौ बुरी।
गुननि पकरि लै, निपाँख करि छारि देहु,
मरहि न जियै, महा विषम दया-छुरी।
हौं न जानौं, कौन धौं ही यामैं सिद्धि स्वारथ की,
लखी क्यौं परति प्यारे अंतरकथा दुरी।
कैसें आसा-द्रुम पै बसेरो लहै प्रान-खग,
बनक-निकाई घनआनँद नई जुरी।।

घनानंद का प्रेम एकतरफा है, इसलिए उसमें पीड़ा है। अब ऊपर उद्धृत पद ही देखिए। यहाँ प्रिय की तुलना एक बहेलिए से की गई है जो कपट करता है। घनानंद इसे बड़ी बुरी बात मानते हैं। प्रिय ने गुणों के जाल से पकड़कर, विरही को पंखहीन कर दिया है। अब वह न मर पाती है न जी पाती है। पता नहीं पीड़ा पहुँचाने से तुम्हें क्या मिलता है? तुम मेरा हृदय का हाल क्यों नहीं पूछते। बहेलिया तो पक्षी को मार देता है पर आपने तो न मारा न ही जिंदा रहने दिया। आपकी यह अंतरकथा कुछ समझ में नहीं आती। पक्षी आकर्षक चारे को देखकर पेड़ पर कैसे बैठा रह सकता है। इस आसरे पर तो वह बैठा नहीं रह सकता कि प्रियतम स्वयं आएँगे।

रीतिमार्गी कवियों में शृंगार रस के संयोग पक्ष ने अधिक विस्तार पाया है। वियोग का उन्होंने थोड़ा-बहुत वर्णन किया है, पर वह मार्मिक नहीं है। घनानंद के यहाँ तो वियोग ही वियोग है। संयोग का भी वर्णन किया है तो उसमें वियोग विद्यमान रहता है। उस विरह में रहस्य भावना का भी अंश रहता है। रीतिमुक्त कवियों में घनानंद की तरह आलम के यहाँ भी वियोग प्राचुर्य दृष्टिगत होता है।

आचार्यों ने संयोग शृंगार में अवसाद का वर्णन निषिद्ध माना है - **'संयोग आलस्योग्रयौ जुगुप्साः वर्ज्याः'** (रसतरंगिणी) पर घनानंद की स्वच्छंद प्रवृत्ति इसे नहीं मानती। प्रिय बहुत दिनों के विरह के बाद मिला है। विरही को निश्चित नहीं होता कि यह संयोग है या छल। इस प्रकार मिलने पर भी कुशल 'अनमिले' की ही है -

देखें अनदेखनि-प्रतीति पेखियति प्यारे,
नीठ न परत जानि दीठि किधौं छल है।
दीपति-समीप की बिछोह माहिं जोहियत,
आरसी-दरस लौं परम ध्यान जल है।
निपट अटपटी दसा सों चटपटी-बीच,
बूड़त विचारो जीव थाह क्यौं हूँ न लहै।
कहा कहौं आनँद के घन जानराय हौ जू,
मिलेहूँ तिहारे अनमिले की कुसल है।

जब सुजान का संयोग होता है तो बुद्धि आश्चर्य में डूब जाती है। फलतः प्रिय का पूर्ण दर्शन नहीं हो पाता। संयोग-काल स्वप्न-सा टल जाता है। उसके बाद विरह आता है जो सौ गुना बढ़कर हृदय को पीड़ित करता रहता है। वस्तुतः घनानंद ने संयोग में वियोग की अभिन्नता का ही नहीं समकालीनता का भी अनुभव किया है। अतः वियोग प्रत्येक अवस्था में बना रहता है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि घनानंद का प्रेम गार्हस्थिक नहीं है। बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार की वेश्या सुजान के साथ उसका प्रेम होता है। पर इसमें स्थिरता चरम कोटि की दिखाई गई है। प्राणांत तक प्रेमी प्रेम को नहीं छोड़ना चाहता। मरते समय भी प्राण सुजान का संदेश लेकर ही बाहर जाना चाहते हैं। रीतिमार्गी प्रेम में जो तरलता और छटा है उसके स्थान पर यहाँ तीव्रता और आत्मा की पुकार मिलती है। जब प्रिया का मिलन होता है तो लाखों प्राण न्योछावर करने की अभिलाषा इतनी तीव्र हो जाती है कि वह संयोग के हर्ष की जगह विषाद उत्पन्न करती है। यह सब आसक्ति की तीव्रता के कारण है। वियोग में तीव्रता और अधिक मिलती है। वेदना की मार्मिकता और मौन सहिष्णुता उसकी तीव्रता का ही परिचायक है -

अंतर हौं किधौ अंतर हौं, दृग फारि फिरौं कि अभागिन भीरौं।
आगि जरौं, अकि पानी परौं, अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।
जौ घनआनंद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें धरती मैं धसौं कि अकासहि चीरौं।।

वस्तुतः घनानंद की प्रेम भावना व्यथा प्रधान है। उस व्यथा का स्वरूप आंतरिक है। प्रेमी एक प्रकार की बेबसी में फँसा हुआ दृष्टिगत होता है। प्रिय की प्रीति जो थाती की तरह छाती पर विराजमान थी उसी का ध्यान कर विरही के नेत्र आँसू बरसाने लगे। तब कवि की अंतश्चेतना से ऐसे स्वर निकलने लगे जो सचमुच व्यथित प्राणी की पुकार हैं -

तब तौ छबि पीवत जीवत हे, अब सोचन लोचन जात जरे।
हित पोष के तोष सु प्रान पले, बिललात महा दुख दोष भरे।
घनआनँद मीत सुजान बिना सब ही सुख-साज-समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे अब आनि कै बीच पहार परे।।

कहना न होगा कि उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त प्रेम रीति क़वियों द्वारा वर्णित प्रेम से भिन्न हैं। घनानंद की दृष्टि में रसिकता वेदना द्वारा परिलक्षित होती है। व्यथित हृदय की पुकार ही श्रेष्ठ कविता है। इस विषय में वे भवभूति तथा शैली के समान हैं। यदि रोना नहीं आता हो तो गाना भी रोने के समान है। गोपियों की सिसक और उनकी कसक जब तक हृदय में नहीं आई तब तक रसिक कहलाना व्यर्थ है। रसिकता कुछ और ही चीज़ है -

गोपिन की सिसक कसक जौ न आई मन
रसिक कहाए कहा रस कछु औरई।

इस व्यथा-प्रधान दृष्टि के कारण ही कवि ने संयोग में भी वियोग के दर्शन किए हैं।

16.4 भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में विकास

सर्वविदित है कि घनानंद बादशाह मुहम्मदशाह के मीर्-मुंशी थे। इनका मुहम्मदशाह के दरबार में आने-जाने वाली एक वेश्या 'सुजान' से प्रेम था। दरबारियों के प्रपंच में आकर बादशाह ने उन्हें देश-निकाला दे दिया। घनानंद ने दिल्ली छोड़ते समय चाहा कि सुजान भी उनके साथ चले। लेकिन वह उनके साथ न जा सकी। घनानंद को इससे बड़ी ठेस लगी, सांसारिकता के प्रति उनके मन में विरक्ति हो गई और उन्होंने वृंदावन जाकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षा ले ली। पर अपना सर्वस्व त्यागकर भी घनानंद सुजान का नाम न त्याग सके। प्रेम का धरातल बदल गया, लेकिन आलम्बन न बदला। अपनी प्रिया के नाम को ही उन्होंने आराध्य का नाम भी बना लिया और उसके विरह में तन्मय होकर कीर्त्तन करने लगे।

घनानंद की दृष्टि में मानवीय प्रेम ईश्वरीय प्रेम का ही लघुतम अंश है। जिस प्रेम-समुद्र में राधा और कृष्ण विवश होकर स्नान-केलि करते हैं उसी की तरल तरंग से कोई बिंदु छूटकर लोक में आ गया है। वही प्रेम है। इसकी चरम परिणति प्रेमी और प्रिय का अभेद है। इसकी पदवी ज्ञान से भी ऊँची है। भूलने से इस पंथ पर चलते हैं, सुधि से थक जाते हैं। इसका मार्ग अत्यंत सरल-सीधा है। 'सयानप का बाँक' यहाँ नहीं होता। सीधे-सरल व्यक्ति इसका पार पा जाते हैं, कपटी झिझकते रहते हैं। 'प्रेम पद्धति' में इसका स्वरूप परिचय देते हुए कवि ने लिखा है कि प्रेम का सर्वोत्तम अधिष्ठान गोपिकाएँ हैं। गोपिकाओं ने अपने प्रबल प्रेम का ओज इससे प्रकट कर दिया है कि भगवान श्रीकृष्ण भी उनके आगे नाचते हैं। प्रेम साधना का सर्वोत्तम स्थान ब्रज है। ब्रज-रज के स्पर्श से प्रेम-तत्व का लाभ अनायास ही हो जाता है। प्रेम का रूप अमल और अपूर्व होता है। इसकी थाह लेने में मन, बुद्धि तथा विचार थक जाते हैं।

घनानंद की प्रेम-भावना में अतींद्रिय सौंदर्य के रहस्यमय संकेत विद्यमान हैं। प्रेम का प्रारंभिक रूप शारीरिक है। रूप सौंदर्य पर इंद्रियों की रीझ, विस्मय आदि के भाव अनुभूत हुए हैं। पर इसका आगे भावना में विकास हुआ है। प्रिय भले ही नाम से राधाकृष्ण हो पर वे स्वभाव में 'आनंद के घन' तथा 'सुजान' है। बादलों की तरह ही प्रिय सर्वत्र व्याप्त है। प्राणों की वह गति है। बुद्धि स्मृति, नेत्र और

वाणी में उसका वास है। प्रिय के गुण गाते-गाते बुद्धि उसी में उलझ जाती है। प्रिय आँखों से दिखाई नहीं देते। यद्यपि सब जगह वह छाये हुए हैं। उन्हें पाकर प्रेमी खोये से हो जाते हैं। एक ही बास बसे हैं फिर भी दोनों को एक-दूसरे का परिचय नहीं हो पाया। इन उक्तियों में ब्रह्म की व्यापकता तथा उसे प्रेम द्वारा प्राप्त करने की जीव की अभिलाषा का रहस्य प्रतीत होता है। प्रिय और प्रेमी के साथ रहने का अर्थ जीव और ब्रह्म का शरीर में होने वाला एकाश्रय सहवास प्रतीत होता है-

भले ही रसीले अरसील सुनि हूजिए व, गुननि तिहारे उरझयौं है मन गाय गाय।
काननि सुनो है तैसे आँखिन हूँ देखे जाते, दीखत नहीं औ सब ठाँम्वर हैं छाय छाय।
ऐसे घन आनंद अचभे सों भरे हौं भारी, खोए से रहत जित तित तिम्हैं पाय पाय।
एक बस बसे सदा बालम बिसासी पै न, भई क्यों चिहनारि कहूँ हमैं तुम्हें हाय हाय।।

अपनी कृति 'प्रीति-पावस' में घनानंद लिखते हैं कि आनंदघन के निकट सदा प्रेमानंद का पावस ही बना रहता है। वहाँ चाहों की वर्षा होती है। वह ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है तृषा की अग्नि त्यों-त्यों प्रचंड होती जाती है। 'इश्कलता' में फारसी ढंग से अनेक प्रेमापलंभ प्रकट किए गए हैं। इसके अंत में कवि कहता है कि आनंद के घन छैल की छवि ध्यान धर देखेगा वही 'इश्कलता' के अर्थ को समझ सकेगा। इसे जो चित्त देकर बाँचेगा उसे वृंदावन के धाम-सुख की उपलब्धि होगी -

आनंद के घन छैल की छवि निरखै धरि ध्यान।
इश्कलता के अर्थ को समझै चतुर सुजान।।
इश्कलता ब्रजचंद को जो बाँचै दै चित्त।
वृंदावन सुखधाम सो लहै नित्त ही नित्त।।

इससे स्पष्ट है कि कवि के प्रेम का विषय कोई संसारी प्राणी नहीं परमेश्वर है।

घनानंद ने लौकिक प्रेमलीला को अलौकिक प्रेमलीला का कण कहा है, किंतु उन्होंने इसे कृष्ण-प्रेम में छिपा रखा है। आचार्यों ने भी कृष्ण की प्रेम-लक्षणा भक्ति का विकास लौकिक क्रीड़ा से सम्बद्ध रखकर किया। इसलिए सूफियों की 'प्रेम की पीर' को उसमें लय हो जाने का अवसर मिल गया। घनानंद ने सुजान के प्रति अपने प्रेम (इश्कमजाजी) को राधा-कृष्ण की अलौकिक प्रेम-लीला (इश्क हकीकी) का क्षुद्र अंश कहा है -

प्रेम को महोदधि अपार हेरि कै,
विचार वापुरो हहरि बार ही तें फिरि आयौ है।
ताही एकरस है बिवस अवगाहैं दोऊ,
नेही हरि-राधा जिन्हैं देखें सरसायौ है।
ताकी काऊ तरल तरंग-संग छूटयौ कन,
पूरि लोक लोकनि उमगि उफनायौ है।
सोई घन आनँद सुजान लागि हेत होत,
ऐसे मथि मन पै सरूप ठहरायौ है।।

संसार में फैला प्रेम-व्यापार उसी प्रेम-महोदधि का एक कण है जिसमें राधा-कृष्ण जल केलि किया करते हैं। वही कण घनानंद और सुजान के प्रेम में भी लगा हुआ है। सूफियों की भाँति घनानंद ने लौकिक प्रेम में कई स्थानों पर ब्रह्म प्रेम का आभास भी दिया है -

उघरौ जग छाय रहे घनआनँद चातिक लौं तकियै अब तौ।
पाऊँ कहाँ हरि हाय, तुम्हें धरनी मैं धसौं कि अकासहि चीरौ ।।

में सूफियों का ब्रह्म-विरह व्यक्त हुआ है। इसलिए घनानंद को रहस्योन्मुखी प्रेमी कवि कहना ही उचित होगा।

ध्यातव्य है कि घनानंद की प्रेमानुभूति का स्वरूप फारसी कवियों की तरह लौकिक ही है। राधा और कृष्ण तो तत्कालीन काव्य-परंपरा के कारण काव्य में गृहीत हुए हैं। वस्तुतः सखी सम्प्रदाय, फारसी साहित्य तथा सूफी कवि इन तीनों की रहस्य भावना से कवि ने प्रेरणा ली है। इसके अतिरिक्त, इनकी व्यक्तिगत भावना भी इसमें प्रकट हुई है। उपमानों को प्रतीक के रूप में उपस्थित कर रहस्य भावना

का समावेश किया गया है। घनानंद ने ऐसा ही किया है। प्रतीक पद्धति अपनाने के कारण इनकी रहस्य शैली भारतीय शैली की अपेक्षा फारसी शैली के निकट है। लेकिन इन्होंने इसकी ज्यो की त्यों अनुकृति नहीं की। फारसी का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी घनानंद ने भारतीय रंग का सर्वथा त्याग नहीं किया है। फारसी काव्य में जहाँ विकलता आशिक (नायक) की दिखाई जाती है, वहाँ घनानंद की नायिका ही प्रिय की निठुराई से पीड़ित है।

जीव की बात जनाइए क्यों करि जान कहाय अजाननि आगौ।
तीरनि मारि के पीर न पावत एक सो मानत दोइयो रागौ।
ऐसी बनी 'घनआनँद' आनि जु आन न सूझत सो किन त्यागौ।
प्रान मरैंगे भरैंगे बिथा पै अमोही सों काहू को मोह न लागौ।।

16.5 घनानंद की प्रेमानुभूति में स्वच्छंदता

घनानंद अपने मनोवेगों के प्रवाह में बहकर कविता लिखा करते थे। इनकी दृष्टि में काव्यशास्त्र के नियम-उपिनयम नहीं रहते थे। इसलिए इनके काव्य में प्रेम की जीवनगत स्वच्छंदता तथा काव्यगत स्वच्छंदता दोनों के दर्शन होते हैं। घनानंद की दृष्टि प्रेमभाव की अनुभूति पर अधिक रहती थी। उसका वे काव्य में चित्रण करते थे। फलतः इनकी अंतर्दृष्टि प्रेमानुभूति को पहचानने में बड़ी व्यापक और सूक्ष्म हो गई। घनानंद का प्रेम केवल नारी के स्थूल सौंदर्य तक ही सीमित न रहा। वह ईश्वर पर्यन्त ऊँचा उठा। इनकी रचनाओं में अश्लील मुद्राओं व अश्लील चेष्टाओं के वर्णन नहीं मिलते। संयोग में मनोदशाओं के विविध रूपों का चित्रण किया गया है। घनानंद के यहाँ प्रेम का बाह्य पक्ष इतना प्रबल नहीं है जितना आंतरिक पक्ष क्योंकि उनकी दृष्टि ही आंतरिक है।

कंत रमै उर-अंतर में सु लहै नहीं क्यौं सुखरासि निरंतर।
दंत रहैं गहैं आँगुरी ते जु बियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनँद रैन-दिना बिना जान सुततंर।
जानै वेई दिन-राति, बखाने तें जाय परै दिन-राति को अंतर।।

प्रिय हृदय में बसे हुए हैं फिर भी विरही को सुख का अनुभव नहीं हो रहा। विरही की विरह-व्यथा देखकर वे भी दाँतों तले उंगली दबाते हैं जो विरह-वेदना की आँच में पके हुए हैं। असल में स्वच्छंद मनोवृत्ति वाले प्रिय के विरह में जो दुख मैं रात-दिन सहन कर रही हूँ उसे रात-दिन ही समझ सकते हैं, दूसरा कोई उसे समझ नहीं सकता। अगर कोई इस विरह को बताने की कोशिश करे भी तो वह वैसा ही होगा जैसा दिन और रात में अंतर होता है। विरही विरह से पीड़ित है परंतु उसके विरह को वह क्या कोई भी व्यक्त नहीं कर सकता। इसे वाणी से व्यक्त नहीं किया जा सकता। यह अनुभूति हृदय की है और इसे हृदय ही अनुभव कर सकता है। इसके वर्णन के लिए कोई शब्द नहीं बने हैं। चुपचाप सहते रहो, पर मौन रहो - यही तो घनानंद के प्रेम का आदर्श है।

रीतिमार्गी कवियों के प्रेम चित्रण में जीवन की अनुभूति नहीं है। वे प्रेमी, भक्त और सबसे परे कवि और आचार्य होते थे। इसलिए स्वच्छंद प्रेम के ऐकांतिक रूप का अपने काव्य में चित्रण नहीं कर सके। चूँकि प्रेम इनकी अनुभूति नहीं थी, इसलिए न तो उसमें मनोवेगों का आवेग मिलता है; न जीवनगत स्वच्छंदता ही प्राप्त होती है। दूती, परिजन, सखी आदि से घिरी नायिका के हृदय की अंतर्दशाओं का उन्हें परिचय नहीं था। दूसरे, दृष्टि की व्यापकता के अभाव में प्रेम केवल नायिका का तक ही सीमित रहता है। उसमें किसी प्रकार की उच्चता के दर्शन नहीं होते। रहस्य भावना का भी उसमें अभाव दिखाई पड़ता है। रीतिमार्गी कवियों का प्रेम तो राधा-कृष्ण के पास पहुँचकर भी अपनी स्थूलता नहीं छोड़ता।

घनानंद ने प्रेम व्यापार के कृत्रिम रूपों का त्याग किया है। उनकी चेतना विरह और मिलन दोनों में प्रेमियों के हृदयों के अंतस्थलों को उद्घाटित करने में ही लगी रहती है। घनानंद का प्रेमी तो स्वयं ही अपनी प्रेम भावना को नहीं पहचान पाता। वह कहे किससे? यहाँ तो **'बेझत बूझत बौराई सूझे'** है।

रीतिमार्गी कवि बुद्धि के बल से ही भाव का अनुमान करते थे और उसी के बल से प्रेम के बाह्य रूप विधान का संधान करते थे। घनानंद ने प्रेम को हृदय की शुद्ध, निश्छल भावधारा माना है, बुद्धि का उसमें गौण स्थान है। वे हृदय को प्रमाण मानते हैं। रीतिमार्गी कवि सखी, दूती आदि द्वारा प्रेम निवेदन

करते हैं। वे प्रेम निवेदन की सामाजिक शास्त्रीयता की रक्षा करते हैं। किंतु घनानंद अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण उसकी उपेक्षा करते हैं। प्रेमानुभूति कवि की व्यक्तिगत अनुभूति पर आधारित है, इसलिए उसे वह स्वयं ही प्रेमी बनकर प्रकट करता है।

रीतिमार्गी कवि संयोग में अंतर्मुखी तथा वियोग में बहिर्मुखी हो जाते हैं। इसके विपरीत, घनानंद संयोग में तो अंतर्मुखी रहते ही हैं, वियोग में यह अंतर्मुखता और बढ़ जाती है। वे ऊहात्मक शैली में विरह-व्यथा की नाप-जोख नहीं करते। उनका वियोग बड़ा व्यापक है। वह संयोग में भी बना रहता है। रीतिमार्गी लोकानुभूति का वर्णन करते थे, किंतु घनानंद ने आत्मानुभूति को काव्य का विषय बनाया है। घनानंद के स्वच्छंद प्रेम का चरम उत्कर्ष विषमता में ही निष्पन्न होता है, जबकि रीतिमार्गियों ने सम प्रेम को अपनाया है।

16.6 घनानंद का काव्य-कौशल

घनानंद की कविता में अभिधा कम लक्षणा और व्यंजना अधिक है। उनकी कविता के मर्म तक पहुँचने के लिए उसके लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तक पहुँचना अनिवार्य है। अपनी कविता की विशिष्टता स्वयं घनानंद ने इस सवैये में व्यक्त की है -

उर-भौन में मौन को घूघँट कै दुरि बैठी बिराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रसरूप मनी।
रसना-अली कान गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
घनआनँद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान घनी॥

इस सवैये में घनानंद ने अपनी कविता की विशिष्टता बताई है। घनानंद कहते हैं कि मेरी कविता में काफी कुछ मौन है जिसे समझने के लिए हृदय के अंदर प्रविष्ट करना होगा क्योंकि कविता का वास वहीं है। इसीलिए वे कहते हैं कि कविता हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाल कर अपने को छिपाए हुए है। ऐसा नहीं कि इसमें भौतिक जगत का चित्रण नहीं हुआ पर जो भी है वह कोमल और सुंदर है। इसमें शब्दों का नहीं बल्कि उसके अर्थ का महत्व है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ इसका गुण है। इसमें अलंकार भी है। इसमें रस भी है। यह कविता जीभ और कान तक ही जाकर नहीं रुक जाती बल्कि कान की गली से होती हुई यह चित्र हृदय की शैय्या तक पहुँचती है। इस कविता को कोई सहृदय व्यक्ति ही समझ सकता है। यहाँ घनानंद स्पष्ट रूप में कहना चाहते हैं कविता शब्दों का खेल नहीं है। भावानुभूति उसकी प्रमुख विशेषता है जिसका आनंद सहृदय ही ले सकता है।

घनानंद की काव्य-शैली के दो भाग किए जा सकते है - वक्र तथा ऋजु। भक्ति संबंधी रचनाओं में ऋजु तथा रसात्मक रचनाओं में वक्र शैली का प्रयोग किया गया है। ऋजु शैली में संश्लिष्ट रूप में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया गया है जो वक्र शैली में नहीं मिलता। भावों की मार्मिकता तथा गंभीर प्रभावशीलता वक्र शैली के गुण हैं। वक्रता का आधार लक्षक भाषा है। वक्र शैली के दोनों भेद - संश्लिष्ट और विश्लिष्ट घनानंद की काव्य-कला में दिखाई पड़ते हैं। जहाँ विचारों की प्रचुरता है, वहाँ कवि कम-से-कम शब्दों में उन्हें व्यक्त करना चाहता है। इन स्थलों में शैली संश्लिष्ट हो गई है। संश्लिष्टता भाषा की उतनी नहीं है जितनी विचारों की। ऐसी रचनाएँ अपेक्षाकृत कठिन भी हैं। अनुप्रासादि शब्दालंकारों का लोभ भाषा को और क्लिष्ट तथा संश्लिष्ट कर देता है। जैसे -

सोभा-लोभ-लागि अंग-रंग-रंग प्रीति पाग,
जागि-जागि नेंको न निमेष टेकतें टरी।
बोलनि, चितौनि, चारू ढोलनि, कपोलनि सों,
चाहि चाहि रंक लों सु संपति हिये धारी॥

जहाँ इस प्रकार का कोई कारण क्लिष्टता का नहीं है वहाँ सरल भाषा में मार्मिक भावों की अभिव्यक्ति हुई है। शैली की मार्मिकता जितनी इस सरल-साधारण रूप में व्यक्त हुई है उतनी संश्लिष्ट रूप में नहीं। संश्लिष्ट शैली रीति परंपरा का अवशेष जैसी लगती है। वह बुद्धि को जगाकर विचारों की गहराई में पाठक को व्यस्त करती है। पर साधारण शैली हृदय को सीधा स्पर्श करती है और उसे ऐसे भावों में डुबा देती है जो परिचित से हैं। जैसे -

लैही रहे हो सदा मन और को दैवो न जानत जान दुलारे।
देख्यौ न है सपने हूँ कहूँ दुख त्यागे सँकोच र सोच सुखारे।
कैसो संजोग बियोग धौं आटि फिरौ घनआनँद ह्वै मतवारे।
मो गति बूझि परै तब ही जब होहु धरीक हू आप तें न्यारे।

घनानंद की शैली का आंतिरक रूप भाव-प्रधान है, विभाव-प्रधान या वस्तु-प्रधान नहीं। भावों तथा हृदय की अंतर्दशाओं का प्रत्यक्ष वर्णन है। इनमें रमणीयता तथा अनुभूति योग्यता लक्षणा द्वारा उत्पन्न होती है। अभिलाषा का वर्णन करता हुआ कवि कहता है -

रस सागर नागर स्याम लखौं अभिलाखनि धार मँझार बहौं।
सुन सूझत धीर को तीर कहूँ पचिहार कै लाज सिवार गहौं।

यहाँ अभिलाष का भाव 'धार' उपमान का, 'धीर' भाव का 'तीर' तथा लज्जा भाव 'सिवार' का रूप धारण कर प्रत्यक्ष हो जाते हैं। फलतः अभिलाषा-मग्न व्यक्ति का जलमग्न व्यक्ति के समान चित्र बन जाता है।

घनानंद की शैली में रहस्य भावना की भी झलक कहीं-कहीं प्राप्त होती है। प्रस्तुत के भाव या व्यापारों के वर्णन में परमेश्वर की व्यापकता, अंतर्यामिता, एकता आदि गुणों के संकेत किए गए हैं। प्रिय आनंदघन के दर्शन के समय प्रेमी उनके तेज से हतप्रभ होकर उन्हें पूरा नहीं देख पाता। घन आए तो साथ ही बिजली की कौंध भी आई जिसने प्रिय को देखने ही नहीं दिया। बाद में बुद्धि को संदेह होने लगा कि वे आनंदघन सचमुच हैं भी या नहीं, -

चेतक रूप रसीले सुजान दई बहुतै दिन नैकु दिखाई।
कौंध में चौंध भरे चख हाय कहा कहौं हेरनि ऐसे हिराई।
बातें बिलाय गई रसना पै, हियो उमग्यौ, कहि एकौ न आई।
साँच कि संभ्रम हौं घन आनंद सोचनि ही मति जाति समाई।

यहाँ प्रस्तुत वर्ण्य-भाव प्रिया-मिलन है, पर वह घन के अप्रस्तुत व्यापारों द्वारा व्यक्त किया गया है। अंतिम पंक्ति में परमेश्वर की सत्ता के अस्ति-नास्ति के संदेहों की ओर भी संकेत किया गया जान पड़ता है। इसकी छाया में ऊपर की तीनों पंक्तियों का अर्थ परमेश्वर को प्रिय मानकर किया जा सकता है।

घनानंद की यह रहस्य शैली कबीर आदि ज्ञानमार्गी संतों की रहस्य शैली से भिन्न है। सतही तौर पर सूफी काव्य-परंपरा से इसका मेल हो सकता है पर सूफियों का अध्यात्म धर्म दर्शन से जुड़ा है और अध्यात्म सर्वसाधारण दार्शनिक भावना है। वस्तुतः घनानंद सखी सम्प्रदाय के उपासक थे जिसमें रहस्य की भावना नियत रूप से वर्तमान रहती है।

वक्रता घनानंद की शैली की प्रमुख विशेषता है। आचार्य कुंतक का विश्वास है कि साधारण तरीके से किसी प्रकार के रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वह वक्रोक्ति से संभव है। हिंदी में जहाँ अनुभूति थी वहाँ चमत्कार नहीं था, चमत्कार था तो अनुभूति नहीं थी। घनानंद ने दोनों का योग किया है। इनकी रचनाओं में अनुभूतिमूलक वक्रताएँ विद्यमान हैं। उन्होंने कहीं-कहीं उर्दू-फारसी की वस्तु वक्रता अपनाई है। किंतु वह उनकी गंभीर अनुभूति के अनुकूल नहीं पड़ती थी।

घनानंद ने अपने कवित्त-सवैयों में अपनी प्रेयसी सुजान तथा अपना नाम प्रायः सर्वत्र प्रयुक्त किया है। इन दो में भी प्रधान आनंदघन शब्द है। समस्त रसात्मक तथा भक्ति भावपूर्ण रचनाओं का वही आधार है। सुजान तथा आनंदघन गुणवाचक विशेषण मान लिए गए हैं। ऐसे स्थल कम ही मिलेंगे जहाँ आनंदघन या घनआनंद कवि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हो। अपने तथा अपनों के नाम का सौंदर्य के साथ काव्य में प्रयोग घनानंद की काव्य-कला की एक विशेषता मानी जाएगी।

घनानंद की शैली आत्म-निवेदन की है। कवि अपने को प्रिय अथवा प्रेमी मानकर भाव-निवेदन करता है। संस्कृत-प्राकृत के काव्यों में यह शैली दृष्टिगत नहीं होती। फारसी साहित्य में यह शैली प्रचलित रही है। रीतिकाल के स्वच्छंदधारा के कवियों में घनानंद और आलम ने इस शैली को अपनाया। स्वयं प्रेमी

होने के नाते प्रेमकथा को अपने आप ही कहना इन्हें अच्छा लगा। स्वच्छंद प्रवृत्ति के कारण इन्हें भारतीय समाज की उस मान-मर्यादा की परवाह नहीं थी जिसकी परवाह रीतिमार्गी कवियों ने की थी।

घनानंद ने कवित्त और सवैया छंदों में ही अपनी अधिसंख्य रचनाएँ रची हैं। उन्होंने सवैया छंद के प्रयोग में रुचि की विविधता का प्रदर्शन नहीं किया है। अपनी कोमल लय के कारण सवैया छंद शृंगार वर्णन में विशेष प्रचलित हुआ। घनानंद के अधिसंख्य सवैये अत्यंत कोमल शब्दावली में रचे गए हैं। उनसे संगीत की मधुर गूँज उत्पन्न होती है। उनके सवैयों में नरोत्तम दास तथा मतिराम की सी सरलता और कोमलता मिलती है। घनानंद के कवित्त औरों की अपेक्षा सरल-कोमल तो हैं ही इनके कवित्तों में छंद विन्यास भी उच्च कोटि का है। इन दो छंदों के अतिरिक्त सुमेरू, त्रिलोकी, दोहा, अरल्ल, नाटक आदि छंदों में भी रचनाएँ की गई हैं।

घनानंद की रचनाओं में अलंकारों का प्रयोग अल्पल्प है। साधा-सरल शैली में मार्मिक भावो को व्यक्त करने वाले पद्य अधिक हैं। वैसे कवि के जो भाषा संबंधी आदर्श हैं उसमें अलंकारों का स्थान है, पर वे अर्थोपकारक हों। हृदय के भवन में मौन का घूँघट डालकर जो बात बनिता बैठी रहती है वह रस की मणियों तथा पदार्थों के मंजु भूषणों से शोभायमान होती है -

उर भौन में मौन को घूंघट कै दुरि बैठी विराजति बात बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सो सु लसै हुलसै रस रूप मनी।

घनानंद के काव्य में यमक, श्लेष, अनुप्रास, उपमा, सांगरूपक, व्यतिरेक, अनन्वय, संदेह, विनिमय, प्रतीप, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, विरोध, हीनोपमा आदि अलंकारों का प्रयोग हुआ है। स्पष्ट है कि जिन अलंकारों का उन्होंने प्रयोग किया है वे प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार के अलंकार सभी के काव्य में आ सकते हैं। इससे कवि की प्रवृत्ति अलंकार निरपेक्ष प्रतीत होती है।

16.7 घनानंद की काव्य-भाषा

घनानंद की दृष्टि में काव्य-कला में भाषा उपेक्षणीय तत्व नहीं है। उसका बड़ा महत्व है। कवि कहता है कि हृदय को छलने का साधन भी अक्षर ही है और उसे तृप्त करने का साधन भी वही है। यद्यपि सत्य अक्षर से दूर है, पर अक्षर ही उसका परिचय कराता है। भाव-मग्न होकर अक्षर की गति जानने पर तत्व बोध हो जाता है -

अच्छरै मन को हरै बहुरि अच्छर ही भावै
रूप अच्छरातीत ताहि अच्छरै बतावै
तच्च बोध बौरानि में अच्छर गति अच्छर लहै।

घनानंद की दृष्टि में शब्द वक्रता के सूक्ष्म श्वास-प्रश्वासों का ही पवन पट है जो अनुराग के रंग में रंगा रहता है। बहरहाल इससे स्पष्ट है कि घनानंद काव्य भाषा के प्रति बेहद सतर्क तथा संवेदनशील व सृजनात्मक थे।

घनानंद के भावों के समान ही उनकी भाषा में भी नवीनता है। उनकी भाषा टकसाली ब्रजभाषा है। ब्रजभाषा के सबसे स्वच्छ, अमिश्रित तथा प्रवाहपूर्ण रूप का प्रयोग केवल रसखान और घनानंद ही कर सके। इनमें घनानंद की भाषा में लाक्षणिक वैचित्र्य और व्यंजना का सौंदर्य रसखान की अपेक्षा अधिक है। घनानंद ने लक्षणा शक्ति के द्वारा विरोध-वृत्ति को उभारकर भाषा का सौंदर्य कई गुना बढ़ा दिया है। इसी प्रकार उनमें मानवीकरण का प्रयास भी पग-पग पर दीख पड़ता है। इस दृष्टि से उनकी तुलना आधुनिक काल के छायावादी कवियों से की जा सकती है।

घनानंद की भाषा में माधुर्य अप्रतिम है। उनकी रचनाओं में कर्ण-कटु वर्णों का प्रयोग भरसक नहीं मिलेगा। एक ओर वे लोक जीवन के व्यंजक शब्दों का प्रयोग कर अनोखी दीप्ति पैदा करते हैं, दूसरी ओर फारसी के विद्वान होते हुए भी वे अपनी भाषा को फारसी बोझिल नहीं होने देते। उन्होंने मुहावरों और कहावतों के योग से भाषा की व्यंजकता बढ़ा दी है। मुहावरों के प्रयोग की पद्धति निश्चय ही फारसी की प्रेरणा से ग्रहण की है। पर फारसी के मुहावरों की योजना नहीं की, जैसा उर्दू वालों ने

किया। उन्होंने हिंदी के मुहावरों का प्रयोग करके जो चमत्कार उत्पन्न किया है और साथ ही जिस भावना तक सहृदय को पहुँचाया है वह स्थान-स्थान पर दर्शनीय है -

रावरै पेट की बूझि परै नहीं रीझि पचाय कै डोलत भूखे।

पेट की 'बूझ न पड़ना', 'पचाना' और 'भूखे डोलना' तीनों प्रयोग लाक्षणिक हैं।

घनानंद की काव्य-भाषा में व्याकरण व्यवस्था का संघटन पूर्ण रूप से विद्यमान है। बिहारी की भाषा भी व्यवस्थित तथा साहित्यिक है, पर घनानंद जैसी सजीव और लाक्षणिक नहीं है। फिर भी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कहना सोलहो आने ठीक है कि बिहारी और घनानंद को मिलाकर ब्रजभाषा का समूचा व्याकरण तैयार किया जा सकता है।

संक्षेप में, भाषा की समृद्धि के जितने भी उपादान होते हैं, वे सब घनानंद की काव्य भाषा में उपलब्ध हैं। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ठीक ही लिखा है कि भाषा के विचार से तो रीतिबद्ध कवियों में से बहुत कम इनकी तुलना में टिक सकेंगे। अंततः घनानंद की कविता के भाव पक्ष और कला पक्ष के विवचेन के पश्चात कहा जा सकता है कि रीतिकाल के राजसी परिवेश में प्रश्रय पाकर भी उन्होंने अपनी कविता को सामंती विलास की बांदी नहीं बनने दिया।

16.8 सारांश

- घनानंद रीतिकाल के एक विलक्षण कवि हैं। उनकी कविता रीतिमार्गी कविताओं से सर्वथा भिन्न है।
- रीतिकालीन काव्यादर्श काव्य के बाह्य रूपों को सँवारने-सजाने के थे। घनानंद के यहाँ अनुभूति पक्ष पर ज़ोर दृष्टिगत होता है।
- रीतिकालीन कविता साहित्यशास्त्र की रूढ़ियों पर अत्यधिक आश्रित है। इसके विपरीत, घनानंद ने स्वकीय अनुभूतियों पर विश्वास किया और अपने हृदय की भोगी हुई पीड़ा को अपनी कविताओं में रूपायित किया।
- घनानंद मूलतः एक प्रेमी कवि थे। उनका प्रेम संबंधी दृष्टिकोण रीतिमार्गीय प्रेम से भिन्न है। वह गार्हस्थिक नहीं है। वह विषम प्रेम है। यहाँ प्रेम व्यथा प्रधान है। यह प्रेम भावात्मक है, शारीरिक नहीं।
- घनानंद की प्रेम-भावना में अतींद्रिय सौंदर्य के रहस्यमय संकेत विद्यमान हैं। उनकी कविता में भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में विकास होता है। उनकी दृष्टि में मानवीय प्रेम ईश्वरीय प्रेम का ही लघुतम अंश है। सूफियों की भाँति घनानंद ने लौकिक प्रेम में कई स्थानों पर ब्रह्म प्रेम का आभास दिया है। लेकिन फारसी का प्रभाव ग्रहण करते हुए भी घनानंद ने भारतीय रंग का सर्वथा त्याग नहीं किया है।
- घनानंद की प्रेमानुभूति स्वच्छंद है। उन्होंने प्रिय व्यापार के कृत्रिम रूपों का त्याग किया है। रीतिमार्गी कवि बुद्धि के बल से ही भाव का अनुमान करते थे और उसी के बल से प्रेम के बाह्य रूप विधान का संधान करते थे। घनानंद ने प्रेम को हृदय की शुद्ध, निश्छल भावधारा माना है, बुद्धि का उसमें गौण स्थान है।
- घनानंद की रचना अभिधा में कम लक्षणा और व्यंजना में अधिक है। उनकी शैली में वक्रता तथा ऋजुता दोनों दृष्टिगत होती है। शैली का आंतरिक रूप भाव-प्रधान है, विभाव-प्रधान या वस्तु-प्रधान नहीं। वह आत्म-निवेदन की शैली है।
- घनानंद ने कवित्त और सवैयों में ही अपनी अधिसंख्य रचनाएँ रची हैं। अलंकारों का प्रयोग अत्यल्प दृष्टिगत होता है।
- घनानंद की काव्य भाषा टकसाली ब्रजभाषा है। उसका माधुर्य अप्रतिम है। मुहावरों और कहावतों के योग से भाषा की व्यंजकता बढ़ गई है। व्याकरण व्यवस्था का संघटन पूर्ण रूप से विद्यमान है।

16.9 अभ्यास/प्रश्न

1. घनानंद की कविता में वर्णित प्रेम रीतिकाल के अन्य कवियों से किन मायनो में अलग है।
2. घनानंद के काव्य-कौशल और भाषा पर विचार कीजिए।

इकाई 17 पद्माकर की कविता

इकाई की रुपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 पृष्ठभूमि
17.3 शृंगार वर्णन
  17.3.1 संयोग वर्णन
  17.3.2 वियोग वर्णन
17.4 प्राकृतिक वर्णन
17.5 लोक जीवन का चित्रण
17.6 काव्य शिल्प
17.7 काव्य भाषा
17.8 सारांश
17.9 अभ्यास/प्रश्न

17.0 उद्देश्य

पिछली इकाइयों में आपने बिहारी और घनानंद का अध्ययन किया था। इस इकाई में हम रीतिकाल के एक प्रमुख कवि पद्माकर का अध्ययन करने जा रहे हैं। इसे पढ़कर आप :

- पद्माकर की कविता में वर्णित शृंगार की विशेषताओं को जान सकेंगे
- पद्माकर की कविता में प्रकृति वर्णन और लोक जीवन के चित्रण की विशेषताएँ जान सकेंगे; और
- पद्माकर की शिल्पगत और भाषागत विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

पद्माकर रीतिकाल के अंतिम खेवे के कवियों में सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। उनकी प्रसिद्धि एक कवि और आचार्य दोनों रूपों में है। उन्होंने तीन प्रकार के काव्य-ग्रंथों की रचना की है - प्रशस्ति काव्य, रीतिकाव्य और भक्तिकाव्य। प्रशस्ति काव्य दो हैं - **'हिम्मतबहादुर विरुदावली'** और **'प्रतापसिंह विरूदावली'**। रीतिकाव्य के अंतर्गत भी दो पुस्तकें प्रधान हैं - **'पद्माभरण'**, जो महाराज जसवंत सिंह के **'भाषा भूषण'** की शैली में लिखी अलंकार की पुस्तक है और **'जगद्विनोद'**, जो शृंगार रस और उसके एक प्रमुख अंग नायिका भेद का निरूपक ग्रंथ है। पद्माकर के नाम पर एक तीसरा रीतिग्रंथ भी मिलता है- **अलीजाह प्रकाश**। लेकिन यह कोई स्वतंत्र कृति नहीं, प्रत्युत **जगद्विनोद** का ही अंशत: परिवर्तित रूप है, जिसकी रचना ग्वालियर के दौलत राव सिंधिया के नाम पर हुई है। एक ही पुस्तक को थोड़े हेर-फेर के साथ एकाधिक राजाओं की सेवा में उपस्थित करना उस युग के आश्रययोगी कवियों के लिए कोई नई बात नहीं थी। पद्माकर के भक्ति-वैराग्यपरक ग्रंथों में **ईश्वर पचीसी, प्रबोध पचासा, गंगा लहरी, राम रसायन** आदि के नाम लिए जाते हैं। सारत: पद्माकर ने अपने काव्यकाल के आरंभ में वीररसात्मक रचनाएँ की, मध्याह्न मे शृंगार का चषक भरा और पर्यवसान भक्ति में पाया।

किंतु पद्माकर की प्रसिद्धि का मूलाधार उनकी शृंगारिक रचनाएँ हैं। वे शृंगार रस के सिद्धवाक् कवि थे। वे जिस वातावरण में काव्य-सर्जना कर रहे थे, वह भी शृंगार के सर्वथा अनुकूल था। उस युग में जीवन का सात्विक उत्साह लुप्त हो गया था। औरंगजेब के प्रचंड शासन से दुबककर उत्तर भारत के राजा-महाराज सिर उठाने का साहस नहीं करते थे। उनके लिए शाही कर चुकाकर महलों के भीतर आराम करना ही सब कुछ था। राज-दरबारों में जीवन के बहुमुखी विस्तार से उदासीन हो शृंगार और विलासिता की सँकरी गलियों में अपने को भुलाये रखने की कोशिश की जा रही थी। दरबारी कवि राजाओं-महाराजाओं की प्रशंसा के साथ-साथ उनकी शृंगार-पिपासा को शांत करने के लिए नवोढ़ाओं की भाव-भंगिमा का चित्रण करने में ही लगे रहते थे। लोभ के चश्मे के भीतर से वे सबको शहंशाह मानते थे और केवल शृंगार-चषक पिलाकर उनके ऊपर दोहरा नशा चढ़ाया करते थे। रीतिकाल की गर्हित शृंगारिकता के बीच भूषण ने अवश्य सिंह गर्जन किया, पर औरंगजेब की आँखों के मुँदते ही हिंदूवाद का जलजला ठंडा हो गया। मराठों की शक्ति का उदय दक्षिण में हुआ, पर संघटन के अभाव में उसकी पराजय ने ऐसा पलटा खाया कि सारे भारतवर्ष में फिर सुख निंदिया की जँभुआई आने

लगी। शृंगार के अड्डे जगह-जगह हो गए। छुटभैये जमीदारों तक का शगल नायिका-भेद की बारीकी निकालना एवं समझना हो गया। कवियों की लेखनी उसके निरूपण में लगी। पद्माकर का काव्य-संसार में आविर्भाव ऐसे ही समय में हुआ था।

17.2 पृष्ठभूमि

पद्माकर को अनेक राज दरबारों में आश्रय मिला। कहते हैं, उन्होंने सोलह-सत्रह साल की कम उम्र में ही सागर नरेश रघुनाथ राव को एक कवित्त सुनाया था; जिसपर प्रसन्न होकर रघुनाथ राव ने उन्हें एक लाख मुद्राओं से पुरस्कृत किया। पद्माकर को देव की भाँति ही अनेक राज दरबारों में भटकना पड़ा, यद्यपि उन्हें देव की अपेक्षा अधिक सहृदय और उदार आश्रयदाता मिले। पद्माकर के आश्रयदाताओं में प्रमुख हैं: महाराज जैतपुर, सुगरानिवासी नोने अर्जुन सिंह, दतिया नरेश महाराज पारीक्षत, रजधान के गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मतबहादुर, सताराधिपति रघुनाथ राव (राघोबा), जयपुर-नरेश सवाई प्रताप सिंह और उनके पुत्र महाराज जगत सिंह, उदयपुर के महाराणा भीम सिंह और ग्वालियर-नरेश दौलत राव सिंधिया। पद्माकर को इन राज-दरबारों में पर्याप्त सम्मान के साथ बहुत अधिक धन-सम्पत्ति की भी प्राप्ति हुई। उन्होंने स्वयं महाराजा जगत सिंह के सम्मुख आत्मपरिचय का जो कवित्त पढ़ा था उससे उनके व्यक्तित्व और ऐश्वर्य का पता मिलता है :

भट्ट तिलंगाने को बुंदेलखंडवासी कवि,
सुजस प्रकासी 'पद्माकर' सुनाया हौं।
जोरत कवित्त छंद छप्पय अनेक भाँति,
संसकृत प्राकृत पढ़े जु गुनग्रामा हौं।।
हय रथ पालकी गयंद गृह ग्राम चारू,
आखर लगाय लेत लाखन की सामा हौं।।
मेरे जान मेरे तुम कान्ह हौ जगत सिंह,
तेरे जान तेरो वह विप्र हौं सुदामा हौं।।

पद्माकर बड़े राजसी ठाठ में रहते थे - यह बात तो इस कवित्त से झलकती ही है। ये जब जयपुर में रहते थे तो बड़े लाव-लश्कर के साथ सफर के लिए निकलते थे। एक बार जयपुर से बाँदा जाते समय उनके लाव-लश्कर को देखकर बूँदी वालों ने समझा कि कोई हमारे राजा पर चढ़ाई करने आ रहा है, तब इन्होंने उनका भ्रम दूर करने के लिए एक कवित्त बनाकर सुनाया -

नाम 'पद्माकर' डराऊ मत कोऊ भैया,
हम कविराज हैं प्रताप महराज के।

बहरहाल पद्माकर को विभिन्न राज-दरबारों में आश्रय मिला। कोई भौतिक कष्ट नहीं था, सारी सुख-सुविधाएँ उपलब्ध थीं। हाँ, चौथेपन में श्वेत कुष्ट अवश्य हो गया था। उनकी सारी कविता उनके जीवन के अनुकूल ही चलती रही। नव-यौवन में उन्होंने वीर रस को अपनाया, युवावस्था में शृंगार रस में डूबे और ढलती अवस्था में भक्ति की कविता की। किंतु साहित्येतिहास उन्हें शृंगारिक कविताओं के कारण ही स्मरण करता है।

पद्माकर का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ **'जगद्विनोद'** शृंगार का संदर्भ-ग्रंथ है, यद्यपि उसमें अन्य रसों के उदाहरण भी अंत में चलते ढंग से दे दिए गए हैं। कवि ने इसके आरंभ में ही घोषणा की है -

नवरस में शृंगार रस, सिरे कहत सब कोइ।
सुरस नायिका-नायकहि, आलंबित ह्वै होइ।।

इस प्रकार इसमें पद्माकर शृंगार रस और उसके प्रमुख अंग नायक-नायिक भेद का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

पद्माकर जयपुर के महाराजा जगत सिंह के दरबार में बहुत दिनों तक रहे और उन्हीं के नाम पर अपना प्रसिद्ध ग्रंथ **'जगद्विनोद'** रचा। उन्होंने इसमें हिंदी की चली आती हुई रीति परम्परा का पूर्ण अनुगमन किया है। संस्कृत में कार्य भेद से नायिकाओं के आठ रूप माने गए हैं, पर हिंदी में बहुत

पहले से अष्टनायिका के स्थान पर दशनायका का निरूपण होता आया है। यद्यपि इस आठ और दस में कोई बहुत बड़ा अंतर नहीं है। सात भेद तो वे ही हैं, केवल प्रोषितभर्तृका के ही तीन-चार भेद और कर डाले गए हैं। वस्तुत: नायक के प्रवास-प्रसंग को लेकर इन भेदों की कल्पना कर ली गई है - प्रोषितपतिका, प्रवत्सत्पतिका और आगतपतिका। इनमें से प्रवत्सत्पतिका को परंपरा में न देखकर अलग कर दिया है। बहरहाल पद्माकर ने नायिका-भेद के उदाहरण अधिकांश मौलिक रखे हैं। हाँ, **साहित्य-दर्पण** या प्राचीन संस्कृत-काव्यग्रंथों के चास-पाँच उदाहरण इन्होंने अनुवाद करके भी रखे हैं। पद्माकर ने उदाहरण बहुत साफ दिए हैं, इनके लक्षण भी बहुत साफ हैं। मतिराम का **रसराज** भी इसी शैली का और ऐसा ही साफ ग्रंथ है। खैर, पद्माकर के नायिका-भेद के संदर्भ में अद्भुत अभिव्यंजना शैली का दर्शन होता है। निम्नांकित छंद में नायिका कह तो रही है अपनी सखी से, पर सुना रही है अपने प्रियतम को ही। उसका क्रोध व्यंग्य है-

पीतम के संग ही उमगि उड़ि जैबे का।
न एता अंग-अंगनि परंद-पखियाँ दईं।
कहै 'पद्माकर' जे आरती उतारैं, चौंर
ढारैं, श्रम हारैं, पै न ऐसी सखियाँ दईं।।
देखि दृग ह्वै ही सों न नेकु हु अधैये,
इन ऐसे झुकाझुक में झपाक झखियाँ दईं।
कीजै कहा राम स्याम-आनन बिलोकिबे कों,
बिरचि बिरंचि न अनंत अखियाँ दईं।।

17.3 शृंगार वर्णन

रीतिकाव्य के पूर्व शृंगार की प्रमुखता प्राकृत-अपभ्रंश काव्य में मिलती है। प्राकृत-काव्यों में कविगण राज-दरबारों की सीमाओं को तोड़कर जन-समाज के भीतर तो घुसे, पर केवल शृंगार के ही फेर में रहने के कारण उसका स्वरूप बिगड़ने लगा। हाल-रचित प्राकृत रचना **गाथासप्तशती** में विपरीत रति आदि के वर्णन की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। रीतिकाव्य पर इस शृंगारिक काव्य-परंपरा का जबर्दस्त प्रभाव पड़ा है। इससे प्रभावित होकर केशव व बिहारी ने शृंगार का स्वरूप कहीं-कहीं ऐसा खींच दिया है, जिसे शृंगाराभास कहना चाहिए। कहीं-कहीं तो विरोधाभास भी हो गया है। बिहारी का एक दोहा देखिये -

बिहँसि बुलाई बिलोकि उत, प्रौढ़ तिया रस घूमि।
पुसकि पसीजति पूत को, पिय-चूम्यो मुख चूमि।।

नायिका बालक का मुख इसलिए चूमती है कि प्रियतम ने उसे चूमा है। यहाँ वात्सल्य भाव सर पर पाँव रखकर भाग गया है।

पद्माकर की शृंगार-भावना ऐसी स्थूल नहीं है। बिहारी की तरह शृंगार के गर्हित चित्रण की शर्त पर वात्सल्य प्रेम का तिरस्कार उनके यहाँ नहीं मिलता है। उन्होंने 'रति विपरीत' आदि के चित्र अवश्य किए हैं, पर यहाँ केवल नायिका-भेद के सिलसिले मे काव्य-परंपरा का पालन भर किया गया है। बहरहाल पुरानी लीक को भी अपनी विशेषता से पद्माकर ने कहीं-कहीं बहुत कोमल बना दिया है। जैसे विभ्रम भाव का यह उदाहरण देखिये -

बछरै खरी प्यावै गऊ तिहि को पद्माकर को मन लावत है।
तिय जानि गिरैया गही बनमाल सु ऐंचे लला इँच्यो छावत है।।
उलटी केरि दोहनी मोहनी की अँगुरी थन जानि कै दावत हैं।
दुहिबो औ दुहाइबो दोउन को सखि देखत ही बनि आवत है।।

17.3.1 संयोग वर्णन

शृंगार-वर्णन के संदर्भ में पद्माकर का ध्यान भाव-वर्णन की अपेक्षा वस्तु-वर्णन पर अधिक है। चित्रधर्मिता उनके काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है। वे बिहारी के बाद रीतिकाल के सबसे बड़े शब्द चित्रकार हैं। उनके द्वारा खींचे गए चित्रों में बिहारी की भाँति रंगों का इकहरापन नहीं, बल्कि एक

MAHI-01(N)/07(15A)

सफल चित्रकार की वर्ण विपुलता और सामंजस्य है। उदाहरण के लिए, नायिका का यह मनमोहक चित्र देखिये -

जाहिरै जागत-सी जमुना जब बूड़ बहै उमहै वह बेनी।
त्यों 'पद्माकर' हरि के हारन गंग-तरंगन को सुख देनी।।
पाँयन के रंग सों रँगि जाति-सी भाँति-ही-भाँति सरस्वती सेनी।
परै जहाँई जहाँ वह बाल तहाँ तहँ ताल में होत त्रिबेनी।।

कहीं-कहीं तो ऐसा लगता है कि पद्माकर के हाथ में सचमुच कलम नहीं, तूलिका ही थी, जो भावना के हर मोड़ को चित्रों में बाँधती चलती थी। ऊपर के सवैये में यदि रंगों का कुशल संयोजन है तो प्रस्तुत कवित्त अनुभाव योजना में बेजोड़ है -

आई खेलि होरी घरै नवल किसोरी कहुँ, बोरि गई रंग मों सुगंधन झकोरै है।
कहै 'पदमाकर' इकत चलि चौकी चढ़ि, हारन के बारन ते फंद-बंद छोरै है।
घाँघरे की घूमनि सुऊरून दुबीचे दाबि, आँगी हू उतारि सुकमारि मुख मोरै है।
दंतन अधर दानि दूनरि भई-सी चापि, चौवर-पचौवर कै चूनिर निचोरै है।।

नायिका होली खेल कर आई है, वह अपनी रंग-भरी चुनरी निचोड़ रही है। इसमें निचोड़ते समय के सभी अंगों के कार्य-व्यापार का उल्लेख किया गया है। मुख का मोड़ना, ओठों को दाँतों से दबाना, शरीर का धनुष की भाँति दोहर जाना और उरूओं के बीच वस्त्र को दबाना, वस्त्र को कई परत करके निचोड़ना आदि बहुत साफ है। गणिका का यह रूप-चित्रण देखिये -

आरस सों आरत सँभारत न सीस-पट,
गजन गुजारत गरीबन की धार पर।।
कहै 'पद्माकर' सुगंध सरसावै सुचि,
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर।।
छाजति छबीली छाति छहरि छरा को छोर,
भारे उठि आई केलि-मंदिर के द्वार पर।।
एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर।।

गणिका का स्वरूप इसमें बहुत साफ दिखाई पड़ता है। प्रात: काल वह द्वार पर एक हाथ रखे दूसरे में कमल का फूल लिए खड़ी है। कवित्त पढ़ने पर ऐसा जान पड़ता है मानो कवि ने कोई चित्र सामने रखकर यह पद्य रचा है। रीतिकाल के कवियों में बिहारी भी एक सधे हुए शब्द चित्रकार दृष्टिगत होते हैं। किंतु बिहारी के यहाँ रूप-सौंदर्य की छटा दिखाने के लिए जगह कम थी। दोहे के छोटे-से दायरे में वे रूप-सौंदर्य का चित्र खींचने का प्रयास तो बराबर करते रहे। इसमें इन्हें सफलता भी मिली, पर विस्तृत क्षेत्र न मिलने के कारण कहीं-कहीं चित्र वैसा नहीं बन पाया है, जैसा पद्माकर के यहाँ है। पद्माकर के यहाँ रूप-सौंदर्य के चित्रण के लिए स्थल संकोच नहीं था। उन्होंने सवैयों व कवित्तों का विस्तृत क्षेत्र लिया। इसलिए उनके चित्र बहुत साफ उतरे हैं। रीतिकाल के एक अन्य प्रमुख कवि घनानंद के यहाँ नारी के रूप का चित्रण करते हुए अंत:करण संवलित रूप-चित्रण पर ही दृष्टि रखी गई है। बिहारी के यहाँ अंत:करण कुछ गौण है, प्राय: बाह्य रूप ही प्रधान हो गया है। पद्माकर के यहाँ या तो अंत:कण और बाह्य रूप में समस्थिति है या शुद्ध बाह्य चित्रण है।

पद्माकर हास-विलासमय जीवन के कवि थे। इसलिए उनकी कविताओं में जीवन के उल्लास और माधुर्य-पक्ष की बड़ी मनोहारी व्यंजना हुई है। इस संदर्भ में यह सवैया देखें -

फागु की भीर अभीरन में गहि गोबिदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की 'पद्माकर' ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
छीनि पितम्बर कम्मर तें सुविदा दई मोड़ि कपोलनि रोरी।
नैन नचाइ कह्यो मुसकाइ लला फिरि आइयो खेलन होरी।।

यह सवैया अपने रस प्रवाह और भंगिमा वैशिष्ट्य के कारण काफी लोकप्रिय है।

पद्माकर की शृंगार-भावना उच्छृंखल या अनैतिक नहीं है। उन्होंने पति के गर्व का एक अच्छा छंद रचा है। पत्नी को पति नैहर नहीं जाने देता, यद्यपि वहाँ के लोग नायिका के लिए दुःखी हैं -

मो बिन माइ न खाइ कछू, 'पद्माकर' त्यों भई भाभी अचेत है।
बीरन आये लिबाइवे को तिनकी मृदुबानि हू मानि न लेत है।।
प्रीतम को समुझावति क्यों नहीं, ये सखी तू जु पै राखति हेत है।
और तो मोहि सबै सुख री, दुख री यहै माइके जान न देत है।।

पति-प्रेम की बेजोड़ व्यंजना इस सवैया से होती है। यहाँ वर्ण्य सामग्री साधारण जीवन से ली गई है। अधिकांश रीतिकवि साधारण जीवन में कम घुसे हैं। उनके लिए वर्णन-सामग्री राधा-माधव की प्रेम क्रीड़ा ही विशेष रही है। पद्माकर के यहाँ भी यह स्थिति दिखाई पड़ती है, किंतु इन्होंने अपनी वर्णन-सामग्री सामान्य जीवन से भी चुनी है। यहाँ पद्माकर ने सामान्य जीवन का वर्णन किया है, वहाँ अनोखापन आ गया है। रूप के गर्व की व्यंजना का यह उदाहरण देखिए -

है नहिं माइको मेरी भटू यह सासुरो है सबकी सहिबो करौ।
त्यों 'पद्माकर' पाइ सोहाग सदा सखियान हु को चाहिबो करौ।।
नेह भरी बतियाँ कहिकै नित सौतिन की छतियाँ दहिबो करौ।
चंदमुखी कहें होती दुखी तौ न कोऊ कहैगो सुखी रहिबो करौ।।

17.3.2 वियोग वर्णन

पद्माकर के शृंगार वर्णन की सबसे बड़ी सीमा यह है कि उनके यहाँ संयोग शृंगार का ही विशेष विस्तार है, विप्रलंभ का उतना नहीं। कलिदास मेंघदूत में कहते हैं वियोग-पक्ष में ही प्रेम का सच्चा स्वरूप प्रकट होता है, वह राशीभूत हो जाता है-

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति।

कालिदास की इस मान्यता पर गंभीरता से दृष्टिपात करने का अवकाश पद्माकर को नहीं था। इसलिए उनका वियोग वर्णन कहीं-कहीं ऊहात्मक भी हो गया है। जरा विरह की यह ज्वाला तो देखिये -

घन घमंड पावस-निसा, सरवर लग्यो सुखान।
परखि प्रानपति जानि गो, तज्यौ मानिनी मान।।

किंतु पद्माकर ने जहाँ रीतिकालीन लीक से हटकर वियोग का चित्रण किया है, वहाँ रसात्मकता और नवीनता आ गई है। मुग्धा के विरह का वर्णन देखिये -

माँगि सिख नौ दिन की न्यौते गे गोविंद,
प्रिय सौ दिन समान छिन मान अकुलावै है।
कहै 'पद्माकर' छपाकर छपाकर तें,
बदन-छपाकर मलीन मुरझावै है।।
बूझत जु कोऊ कै कहा री भयौ तोहिं,
तब और ही को और कछू बेदन बतावै है।
आँसू सकै मोचि न सँकोच-बस आलिन में,
उलही बिरह-बेलि दुलही दुरावै है।।
भरति उसासन, दृग भरति, करति गेह के काज।
पल-पल पर पीरी परति, परी लाज के राज।।

लाज के आधिक्य के कारण मुग्धा नायिका हृदय की बात किसी से कह नहीं सकती। घर का काम करते हुए वह एकांत में आहें भरती है। रो भी नहीं पाती, केवल आँखों में आँसू भरकर रह जाती है। अपनी व्यथा को छिपाने में वह प्रयत्नशील तो रहती है, किंतु देह का पीला पड़ना कैसे छिपाए। एकाध उदाहरण और देखिये -

या ही छिन वाही सों न मोहन मिलौगे जो पै,
लगनि लगाइ एती अगिनि अवाती-सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई ना बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया-बाती-सी।।

यहाँ श्लेष का चमत्कार अभिप्रेत है। किंतु वह भाव तक पहुँचाने में समर्थ है। प्रेमाधिक्य से वियोग के कारण जो विरहाधिक्य की व्यंजना है वह नायक को तत्पर करने में पूर्ण सहायक है।

प्रिय वियोग के कारण सुखद वस्तुएँ भी दुखद हो जाती हैं। पद्माकर ने भी वस्तुओं को दुखद रूप में लाक्षणिक ढंग से रखा है, पर सूधेपन के कारण बात हृदय पर आघात करती है -

ऊधो यह सूधो सो सँदेसो कहि दीजो भलो
हरि सों हमारे हयाँ न फूले बन-कुंज हैं।
किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की,
डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं।।

जिसे हम प्यार करते हैं, यदि उसका सान्निध्य हमें प्राप्त न हो तो हम उसके कुशल से ही अपने चित्त का संतोष कर लेते हैं। इस संदर्भ में यह छंद देखिये -

पाती लिखी सुमुखि सुजान पिय गोविदँ कों
श्रीयुत् सलोने स्याम सुखनि सने रहौ।।
कहै 'पद्माकर' तिहारी छेम छिन-छिन
चाहियतु, प्यारे मन-मुदित घने रहौं।।
बिनती इती है कै हमेस हू मुहै तौ निज,
पाइन की पूरी परिचारिका गने रहौ।।
याही में मगन मनमोहन हमारो मन,
लगनि लाइ लाल मगन बने रहौ।।

प्रिय से वियोग होने पर घर सूना हो जाता है, एक उदास परिवर्तन दिखाई पड़ता है। और, इस उदास परिवर्तन का कारण न ढूँढ सकने में एक प्रकार की तीव्र वेदना छिपी रहती है -

सुभ सीतल मंद सुगंध समीर कछू छल-छंद से ह्वै गये हैं।
'पद्माकर' चाँदनी चंद हू के कछू औरहि डौरन च्वै गये हैं।
मनमोहन सों बिछुरे इत ही बनि कै न अबै दिन ह्वै गये हैं।
सखि वे हम वे तुम बेई बने पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं।।

17.4 प्राकृतिक वर्णन

शृंगार के प्रकरण में उद्दीपन के रूप में पद्माकर ने षड्ऋतु वर्णन भी किया है। यहाँ प्रकृति साध्य नहीं, साधन बनकर आयी है। पद्माकर वस्तुत: मानव-सौंदर्य के चितेरे कलाकार थे, प्रकृति की सम्मोहकता पर रीझने वाले सहृदय नहीं। अत: उनका प्रकृति चित्रण अधिकतर वर्णनात्मक है, उसमें संश्लिष्ट दृश्य योजना का अभाव है। एक उदाहरण देखें -

कूलन में केलि में कहारन में कुंजन में क्यारिन में कलिन कलीन किलकंत हैं।
कहैं 'पद्माकर' परागन में पौन हू में पानन में पिक में पलासन पगंत हैं।
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में देखो दीप-दीपन में दीपत दिगंत हैं।
बीथिन में ब्रज में नवेलिन में बेलिन में बनन में बागन में बगरो बसंत हैं।।

यह कवित्त विशुद्ध नामपरिगणात्मक है। इससे यह तो मालूम होता है कि सर्वत्र वसंत छाया हुआ है, पर यह वसंत का कोई संश्लिष्ट चित्र नहीं उपस्थित करता। इसके विपरीत, निराला का वसंत-गीत 'सखि वसंत आया' - वसंत का एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करता है। इसमें 'नव वय लतिका', 'मधुप-वृन्द', 'पिक स्वर' या 'सरसी', 'सरसिज', 'केशर के केश', 'पृथ्वी के स्वर्ण शस्यांचल' आदि जिन उपादानों की चर्चा की गई है, वे ऊपर से भिन्न होते हुए भी अंत:सूत्रित हैं और उनके माध्यम से

वसंत की एक पूरी तस्वीर सामने आ जाती है। पर पद्माकर द्वारा वर्णित दृश्यों में ऐसा न तो कोई आंतरिक संबंध है, न तरतीब। यहाँ पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल का स्मरण अनुचित न होगा कि काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता, बिम्ब ग्रहण अपेक्षित होता है।

सारत: मानव-व्यापारों के चित्रण में पद्माकर की वृत्ति रमी है, किंतु प्रकृति-चित्रण मे इन्होंने एकदम मनोयोग नहीं दिया है। ऋतुओं के वर्णन में इन्होंने खेलवाड़-सा किया है। भाषा, भाव और बाह्य स्वरूप तीनों दृष्टियों से उसमें कोई विशेषता नहीं दीख पड़ती।

17.5 लोक जीवन का चित्रण

जैसा कि सर्वविदित है कि रीतिकाव्य में लोक जीवन के विभिन्न पक्ष सर्वथा उपेक्षित हैं। आश्रयजीवी कवियों के यहाँ यह स्वाभाविक ही था। पद्माकर भी इसके अपवाद नहीं हैं। फिर भी पद्माकर में लोक जीवन का सीमित अर्थों में चित्रण देखा जा सकता है। शृंगार वर्णन-के संदर्भ में हम इसे रेखांकित कर चुके हैं। पद्माकर के प्रशस्ति काव्य और भक्ति और भक्ति काव्य में भी लोक जीवन की अनुगूँज सुनी जा सकती है। पद्माकर के प्रसिद्ध प्रशस्ति-काव्य **'हिम्मतबहादुर विरूदावली'** में नोने अर्जुन सिंह और हिम्मतबहादुर के बीच हुए युद्ध का फड़कती भाषा मे वर्णन है। इसमें वर्णनात्मक स्थलों की प्रधानता है। प्रबंध काव्य की दृष्टि से इस ग्रंथ का भले कोई महत्व न हो, फिर भी इसमें तत्कालीन समाज की एक धुंधली-सी तस्वीर जरूर दिखाई पड़ती है।

अपने जीवन के संध्याकाल में पद्माकर का भी कुछ अन्य शृंगारिक कवियों की भाँति वैराग्य और भक्ति की ओर झुकाव हुआ। संभवत: इसका कारण स्वाभिमान को ठेस लगना और शारीरिक व्याधि थी। यह शृंगार के अतिरेक की प्रतिक्रिया भी हो सकती है। यद्यपि इस कोटि की रचनाओं में अनुभूति की सच्चाई पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। पद्माकर की भक्ति-विषयक कविता में भी संसार की जटिलताओं का ही चित्रण हुआ है। कहीं पेट की बेगार का निरूपण है, तो कहीं तृष्णा और वैर का वर्णन। उनकी भक्तिपरक रचनाओं में संसार की असारता के साथ ही संसार की भावनाएँ भी भीतर बैठी हुई हैं -

धोखा की धुजा है औ रूजा है महादोषन की,
मल की मँजूषी मोह-माया की निसानी है।
कहै 'पद्माकर' सु पानी-भरी खाल, ताके
खातिर खराब कत होत अभिमानी है।
राखे रघुराज के रहै तो रहै पानी,
न तौ जंगी जमराज ही के हाथनि बिकानी है।
जा ही लगि पानी तौ लौं देह सी दिखानी,
फेरि पानी गये खारिज परवाल ज्यों पुरानी है।।

इसमें 'पानी रहने' की भावना संसारी ही है।

पद्माकर की भक्ति भावना के केंद्र में कोई एक देवता नहीं है। लोक में जिन-जिन देवों की वंदना अथवा पूजा होती थी, उनके प्रति समभाव से वंदना की गई है। उनकी भक्ति-भावना असाम्प्रदायिक है। वे लौकिक दृष्टि से ही चलते थे। पद्माकर के भक्ति वैराग्यपरक ग्रंथ **'ईश्वर पचीसी', 'प्रबोध पचासा', 'गंगालहरी'** और **'रामरसायन'** में भक्ति भावनाएँ व्यक्त हुई हैं, किंतु इस क्रम में तत्कालीन लोक-जीवन के कष्ट भी चित्रित हुए हैं।

17.6 काव्य शिल्प

अब पद्माकर के काव्य शिल्प पर विचार करें। उन्होंने प्रबंधकाव्य और मुक्तक दोनों तरह की रचनाएँ की हैं। प्रबंध-काव्य के अंतर्गत **'हिम्मतबहादुर विरूदावली'** और **'प्रताप सिंह विरूदावली'** उल्लेखनीय हैं। किंतु प्रबंध-काव्य की दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं है, क्योंकि न तो इसमें संबंध सूत्र का उचित निर्वाह है, और न रसमय स्थलों की अच्छी पकड़ ही। पद्माकर प्रबंधकार कवि थे भी

नहीं। उनका यश तो मुक्तक रचनाओं पर ही अवलम्बित है। पद्माकर की शृंगारिक रचनाएँ मुक्तक शैली में हैं और ये रचनाएँ ही हमारे विवेचन का मुख्य विषय हैं। उन्होंने कवित्त, सवैये और दोहे रचे हैं। संस्कृत के 'अमरूक शतक' के अनुकरण पर पद्माकर ने रसात्मकता उत्पन्न करने के लिए कुछ छंद संवाद शैली में रचे हैं। ऐसे छंद अपेक्षाकृत स्वाभाविकता लिए हुए हैं -

बोलत न काहे ए री? पूछे बिन बोलौं कहा,
पूछति हौं कहा भई स्वेद-अधिकाई है?
कहै 'पद्माकर' सु मारग के गये-आये,
साँची कहु मो सों आज कहाँ गई-आई हैं?
गई-आई हौं तो पास साँवरे के, कौन काज?
तेरे लिये लयावन सु तेरियै दुहाई है।
काहे तें न ल्याई फिरि मोहन बिहारी जू कों?
कैसे वाहि ल्याऊँ? , जैसे वाको मन ल्याई है।

'मोहन बिहारी जू' में बड़ी सार्थक व्यंजना है। इन संवादों के अंतिम उत्तर में ही वास्तविक भाव प्रकट होने दिया गया है।

काव्य-शिल्प के संदर्भ मे पद्माकर की अलंकार-योजना भी विचारणीय है। उनकी अलंकार-योजना वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने और भाव की अनुभूति तीव्र कराने में सहायक है। उन्होंने प्राय: साम्यमूलक अलंकारों - उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का ही उपयोग किया है -

बिंदु घने मेहँदी के लसैं कर, ता पर यों रहयो आनन आई कै।
इंदु मनो अरविंद पै राजत इंद्रवधून के वृंद बिछाइ कै।।

सारूप्य और साधर्म्य दोनो विचार से यहाँ उत्प्रेक्षित उपमान ठीक पड़ते हैं।

पद्माकर ने भीषण उत्प्रेक्षाएँ नहीं की हैं। बेंदा के छटककर गिरने पर कवि की उत्प्रेक्षा देखें -

नीलमनि-जटिल सुबेंदा उच्च कुच पै, परयो है
टूटि ललित ललाट के मजेजे तें।
मानो गिन्यो हेमगिरि सृंग पै सुकेलि करि
कढ़ि कै कलंक कलनिधि के करजें तें।।

श्लेष और उपमा के सहारे विरह की व्यंजना में कहा गया है -

याही छिन वाही सों न मोहन मिलौगे जो पै,
लगनि लागइ एती अगिनि आबती-सी।
रावरी दुहाई तौ बुझाई न बुझैगी फेरि,
नेह-भरी नागरी की देह दिया बाती-सी।।

भावानुभूति तीव्र कराने वाले अलंकारों के अतिरिक्त पद्माकर ने शुद्ध चमत्कार उत्पन्न करने वाले अलंकार भी रचे हैं। पद्माकर की अलंकार-योजना के संदर्भ में **'पद्माभरण'** उल्लेखनीय है। यह है भी अलंकार ग्रंथ, जो महाराज जसवंत सिंह के **'भाषाभूषण'** की शैली में लिखा गया है। इसमें प्राय: एक ही दोहे में अलंकार के लक्षण और उदाहरण दोनों दिए गए हैं। पूर्वार्द्ध में लक्षण, उत्तरार्द्ध में उदाहरण। जैसे -

1. प्रतीप - **सो प्रतीप उपमान को जहँ कीजै उपमेय।**
मुख सो सोभित सरद-ससि-कमल सुलोचन सेय।।

2. मीलित - **सो मीलित सादृस्त तें भेद न जान्यो जाइ।**
अरून अधर में पीक की लीक न परति लखाई।।

इस खंड के लिए उपयोगी पुस्तकें

बिहारी, संपादक पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
बिहारी का नया मूल्यांकन, डॉ. बच्चन सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
घनानंद, डॉ. लल्लन राय, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली।
पद्माकर ग्रंथावली, संपादक पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।